

भगवान महावीर की 'पच्चीसवीं' निर्वाण
शताब्दी स्मारोह के
पावन उपलक्ष्य में

“आनंद प्रवचन”

प्रथम भाग

● प्रवचनकार ●

राष्ट्रसंत आचार्य सम्राट
श्री आनंदकृषि जी महाराज

● संप्रेरक ●

श्री कुन्दन कृषि

● संपादिका ●

कमला जैन 'जीजी'

● प्रकाशक ●

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
आचार्य श्री आनंद कृषिजी म. मार्ग
अहमदनगर.

आनंद प्रवचन : प्रथम भाग

◆ प्रकाशक :

श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, अहमदनगर. (महाराष्ट्र)

◆ प्रथम प्रकाशन :

फरवरी १९७२
वि. सं. २०२९, फाल्गुन.

◆ द्वितीय संस्करण :

फरवरी १९७७

◆ तृतीय संस्करण :

जुलाई १९९४

◆ पृष्ठ :

३४५

◆ मूल्य रत्न जैन पुस्तकालय ये सिर्फ
किम्मत ४५/-

◆ मुद्रण व्यवस्था :

श्रीमान् ईश्वर भंडारी के लिए

◆ अक्षर जुळणी :

कॉम्प्युटो-प्रिंटस्
लक्ष्मी सदन, जुना मंगळवार बाजार,
अहमदनगर, २९०५५

◆ मुद्रक :

स्वस्तिक ऑफसेट

१०१, केडगांव,
इंडस्ट्रीअल इस्टेट,
अहमदनगर.

प्रकाशकीय

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि आज हम श्रमणसंघ के आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के प्रक्रमन संग्रह को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

कई वर्षों से जनता की मांग थी कि आचार्य देव के प्रवचन प्रकाशित हों ताकि उनका लाभ केवल प्रवचन स्थल पर उपस्थित व्यक्ति ही नहीं, वरन् दूरस्थ व्यक्ति भी उठा सकें।

किन्तु आचार्य सम्राट की इस ओर उदासीनता होने के कारण यह कार्य नहीं हो सका। आपकी अधिक रुचि धार्मिक संस्थाओं के निर्माण और धार्मिक शिक्षा के प्रचार में रही। आपके सद्प्रयत्नों के फलस्वरूप ही पाथर्डी बोर्ड (अहमदनगर) की परीक्षाओं की व्यवस्था चालू है, जिसके द्वारा जैन समाज के अनेकानेक व्यक्तियों ने तथा विशेषकर संत व साधवियों ने लाभ उठाया है तथा धर्म-ग्रन्थों का व्यवस्थित अध्ययन किया है। साधु समाज के लिए परीक्षाओं की इस व्यवस्था का महत्व अवर्णनीय है।

प्राकृत भाषा के प्रचार में आपकी गहरी अभिरुचि रही है और इसीलिए उत्तराध्ययन सूत्र, तथा ज्ञातासूत्र आदि का अनुवाद आपकी प्रेरणा के कारण ही विद्वद्वर्य पं. श्री. शोभाचंद्रजी भारिल्ल के द्वारा किया गया। अनेकों चरित्र ग्रन्थ एवं उत्तम साहित्य का सृजन भी आपके प्रयत्न व प्रेरणा से हुआ।

किन्तु अब आपके सारगर्भित, जीवन साफल्य में सहायक एवं मर्मस्पर्शी प्रवचनों की मांग श्रद्धालु भक्तों की ओर से तीव्रतम होने के कारण इस वर्ष खुशालपुरा श्री संघ ने इस ओर कदम बढ़ाया तथा आशुलेखक श्री नौरत्नमल जी मेहता की नेहायता से प्रवचनों को लिपिबद्ध करवाकर अपनी प्रगाढ़ भक्ति का परिचय दिया।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरचन्द जी महाराज ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर पुस्तक पर महत्वपूर्ण प्रारम्भिक वचन लिखने की जो महती कृपा की है उसके लिए हम किन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करें।

पुस्तक का संपादन श्री कमला जैन 'जीजी' एम. ए. ने किया

है। प्रत्येक विषय को सुव्यवस्थित करने की अनूठी क्षमता और अपनी आकर्षक शैली के द्वारा प्रवचनों को रुचिकर और हृदयग्राही बनाने का आपका प्रयत्न अति सराहनीय है।

श्री 'अमर भारती' के सुप्रोफेसर सम्पादक श्री चन्द जी सुराणा 'सरस' ने पुस्तक के प्रकाशन का संपूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर इसे सर्वांगीण सौंदर्य प्रदान करने में जो प्रयत्न दिया है, इसके लिए संस्था आपकी आभारी है।

आशा है धर्म-प्रेमीबन्धु इन प्रवचनों को हृदयंगम करते हुए अपने जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करेंगे तथा इनसे अधिकाधिक लाभ उठावेंगे।

मंत्री

• • •

● तृतीय संस्करण ●

राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज साहब के प्रवचनों के प्रकाशन की श्रृंखला आगे बढ़ती रही और स्वल्प अवधि में ही १ से १२ भाग तक प्रकाशित हो गये।

ये प्रवचन अत्यन्त सरल, सारगर्भित और जनोपयोगी सिद्ध हुए हैं। प्रथम भाग की पुनः-पुनः माँग आने से यह तृतीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। आशा है पाठक इससे भी पूर्ववत् लाभ उठावेंगे।

मुद्रण कार्य को शुद्ध एवम् स्वच्छ कराने में श्री. ईश्वरलालजी भंडारी एवं उनके अन्य सहयोगियों को विस्मरण नहीं किया जा सकता। एतदर्थ संस्था के संचालक गण उनके हृदय से आभारी हैं।

मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म. मार्ग,
अहमदनगर.

• • •

प्रारम्भिक

अन्तर्मन की गहन-गूढ़ अनुभूतियों को व्यक्त करने का वाणी एक स्पष्ट, सरल एवं सहज साधन है। वाणी की उपलब्धि मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है। यदि वाणी न होती, तो मनुष्य की क्या स्थिति होती? क्या वह अन्य पशु-पक्षियों की तरह हो छटपटाता भीतर ही भीतर घुट नहीं जाता! मूक मनुष्य की अन्तर्वेदना की कल्पना से ही शायद हम सिहर उठेंगे। वाणी द्वारा मनुष्य अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति करके हृदय को हलका और प्रसन्न रख सकता है। अपने भावों को प्रकट कर वह आत्मसंतोष की सांस ले सकता है।

प्राचीन काल से ही वाणी को सरस्वती का रूप माना गया है। वैदिक ऋषियों की उक्ति है - “वाग्वा सरस्वती भिषग्” वाणी सरस्वती रूपा है, जीवन के विकारों को दूर करने के लिए वह कुशल चिकित्सक भी है। प्राचीन विचारक भी कहा करते थे - ‘कराग्रे वसते लक्ष्मी जिह्वाग्रे च सरस्वती’ - मानव के हाथों में लक्ष्मी का निवास है, और जिह्वा के लिए साक्षात् सरस्वती है, यदि कोई उसकी ग्रीक साधना कर पाए तो।

वाणी के द्वारा ही अतीत को वर्तमान में उपस्थित किया जा सकता है। हजारों लाखों वर्ष पूर्व हुए महापुरुषों के दिव्य जीवन का साक्षात्कार, आज हम उनकी वाणी में ही तो करते हैं। मानव के दैहिक जीवन से वाणी की आयु लम्बी, बहुत लम्बी होती है। और भविष्य, वह भी तो भविष्य द्रष्टाओं की वाणी में ही मुखरित होती है। वर्तमान भी वाणी के माध्यम से ही सुदूर भविष्य तक सुरक्षित रह सकता है। वाणी त्रिकाल को स्पर्श करती है, अतीत और अनागत का तो मिलनकेन्द्र होने के नाते वाणी एक सुहृद सेतु है।

संसार की समस्त ऋद्धि-सिद्धि और समृद्धि में वाणी एक अद्भुत उपलब्धि मानी गयी है। वाणी से उद्भूत एक सुवचन-सुभाषित संसार के समस्त रत्नों से भी अधिक मूल्यवान् होता है। वास्तव में तो सुभाषित ही सच्चा रत्न है। प्राचीन आचार्यों ने कहा है -

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम् ।

मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्न संज्ञा विधीयते ॥

पृथ्वी में असली रत्न तो तीन ही हैं - जल, अन्न एवं सुभाषित । बाकी रत्न तो पत्थर के टुकड़े हैं । जल और अन्न फिर भी सीमित मूल्य रखते हैं । जड़ शरीर की भूख-प्यास बुझाते तो हैं, किन्तु क्षणिक ही । वाणी अन्तर्मन की क्षुधा एवं तृष्णा को शान्त करती है, सदा सर्वदा के लिए । एक नन्हा सा दो चार शब्दों का सुभाषित भी जीवन में आमूल चूल परिवर्तन ला सकता है, मन को नया मोड़ दे सकता है और अन्धकार में ठोकरे खाते मानव के लिए प्रकाश की राखर किरण बन सकता है ।

प्रस्तुत पुस्तक - 'आनन्द शवचन' में श्रद्धेय महामहिम आचार्यदेव श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के ऐसे ही धीर-गम्भीर वचनों का सुन्दर प्रवाह - 'प्रवचन' के रूप में प्रस्तुत हुआ है । वे आकृति से भी महासागर की तरह प्रशांत-काँत प्रतीत होते हैं, और प्रकृति से भी । श्रद्धालु श्रोताओं को उनके मन की निर्मलता, सरलता, सौम्यता और भद्रता, उनकी वाणी में पद-पद पर प्रस्फुटित होती परितक्षित होगी । उनके अन्तर में वैराग्य की जो पावन-धारा प्रवाहित हो रही है, वाणी में उसका शीतल स्पर्श सहज अनुभव किया जा सकता है । ऐसा इन प्रवचनों के सहृदय पाठकों को भी अनुभव होगा ।

यद्यपि कुछ अन्य प्रवक्ताओं की भांति उनके प्रवचनों में तूफानी जोश और उत्तेजक शब्दावलियाँ नहीं मिलेंगी, पर उनका प्रभाव तो क्षणिक होता है । आचार्य श्री के प्रवचनों में एक विशेष धीरता, गम्भीरता, वाणी की समरसता व विचारों की स्थिरता है - जो श्रोता पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ती है । झंझानिल के साक्ष होने वाली तूफानी वर्षा की अपेक्षा रिम-झिम की वर्षा कहीं अधिक सुखद एवं लाभप्रद होती है, उपज की दृष्टि से । प्रस्तुत संग्रह के कुछ प्रवचन तो ठीक इसी कोटि के हैं, बहुत ही उपयोगी, बहुत ही मार्मिक !

आचार्य श्री श्रोता के सामने खुले मन के साथ स्पष्ट रूप से उपस्थित होते हैं, अतः एव जो कुछ कहना चाहते हैं वह सहजभाव से कह जाते हैं । वाणी का बनाव शृंगार और भावों का दुराव-छिपाव उनके प्रवचनों में नहीं मिलेगा, जो कुछ है वह सरल और सहज है । लगता है आचार्य श्री जिह्वा से नहीं, हृदय से बोलते हैं । इसलिए उनकी वाणी मन पर सीधा असर करती है । भाव, विशेषतः सहजभाव ही वाणी का अन्तःप्राण है । वही प्रभावोत्पादक है । भावशून्य वाणी प्रभाव पैदा नहीं कर सकती । आचार्य श्री की वाणी में भाव है, इसलिए उसका प्रभाव भी पाठक के मन को निश्चित ही प्रभावित करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

आचार्य श्री के विचारों का प्रवचन रूप में शायद यह प्रथम ही संग्रह है। किन्तु प्रथम संग्रह भी सभी दृष्टियों से सुन्दर बन पड़ा है। इसके मूल में आचार्य श्री के अनन्यतम सेवाभावी श्री कुन्दनऋषि जी की प्रेरणा व भावना का भी स्पष्ट पुट है। उनकी लगन और प्रयत्न से ही आचार्य श्री के इस विचार शरीर को साहित्य का स्थायी एवं दिव्य परिवेश प्रदान किया गया है, जिसकी कि बहुत समय से अपेक्षा थी। धर्मशीला बहन कमला 'जीजी' ने इनका सुन्दर सम्पादन किया है। कुल मिलाकर 'आनन्द प्रवचन' मन को स्थायी आनंद प्रदान करने में सक्षम होगा, इसी आशा के साथ.....।

- उपाध्याय अमरमुनि

११-२-७२

आगरा

• • •

आभार -- दर्शन

श्रेष्ठ आचार्य श्रीजीके प्रवचन साहित्य को व्यवस्थित रूप देकर जन-जन तक पहुँचाने के लिये अनेक उदात्तचेता धर्मात्मी महानुभावोंने संस्था को आर्थिक सहयोग प्रदान कर उत्साह वर्धन किया है। इस प्रकाशन में सहयोग दाता महानुभावोंकी शुभ नामावली प्रकाशित की जा रही है। आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग बल प्राप्त होता रहेगा।

११००१) श्रीमती शांताबाई बाबूलालजी रेदमणी	जळगांव
११०००) श्रीमान् सुभाषचंदजी चंदूमलजी ठालेरा	पूना
११०००) श्रीमती बदामबाई प्रेमराजजी मुथ।	अहमदनगर
५०००) श्रीमान् तेजराजजी रुपराजजी बां	इचलकरंजी
५००० स्व. श्री. पनालालजी रांका के स्मरणार्थ श्रीमान कांतीलालजी, शांतीलालजी, नथमलजी, चांदमलजी एवम् रमेशजी रांका	कोल्हार भगवती
२१००) श्रीमान् आनंदकुमार सुशीलकुमारजी ओस्तवाल	बडनेरा
२००७) श्रीमती मांगीबाई मोतीलालजी बप्रडिया	खाचरोद
१५००) श्रीमान् धरमचंदजी रंगलालजी शं-श्रीमाळ	दारव्हा
१०१५) मे. गिरिश ट्रेडिंग कार्पोरेशन	इचलकरंजी
१००१) श्रीमान् महावीर भेरूमलजी नहाण	पूना
१००१) श्रीमान् शुभकरणजी नथमलजी खेवसरा	अमरावती
५०१) श्रीमान् सतीशकुमारजी जैन	शुजालपुरसीटी
५०१) श्रीमती आनंदीबाई जैन	शाजापुर
५०१) सौ. संध्याबाई राजेन्द्रकुमारजी डागा	हिमणघाट
५००) श्रीमान् पनालालजी महावीरचंदजी ओस्तवाल	माजलगांव

अपनी बात

दीर्घदृष्टि से देखा जाय तो इस विराट जीव जगत में हमें दो ही प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं - ज्ञानी और अज्ञानी। ज्ञानी वे हैं जो अपने विचार और विवेक से यह समझ लेते हैं कि आत्मा अनश्वर है तथा वर्तमान जीवन आत्मा की एक अवस्था मात्र होने के कारण अल्पकाल पर्यंत ही रहता है। जब तक आत्मा अपनी विशुद्ध स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक जन्म-मरण से मुक्ति नहीं मिलती। ऐसा विचार कर ज्ञानी मनुष्य से विमुख हो जाते हैं तथा आत्म-उत्थान के प्रयत्न में लग जाते हैं।

अज्ञानी पुरुष इनसे विपरीत होते हैं। उन्हें आत्मा-अनात्मा, पुण्य-पाप तथा इहलोक और परलोक पर विश्वास नहीं होता, इनका ज्ञान नहीं होता। परिणाम स्वरूप वे अल्पकालीन भौतिक उपलब्धियों के लिए स्वार्थान्ध होकर निजत्व को खो बैठते हैं तथा सर्वज्ञ भगवान द्वारा उपदिष्ट आगमों पर अश्रद्धा रखते हुए धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करने लगते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने विषाक्त विचारों से जनता को भी गुमराह करने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु इस समय सृष्टि में सभी मनुष्य एक सी विचारधारा रखने वाले बन जायें यह सम्भव नहीं है। इस भूतल पर अनेक अलौकिक शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। और वे भव्य आत्माएँ जीवन पर्यंत अपने और जगत्राण के प्रयत्न में लगी रहती हैं।

ऐसे ही युग-पुरुष, श्रमण ग्रंथ के सिरमौर आचार्य सम्राट श्री आनंद ऋषि जी महाराज इस जगतीलल पर अवतारित हुए हैं। जिनकी अमूल्य प्रवचनावलि आज आपके सन्मुख है। प्रारम्भिक जीवन से ही कठोर संयम-साधना के फलस्वरूप आपने अत्रुलनीय महत्ता और श्रमण संघ का सर्वोच्च भार प्राप्त किया है तथा संसार के अज्ञानान्धकार को नष्ट करने के लिए प्रकाश-स्तंभ सिद्ध हुए हैं। आपका तपोमय और चास्त्रिमय जीवन तो प्राणियों को मूक उपदेश देता ही है, साथ ही विभिन्न समस्याओं को सुलझाने में भी आपकी ओजस्वी एवं प्रभावशाली वाणी पूर्ण समर्थ है। आपने जिन-शासन की जो अविस्मरणीय सेवाएँ की हैं, उनका उल्लेख जैन

इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित होता चला आ रहा है और होता चला जाएगा ।

आपकी उच्चतर साधना, भव्य व्यक्तित्व एवं आकर्षक सौजन्य आपके चारुचरित्र के द्योतक हैं । अगाल वृद्ध सभी आपके वात्सल्य का समान रूप से अनुभव करते हैं आपका सदा यही प्रयत्न रहा है कि हमारी नई पीढ़ी के बालक उत्तम संस्कार और उत्तम शिक्षा के धनी बनें तथा सामाजिक कुरीतियों को नष्ट कर सके ।

मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आप जैसी महान विभूति के प्रवचनों के संपादन का गुरुतर भार प्राप्त हुआ है । यद्यपि मैंने संपादन कार्य में पूर्ण सावधानी बरती है, फिर भी अगर कहीं कोई त्रुटियाँ रह गई हों तो आशा है आप उदारतापूर्वक क्षमा करते हुए उन्हें सुधार कर पढ़ेंगे ।

मैं प्रकाण्ड पंडिता महासती श्री उमरावकुँवरजी महाराज 'अर्चना' का सर्वान्तःकरण से आभार मानती हूँ, जिन्होंने अपने प्रवचनों का संपादन कार्य स्थगित करवाकर मुझे आचार्य श्री जी के प्रवचनों का संपादन करने की प्रेरणा प्रदान की तथा समय-समय पर मेरी कठिनाइयों को दूर करते हुए समुचित निर्देशन दिया ।

अपने पिताजी पं. श्री शोभाचंद्र जी भारिल्ल की भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पूर्व के समान ही इस बार भी मेरा उत्साह और साहस बढ़ाते हुए मार्ग-दर्शन किया ।

आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक से पाठकों को लाभ होगा तभी मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगी ।

- कमला जैन, 'जीजी'
एम.ए.



आनंद प्रवचन

प्रथम भाग

• अनुक्रमणिका •

१	मंगलमय धर्म दीप	१
२	प्रार्थना के इन स्वरों में.....	१४
३	तिन्नाणं तारियाणं	२५
४	नहिं ऐसो जन्म बार-बार .	४०
५	कषाय विजय	५२
६	ऐसे पुत्र से क्या.....?	६२
७	लेखा जोखा	७४
८	बहुपुण्य केरा पुत्रज थी.....	८४
९	कस्मगति टारी नौहि टरे	९५
१०	जाणो पेले रे पार	११०
११	यादृशी भावना यस्य	१२८
१२	कटुकवचन मत बोल रे	१३९
१३	सही सयानो काम !	१४९
१४	अनमोल सांसे	१६१
१५	जब थांरी गाड़ी हँकबा में	१७३
१६	भावना और भक्ति	१८९
१७	रक्षाबंधन का रहस्य	१९७
१८	अमरता की ओर !	२०६
१९	मानव जीवन की महत्ता	२२२
२०	बलिहारी गुरु आपकी	२३४
२१	अमरत्व प्रदायिनी अनुकंपा	२४४
२२	दुर्गति नाशक दान	२५५
२३	गुणानुराग मुक्ति का मार्ग है	२६९
२४	सर्वस्य लोचनं शास्त्रं	२८२
२५	जन्माष्टमी से शिक्षा लो !	२९३
२६	धर्म का रहस्य	३०५
२७	सुनहरा शैशव	३१६
२८	नेकी कर कूँ मैं डाल !	३२३

[१]

मंगलमय धर्म-दीप

धर्म प्रेमी बंधुओं! माताओं एवं बहनों!

धर्म जीवनके लिये मार्ग-दर्शक दीपक के समान है। धर्म-दीप की सहायता से ही मानव अपने वास्तविक कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो सकता है। जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशित होता है तथा अन्य समस्त पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार विवेकवान् व्यक्ति धर्म का अनुग्राही बनकर अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाता है तथा औरों का भी पथ-प्रदर्शक बनता है। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में धर्म की ज्योति नहीं जलती, उसका समस्त आचार-विचार और क्रिया-कलाप निरर्थक साबित होता है। तथा वह आत्म-भ्रष्ट के मार्ग पर एक कदम भी नहीं बढ़ पाता। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार घानी चलानेवाला बैल सारे दिन चलकर भी वहीं का वहीं रहता है।

आज का विलक्षण युग

दुःख की बात है कि आज के युग में धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। मानव भूल गया है कि हमारा भारतवर्ष धर्म-प्रधान होने के कारण ही एक महान् देश कहलाता आ रहा है। अगर मानवीय संस्कृति के इतिहास को उल्टा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि जब संसार के अन्य समस्त देश और समस्त जातियाँ असभ्य और असंस्कृत दशा में पशुधों के समान अपना जीवन-यापन कर रही थी, उस काल में भी भारतवर्ष धर्म एवं संस्कृति के उच्च शिखर पर था।

इस युग के आदिकाल में भगवान् ऋषभदेव ने जैनधर्म की स्थापना की तथा उनके द्वारा संस्थापित जैनधर्म की गरिमा का भगवान् महावीर ने संवर्धन किया। उसके पश्चात् भी भगवान् के शिष्यों ने इस देश में भ्रमण करते हुए इसके एक छोर से दूसरे छोर तक धर्म का प्रसार व प्रचार किया। तथा समग्र संसार पर धर्म की तथा इस धर्म-प्रधान भारत की महत्ता अंकित की।

किन्तु आज के इस विलक्षण युग में पश्चात्य देशों का शासन और प्रभाव होने के कारण हमारे देशवासियों में भी उन्हीं के जैसे विचार घर कर गए। पश्चिम में धर्म का स्थान अत्यन्त गौण है। वहाँ पर धर्म को जीवन का प्रधान और महत्वपूर्ण अंग नहीं माना जाता। इसलिए आज हमारे यहाँ भी धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। इतना ही नहीं, अनेक व्यक्ति तो इसे पारस्परिक कलक का मूल कारण कहकर इसका बहिष्कार करने का उपदेश देने से भी नहीं चूकते।

इसका कारण मानव की धर्म-सम्बन्धी अनभिज्ञता ही है। वे नहीं जानते कि धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? केवल बाह्य क्रिया-कौंडों को धर्म समझ लेना तथा उनके कारण विभिन्न धर्म-विलम्बियों को आपस में झगड़ते देखकर धर्म के नाम का ही त्याग कर देना उनकी बड़ी भारी भूल है। हमारी नई पीढ़ी के युवकों का यही हाल है। वे स्वयं तो धर्म को समझने तथा उसके सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं करते केवल दूर से ही धर्म के नाम पर होने वाले मतभेदों और कलहों को देखते हैं तथा 'धर्म' नाम का त्याग करने में अपनी बुद्धिमानी मानते हैं। ऐसे नादान प्राणियों को ही मुझे धर्म का सग्न स्वरूप संक्षेप में बताना है।

धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है?

जैन-शास्त्र धर्म का जो स्वरूप प्रणिपादिक करते हैं वह इतना सरल, उदार, सार्व और सुन्दर है कि प्रत्येक मानव उन्नी सहज भाव से ग्रहण कर सकता है। धर्म का वह स्वरूप प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक मानव के लिए समान रूप से उपादेय है। दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ में ही कहा गया है—

धम्मो मंगलमुक्खिट्ठं, अहिंसा सज्जमो तवो।
देवा वि तं नमसंति, जस्स धम्मो भया मणो॥

जो उत्कृष्ट मंगलमय है वही धर्म है। प्रश्न उठता है कि प्राणी के लिये मंगलमय क्या हो सकता है? मंगलमय का अर्थ है — जो आत्मा की बुराइयों और पापों को नष्ट करे तथा सुख एवं शान्ति प्रदान करे। धर्म यही करता है, और इसलिए वह मंगलमय है। दूसरे शब्दों में जो प्राणी मात्र के लिए है, उसी का नाम धर्म है।

आगे कहा जा सकता है कि ऐसे कौन से विधि-विधान हैं, जिनके द्वारा सबका 'मंगल' हो सकता है? शास्त्र में इसी का उत्तर है - अहिंसा, संयम और तप की आराधना करने से मानव का मंगल होता है तथा उसकी आत्मा का कल्याण हो सकता है। इतना ही नहीं, ऐसे धर्म को झारण करनेवाले को देवता भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसा परमो धर्म :

महाभारत में कहा गया है कि अहिंसा ही सर्वोत्तम धर्म है। वैसे भी अहिंसा के महत्व को कौन नहीं समझता और कौन नहीं अनुभव करता कि आज विश्व को अहिंसा रूपी धर्म की कितनी आवश्यकता है? आज संसार भीषण महायुद्धों से तथा आपसी मार-काट से त्रस्त हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार जगत में शान्ति का वातावरण स्थापित हो जाए। किन्तु वह शान्ति क्या हिंसा से मिल सकती है? नहीं, अहिंसा के द्वारा ही संसार में शान्ति की स्थापना हो सकती है। और इस प्रकार हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की शक्ति अधिक शक्तिशाली

साबित होती है।

अहिंसा रूपी दिव्यास्त्र के द्वारा ही भारत ने सैकड़ों वर्षों की दासता के बंधन को काटा और आज भी भारत अपनी अहिंसक नीति पर चल रहा है। हिंसा कभी भी और कहीं भी उत्तम फल प्रदान नहीं कर सकती। कहा भी है -

“प्रसूते सत्त्वानां तदापि न वधः क्वापि सुकृतम्।”

प्राणियों की हिंसा कभी और कहीं पर भी पुण्य को उत्पन्न करने वाली नहीं होती। यह तो एकान्त रूप से जघन्यतम पाप ही है।

इसलिए प्रत्येक प्राणि को हिंसा की भावना का परित्याग करके करुणा और दया की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए। दयावान पुरुष दूसरों को सुख पहुँचाता है तथा स्वयं भी सन्तोष और सुख का अनुभव करता है। [महाकवि शेक्सपियर ने भी कहा है -

Mercy is twice blessed, it blesseth him that gives, and him that takes.

दया दोतरफ़ी कृपा है। इसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी।]

वास्तव में ही दया मानवता का सर्वोच्च लक्षण है, जिसे धारण करनेवाला व्यक्ति परम शांति का अनुभव करता है। दयालु व्यक्ति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' सिद्धांत को अपना लेता है तथा कबीर के शब्दों में कहता है -

दया कौन पर कीजिये, का प्य निर्दय होय।

साँई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय॥

अर्थात् - किस पर दया करें और किस पर न करें। छोटी सी चींटी से लेकर विशालकाय हाथी जैसे सभी प्राणी तो एक ही परमात्मा के अंश हैं।

महापुरुष ऐसे ही समदर्शी होते हैं। उन्हें प्रत्येक प्राणी की आत्मा में परमात्मा दिखाई देता है। कहते हैं कि एक बार संत नामदेव अपने लिए खाना बना रहे थे। मोका पाकर एक कुत्ता उनकी बनाई हुई रोटियाँ ले भागा। यह देखते ही नामदेव हाथ में घी की कटोरी लेकर यह कहता हुआ दौड़े - “भगवन्! रोटियाँ रूखी हैं। कृपया घी लगा देने दीजिए। फिर भोग लगाइए।”

प्रत्येक आत्मा में परमात्मा को देखने वाले ऐसे महापुरुष ही धर्म के सच्चे स्वरूप समझते हैं तथा अहिंसा धर्म की आखण्डता कर सकते हैं।

संयम

धर्म का दूसरा स्वरूप संयम है। संयम का अर्थ है - नियंत्रण। अपने मन को वश में रखना तथा अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना ही संयम कहलाता है। कोई भी व्यक्ति या देश जब अपनी आवश्यकताओं को सीमा

से अधिक बढ़ा लेता है तथा अपनी कामनाओं पर नियंत्रण न रख सकने के कारण दूसरों का हक छीनने पर आमादा होता है तो हिंसा का जन्म होता है। इसलिए अहिंसा का पालन करने के लिए संयम की अनिवार्य आवश्यकता है।

आज के युग में मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ अत्यन्त दूषित हो गई हैं। जिसे देखो वही नीति-अनीति या पाप-पुण्य की प्रवाह किए बिना धन संग्रह करने में जुटा हुआ है। कहा भी है -

तृषणावश है जगजीव संभी, हित राज अकाज कछू न विचारे।
धन सहख हुये तो चहे लख कोटि, असंख्य अनंत हि चाह प्रसारे॥
जिमि ईधन डारत वहि बढे, तिमही तृषणा धन चाह वधारे।
चित्त धारत ज्ञान संतोष अमीरिख जो जियके सब काज सुधारे॥

धन एवं भोग-विलास के साधनों का इच्छुक व्यक्ति अपनी आत्मा को सर्वथा भुला बैठता है। उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और कामनाएँ केवल सांसारिक पदार्थों तक ही सीमित होती हैं तथा उसका समस्त प्रयत्न इन्हीं वस्तुओं के लिये होता है। वह इस पछिह की बदौलत सुख पाना चाहता है किन्तु परिणाम उलटा ही निकलता है।

जब तक मानव धन-संपत्ति में आसक्त होकर उससे सुख पाने की आशा करता है, तब तक शांति का अनुभव नहीं कर पाता। उल्टे तृष्णा की आग में जलता रहता है। धन का लोभ और लालच मनुष्य को कभी भी आत्मिक और सच्चे सुख का अनुभव नहीं होने देता। तभी तो कहा गया है -

“Gold is worse poison to men's souls than any mortal drug.”

शेक्सपियर

- सब प्रकार के विषैले पदार्थों में, मनुष्य की आत्मा के लिये, धन महामयंकर विष है।

वास्तव में ही धन मानव के लिए महान् दुःखों का कारण बनता है। इसके लालच में आकर वह झूठ बोलता है, चोरी करता है तथा हत्या जैसे महापाप से भी नहीं बच पाता। वह नाना प्रकार की यातनाएँ सहकर तथा गरीबों का शोषण करके भी धनवान बनना चाहता है, क्योंकि उसे संसार के सारे सुखों का खजाना धन में ही दिखाई देता है।

किन्तु बंधुओ! क्या धन से मनुष्य की आत्मा को भी तृप्ति, शांति और निराकुलता प्राप्त हुई है? धन के द्वारा सुख की आकांक्षा, करना क्या मृत्यु के समान ही नहीं है? अगर ऐसा न होता तो सिन्धुदर महान् मृत्यु के समय अपने समस्त धन का अम्बार लगाकर उस पर अश्रुपात करता हुआ क्यों कहता — “हाय, इसी सम्पत्ति के लिये मैंने जीवन भर भयंकर संग्राम किये, लाखों माताओं को पुत्रहीन बनाया, सौभाग्यवती नारियों का गृहाग लूटा, पर अन्त में यह मेरे साथ

नहीं चल सकी।”

सिकन्दर की अन्तिम आज्ञा यही थी कि मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखना, ताकि मेरी शव यात्रा में साथ छूने वाले सब लोग जान लें की मैं खाली हाथ जा रहा हूँ और मेरे समान ही मूर्खता वे न करें।

कितना मर्मस्पर्शी उदाहरण है? वास्तव में ही धन कितना भी क्यों न इकट्ठा कर लिया जाय, छः खण्ड का प्रज्य भी क्यों न मिल जाय, उससे मानव की आत्मा शांति का अनुभव नहीं कर सकती। सुख का वास्तविक और अक्षयकोष तो आत्मा में ही है और समस्त धन-लिप्सा का त्याग करके आत्मा में स्मरण करने पर ही वह प्राप्त हो सकता है।

कहने हैं कि एक बार कोई फक्कड़ सन्त मार्ग पर चल रहे थे। सामने से एक बादशाह अपनी सेना के साथ गुजरने लगे।

सन्त को देखकर बादशाह ने उन्हें प्रणाम किया तो सहज ही सन्त ने पूछा — “कहाँ जा रहे हो?”

हिन्दुस्तान को जितने।” बादशाह ने उत्तर दिया।

“अच्छा, हिन्दुस्तान को जीतने के बाद फिर क्या करोगे?”

बादशाह ने कई देशों के नाम गिना गेड़े कि उन्हें भी जीतूँगा।

“उसके बाद?” सन्त मुस्कराते हुए बोले।

“उसके बाद और भी अनेक देश जीतकर सारी पृथ्वी का बादशाह बनूँगा। मैं सिकन्दर हूँ, यूनान का बादशाह।”

“ओह, तो बादशाह सिकन्दर, तुम सारी पृथ्वी के मालिक बनकर फिर क्या करोगे?”

“कुछ नहीं, फिर तो मैं शांति धारण कर लूँगा।”

“तो माई!, इतनी परेशानियों और मुसीबतों के बाद धारण करने वाली शांति को अभी ही क्यों नही अपना लें?” कहते हुए सन्त तो अपने रास्ते पर चल दिये तो सिकन्दर ने उसकी बात नहीं मानी और अन्त में जैसाकि मैंने अभी बताया था, उसे महान् पश्चाताप करना पड़ा।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि मानव तभी शान्ति का अनुभव कर सकता है, जबकि वह समस्त बाह्य पदार्थों के प्रति रही हुई अपनी आसक्ति और कामनाओं का त्याग कर दे। तथा यह विचार करे कि मुझे मनुष्य जन्म किसलिये मिला है? इस जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए? तथा इस लक्ष्य की पूर्ति किन साधनों से हो सकती है?

आज के इस वैज्ञानिक युग में नाना प्रकार के असंख्य आविष्कार हुए हैं,

जिनके कारण मानव की भोग-लिप्सा को अतीव प्रश्रय मिला है और वह उनके उपयोग में लीन होकर अपनी पुरातन संस्कृति और विचार धारा को भूल गया है। उसे यह भी ध्यान नहीं है कि आध्यात्मिक भांग्ला का परित्याग करके कोरी भौतिकता के पीछे पड़े रहने से जीवन कितना असात्विक, असंयमित और अपवित्र बन जाता है।

संयम जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य है, जिसके अभाव में बाह्य सौन्दर्य कितना भी बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, फीका और निस्साह मालूम देता है। जो व्यक्ति आत्मिक सौन्दर्य का महत्त्व समझ लेता है वह संयम और नियम से अपने मन को आबद्ध करता है। उसके जीव का एक-एक कण संयम की ज्योति से जगमगाता रहता है।

संयम का अर्थ है — आत्मनिग्रह करना। मन, वचन, और शरीर पर नियन्त्रण रखना तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। अपने आपको इस प्रकार नियन्त्रण में रखने वाला भव्य प्राणी ही अपनी आत्मिकशक्ति को जगा सकता है। भगवान् महावीर ने भी संसार — सागर में गोते जगाने वाले प्राणियों को यही उपदेश दिया है :-

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुदमो।

अप्पा दन्तो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य॥

अपनी आत्मा का, अपने मन, इन्द्रिय और वाणी का दमन करना चाहिए। वास्तव में अपने आपका दमन करना दुःश्रम्य है। जो अपने आपका दमन कर लेता है, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।

आज मानव के जीवन में संयम का अभाव है। उसका जीवन पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध में पड़कर विलासिता में बहता है। इन्द्रियों की दासता में जकड़ गया है तथा भोगों के चक्कर में फँसकर आत्म-भान को भूल बैठा है। संक्षेप में अपने मन पर काबू न रख पाने के कारण वह आत्मोन्नति की बजाय आत्म-अवनति के मार्ग पर चल पड़ा है। इसी का परिणाम है कि उसके जीवन से शान्ति का लोप हो गया है और अशान्ति की भूल-भूलैया में भटक रहा है। उसका मन सुख और शान्ति की आकांक्षा करता हुआ भी उर्ज पा नहीं रहा है।

सत्य तो यह है कि जीवन को उग्र, पवित्र समतामय, एवं सुखमय बनाने के लिये इन्द्रियों को वश में करना अनिवार्य है। किन्तु इन्द्रियों का स्वामी मन है और जब तक मन वश में नहीं हो जाता, इन्द्रियों वश में नहीं हो पाती तथा आत्म-संयम के द्वारा आत्मिक-सुख पाने के कामना गूलर का फूल बन कर रह जाती है। इसीलिये हमारे शास्त्र में कहा जाता है —

एणे जिए जिआ पंच, पंच जिए जिआ दस।

दसहा उ जिगित्ताणं सब्बसत्तु जिणम्महं॥

एक — (मन) को जीत लेने पर पाँच (इन्द्रियों) को जीत लिया जाता है और पाँच को जीत लेने पर अर्थात् एक मन, पाँच इन्द्रियों और चार कषाय — ये सभी जीत लिए जाते हैं। इन रत्नों को जिसने जीत लिया, उसने सभी आत्मिक शत्रुओं को जीत लिया।

जो भव्य जीव भगवान के इस आदेश को सुनकर सचेत हो जाते हैं, वे ही जीवन के रहस्य को समझकर अज्ञा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करते हैं तथा सांसारिक पदार्थों की नश्वरता और सांसारिक सम्बन्धों की विच्छिन्नता को समझते हैं। उन्हीं व्यक्तियों का चित्त निर्मल, भावना शुद्ध और क्रियाएँ निष्कपट बनती हैं। उनके हृदयों में जीव मात्र के प्रति असीम करुणा और प्रेम का अजस्र प्रवाह बहने लगता है। परिणाम यह होता है कि उनके द्वारा किसी भी प्राणीका अनिष्ट नहीं होता तथा ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर ही उनके संयम का विकास होता है जो कि धर्म का दूसरा रूप है।

तप धर्म का तीसरा रूप बतलाया गया है। संयम रखने के लिए कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य हैं। स्वेच्छापूर्वक कष्टों को सहन करना ही तप है। जीवन में जब तप को स्थान मिलता है तो अहिंसा और संयम का निर्वाह भी भली भाँति होने लगता है।

कई व्यक्ति कहते हैं कि तप कलना मूर्खों का काम है, क्योंकि पाप तो आत्मा करती है और तप करके शरीर धुखाया जाता है। शरीर को भूखा-प्यासा रखने तथा शीत और ग्रीष्मादि कष्टों में डालने से आत्मा को क्या लाभ है?

ऐसे अज्ञानी व्यक्तियों से पूछना चाहिए कि मक्खन में से घी निकालने के लिये तुम उसे बर्तन में रखकर आग पर क्यों रखते हो? घी मक्खन में होता है न कि बर्तन में। तब फिर बर्तन का क्या व्यर्थ ही तपाने का क्या कारण है? उत्तर यही मिलेगा कि पात्र में रखकर तपाये बिना घी नहीं निकल सकता। मक्खन को सीधा ही आग में झोंक दिया जाय तो वह भस्म हो जाएगा।

ठीक इसी प्रकार समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार मक्खन को शुद्ध कर घी निकालने के लिये पात्र को तपना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को शुद्ध करने के लिये आत्मा के आश्रयरूप शरीर को तपाना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है। कहा भी है :-

“तपोऽग्नि ताप्यमानस्ताव जीवो विशुद्ध्यति।”

योगशास्त्र

— कर्म-मल से संयुक्त आत्मा तप रूप अग्नि से तपाया जाकर पवित्र बन जाता है। अर्थात् कर्म-मल से रहित हो जाता है।

तप की महिमा महान है। तप के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को

प्राप्त करता है तथा पाप एवं अपूर्णता को दूर करके अपने चरित्र को उज्ज्वल और निर्मल बनाता है। तप जीवन की फ़र्र और महान् शक्ति है। इसके द्वारा आत्मा में लिपटी हुई समस्त कर्मरज दिनष्ट हो जाती है। तप के प्रभाव से आत्मा शुद्ध-बुद्ध होकर अपने स्वाभाविक प्रकाशमान रूप में अव्यस्थित हो जाती है। तभी कहा गया है :-

“संज्ञमेण तवसा अप्पाणाभावेमाणे विहरइ।”

तपश्चरण करने के इच्छुक साधक को यह जानना भी आवश्यक है कि तप का सच्चा स्वरूप क्या है? केवल आहार ग्रहण न करना ही तप नहीं है। अनशन के अतिरिक्त तप के ग्यारह और भी प्रकार भगवान ने बताए हैं, जो कि तप के समान ही उपादेय हैं।

साधना का मार्ग यद्यपि सरल नहीं है किन्तु तप के प्रभाव से वह सरल बनता है। तपसाधन करने वाले साधक में कुछ विशेष गुण होने भी आवश्यक हैं। यथा - उसकी वाणी पवित्र और प्रिय हो, उसका हृदय क्रोध और अहंकार से रहित हो। भगवान महावीर ने तो तपस्वी के लिए क्रोध और मान को अपथ्य कहा है।

अपथ्य सेवन करने से जिस प्रकार दवा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या के साथ ही अगर क्रोध और मान रहा तो तपस्वी की समस्त तपश्चर्या निरर्थक चली जाती है। एक श्लोक में कहा भी गया है -

विनयेन विना चीर्णम्-अभिमानेन संयुतम्।

महत्त्वापि तपो व्यर्थम्-इत्येतद्व्याख्याताम्॥

अर्थात् - यह समझ लेना चाहिए कि विनय के बिना और अभिमान के साथ हुआ महान तप भी व्यर्थ चला जाता है।

सच्चा तपस्वी अपने मन और आत्मा को अपने समस्त बाह्य परिवेश से पृथक् कर लेता है। यद्यपि उसके जीवन में कठिनाईयाँ आती हैं पर वह साहस और निर्लेपभाव से उनका सामना करता हुआ, उन्हें अपने मार्ग में सहायक बना लेता है। निर्लेप और निःस्वार्थ भाव से किया हुआ तप ही उसके कर्मों की निर्जरा में सहायक बनता है, पूजा - प्रतिष्ठा अथवा यश की कामना से किया हुआ नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान ने स्पष्ट कहा भी है -

“वेएज्ज निज्जरापेही।

समाहिकामे समणे तप्पसी॥”

- तपस्वी केवल निर्जरापेक्ष होकर ही समस्या करे अथवा समाधि कामना से तपस्या करे।

जो तपस्वी भगवान के इस आदेश को मानकर सच्चा तप करते हैं, वे

समस्त कर्मों की निर्जरा करके अपनी आत्मा को शुद्ध-बुद्ध बना कर मानव पर्याय सार्थक करते हैं।

जैनधर्म की महत्ता

बंधुओ, आशा है कि आपने ओहेंसा, संयम और तप रूप मंगलमय धर्म के स्वरूप को समझ लिया होगा। इस में संदेह नहीं है कि आज जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है। अत्यल्प है किन्तु दीर्घदृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि जैनधर्म के सिद्धांतों का प्रभाव आज भी प्रत्येक धर्म के अंदर झलक रहा है। भगवान महावीर के उपदेश आज भी जगत का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

इसका कारण यही है कि जैन धर्म ने धर्म की यह जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार धर्म किसी देश, काल या जाति के लिए नहीं है, यह तो सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक धर्म है। जीवन के दो अंग होते हैं। आचार और विचार। जैन धर्म ने आचार में सर्वप्रथम अहिंसा का स्थान दिया है तथा विचार में अनेकान्तवाद को स्थान देकर अपनी महत्ता को बढ़ाया है। अहिंसा के द्वारा जहाँ इसने समस्त सृष्टि की मंगल कामना की है, अनेकान्त के द्वारा सभी धर्मों के पारस्परिक विरोध को नष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इन सब लक्षणों पर विचार करने से यही मालूम होता है कि धर्म मानवमात्र के लिए ही नहीं वरन् प्राणी मात्र की सुख-समृद्धि और उसके अभ्युदय के लिए है। धर्म संसार के समस्त जीवों के लिए वरदान रूप बन कर इस भूमण्डल पर अवतरित हुआ है। धर्म ही मानव में मानवता की प्रतिष्ठा करता है तथा दानवीय वृत्ति को निकालता है। इसकी प्रेरणा के अभाव में मानव जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता और सिद्धि हासिल नहीं कर सकता। इसीलिए आवश्यक है कि वह धर्म को परखे तथा उसकी रक्षा करे।

धर्म की परख और उसकी रक्षा

हमारा भारतवर्ष अनेक धर्मों का संगम स्थान है अतः अनजान व्यक्ति जब धर्म की परख करने जाता है तो चक्कर में पड़ जाता है कि सच्चा धर्म कौन है? वह नहीं जान पाता कि धर्म को वह मन्दिर में ढूँढे या मसजिद में, गिरजाघर में देखे या गुरुद्वारे में। वह देखता है कि जितने भी धर्मावलम्बी हैं वे सब अपनी अपनी क्रियाओं में ही धर्म का निहीत होना मानते हैं। ऐसे भ्रम में फँसे हुए व्यक्तियों को भगवान महावीर का निर्णय ही उनकी संशयास्पद स्थिति से उबार सकता है।

‘पन्नासमिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छियं।’

- वास्तविकता की कसौटी पर। कसे हुए धर्म तत्त्व की अपनी बुद्धि से ही परीक्षा की जा सकती है।

विश्व के अनेक विचारकों ने धर्म की भिन्न-भिन्न व्याख्या की हैं तथा

अब तक धर्म की हजारों परिभाषाएँ दी जा चुकी हैं। किंतु अगर मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति को धर्म का वास्तविक स्वरूप समझना है तो उसे श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की एक छोटी सी परिभाषा पर ध्यान देना चाहिये। उन्होंने कहा है -

“वत्सुसहावो धर्मो।”

वस्तु का अपना स्वभाव ही धर्म है।

जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतलता, अग्नि का स्वभाव उष्णता, शक्कर का स्वभाव मीठापन और नमक का स्वभाव खारापन है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्यमय है। सत्, चित् एवं आनंदमय है, आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में रहे तो निश्चय ही कहा जा सकता है वह धर्ममय है। अभी मैंने आप लोगों को अहिंसा, संयम और तप के विषय में काफी बताया है। ये तीनों आत्मा के स्वाभाविक और निजी गुण हैं। इसीलिए इन्हें हमारे शास्त्रकारों ने धर्म कहा है। गंभीरतापूर्वक विचार करने पर यह भली भाँति माना जा सकता है कि आत्मा को अपने सहज स्वभाव की प्राप्ति केवल अहिंसा, संयम और तप में स्थित रहकर ही हो सकती है। अहिंसा, संयम और तपरूप यह त्रिवेणी ही दूसरे शब्दों में मंगलमय धर्म कहलाती है, जिसकी आरम्भना करके किसी देश का, किसी भी जाति का और किसी भी संप्रदाय का व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्म-मुक्त कर परमात्मा बन सकता है।

किन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन में धर्म को स्थान नहीं देते तथा उसकी उपेक्षा करते हैं, उसके लिए समझना चाहिये कि वे अपने अमूल्य मानव भव को निरर्थक कर रहे हैं। क्योंकि इस दुर्लभ मानव जीवन की प्राप्ति महान पुण्यों के उदय से होती है। संसार की असंख्य योनिगणों में भटकने के पश्चात् मनुष्य योनि की प्राप्ति करना कितना कठिन है?

पर इसे पाकर भी जो व्यक्ति अपने भविष्य को उज्ज्वल नहीं बनाते, मानव जीवन का जो चरम लक्ष्य है—अक्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति करना उसके लिए भी प्रयत्न नहीं करते तो उनका मनुष्य जन्म प्राप्त करना न करना समान ही है। किसी ने कितना सत्य कहा है -

आनन्दरूपो निजबोध रूपे,
दिव्यस्वरूपो बहुमानरूपः।
तपः समाधौ कलितो न भवेन,
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्॥

- जिस मनुष्य ने तपस्या करके तथा समाधिधारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय स्वरूप को नहीं समझा, जिसने अपने चेतनस्वरूप को नहीं जाना, नहीं पहचाना तथा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ चला गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति धर्म को अपने जीवन में नहीं उतारता तथा उसकी रक्षा नहीं करता उसका जीवन अकार्थ हो चला जाता है। महाभारत में वेदव्यास जी ने भी कहा भी है -

“धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।”

अर्थात् - यदि हम धर्म को सुरक्षित रखेंगे तो वह हमारी रक्षा करेगा। और अगर हम धर्म को खत्म कर देंगे तो वह हमारा अस्तित्व नष्ट कर देगा।

इसीलिये मानव को चाहिए कि वह धर्म के रहस्य को परखे, उसे जीवन में उतारे और उसकी रक्षा करने का सतत प्रयत्न करे।

दुर्लभ मानव-जीवन और धर्म

संसार का कौनसा व्यक्ति नहीं जानता कि मानव-जीवन अत्यन्त दुर्लभ है और इसके अमूल्य क्षण एक-एक करके व्यतीत हो जायेंगे कोई भी मनुष्य चाहे वह विद्वान हो या मूर्ख, धनवान हो या निर्धन, वीर हो या कायर अथवा बलवान हो या निर्बल सदा काल के लिए जीवित नहीं रह सकता।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार करना चाहिये कि वह अपने इस लघु और नश्वर जीवन का सदुपयोग कैसे करे? अगर व्यक्ति समझदार और विवेकवान है तो वह सहज ही जान लेता है कि जीवन का सदुपयोग बड़ा परिवार होने और उसके ममत्व में गृद्ध होने से नहीं होता, धन का अम्बार लगाकर भोग-विलास के अगणित साधन जुटा लेने से नहीं होता अथवा झूठी प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़ा लेने से भी नहीं होता है।

प्रश्न उठता है कि तब फिर जीवन का सदुपयोग कैसे हो सकता है? इस नश्वर शरीर से क्या लाभ लिया जा सकता है। इस विषय में पूज्यपाद श्री अमीरक्षि जी महाराज कहते हैं -

आयु असार बिचार हिये थिरे धंजुली को नहिं रेवत पानी।

देह उदारिक नाश हुवे निज माने ममत्व करे अभिमान।

काल बली सिर छाथ रह्यो किन्ना पूरी भये लहि जावत तानी।

सुकृत साथ आराध सुधर्म अमीरिख मर्म पिछान सुजानी॥

कितना सुंदर उद्बोधन है! कहा - अरे सुजानी जीव! जिस प्रकार अंजुलि में भरा हुआ पानी एक-एक बूँद करके नीचे गिर जाता है, उसी प्रकार इस जीवन का एक-एक क्षण व्यतीत हो जाता है। अतः इस नश्वर देह को अपनी मानकर इसका अभिमान मत कर और न ही इसमें ममत्व रख।

यह मत भूल की काल तेरे मस्तक पर मंडस रहा है और समय होते यह तुझे लेकर चलता बनेगा। इसलिए तू सच्चे धर्म का मर्म समझ और उसकी आराधना करके आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर।

वास्तव में ही काल बली है, यह वाक्य तो हम जीवन में असंख्य बार दोहराते हैं पर इस बात पर कहीं विश्वास करते हैं कि हमारी आत्मा उससे भी अधिक बलशाली है और अगर हम अपने मनोयोग को दृढतर बना लें तो अत्यल्प काल में ही काल को सदा के लिये जीत सकते हैं। वीतराग प्रभु का कथन भी है -

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितं भगवान्मते।

यः समग्रं क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च॥

सर्वज्ञ प्रभु के मत में मनोयोग का इतना बलशाली बताया गया है कि वह आधे क्षण में जहां सातवें नरक में पहुँच सकता है, वह आधे क्षण में ही समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष में भी पहुँच देता है।

इसलिये बन्धुओ, हमें काल की दुहाई देना छोड़कर तथा इसकी शक्ति से निराश होकर निष्ठापूर्वक धर्माचरण करते हुए अनन्तसुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना है। पर यह तभी होगा जब कि हम प्रमाद का त्याग करें और तत्पश्चात् सच्चे धर्म की परख करके उसको जीवन में उतारें। प्रमाद और अज्ञान के अंधकार में डूबे रहने से तो कुछ भी हासिल होना संभव नहीं है। हमें मार्ग खोजना है और वह मुक्ति का मार्ग केवल धर्म-रूपी दीपक की अमर ज्योति में ही मिल सकेगा।

आत्म कल्याण के इच्छुक व्यक्ति को अनन्त सुख और शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये और ये दोनों धर्माचरण में ही निहित हैं। अन्यत्र कहीं इसकी खोज करना मृग-मरीचिका में फँसकर भटकते रहना मात्र ही है।

सांसारिक भोगों का कहीं अंत नहीं है। विचार करने की बात है कि क्या उन्हें भोगने से तृप्ति होती है? कभी नहीं! जिस प्रकार अग्नि में निरंतर आहुति डालते रहने पर भी वह शांत नहीं होती उलटे भड़कती जाती है, उसी प्रकार अनन्त भोग सामग्री मिलने पर भी मनुष्य की भोग-लालसा सदा अतृप्त ही बनी रहती है। धन की लालसा अथवा स्त्री, पुत्र, भाई, पिता आदि सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति मोह मनुष्य को अंधा बना देता है। और उसकी संसार मुक्त होने की कामना पर पानी फेर देता है। मोहकर्म की मयानकता बताते हुए किसी कविने कहा है -

मोह-वह्निमपाकतुं स्वकर्तुं संयमसिद्धिम्।

छेत्तुं रागद्वेषोद्यानं, समत्वमवलम्बिताम्॥

मोह अग्नि के समान है। अग्नि का संताप तो देह पर अल्पकालीन असर डालता है, किन्तु मोह-जनित संताप आत्मा को तपाता हुआ चिरकाल पर्यंत भवभ्रमण कराता है। आठ कर्मों में मोहकर्म की स्थिति ही सबसे अधिक सत्तर कोटा-कोटी कर देता है। इसके ताप से समग्र संसार प्रेड़ित है किन्तु फिर भी इसकी मोहिनी शक्ति से जीव अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते।

किन्तु अगर मानव को इस संसार-चक्र से छूटना है तो उसे अपना विवेक जगाना होगा। संसार के प्रति रही हुई अपनी आसक्ति का त्याग करना होगा। उसे सोचना ही पड़ेगा कि यह जीवन धर्म-संग्रहना के लिए है न कि संसार में लिप्त रहकर आत्मनाश के लिए। संसार में आसक्त रहने से आत्मा का कल्याण होना भी कभी संभव नहीं है। इसलिए महापुरुष और संतजन आंतरिक और बाह्य परिग्रह का त्याग करके धर्म का आश्रय लेते हैं। वे स्वयं भी संसार से विरक्त होकर आत्म-साधना करते हैं। और संसार में मृद्ध अन्य प्राणियों को भी उद्बोधन देते हुए कहते हैं -

बील करे मत तू छिन की करलें झट सुकृत लाभ कमाई।
बैठी एकान्त करी मन ठाम जपों जिनराज सुध्यान लगाई।
दान, दया, संजम भाग्य श्री गुरु सेव करो चित्त लाई।
अमृत चित्त अलेप रखो नर देह धरे को यही फल भाई॥

महापुरुष श्री अमीरुषि जी महाराज की कितनी भाव-भरी चेतावनी है? कहा है - हे जीव! अगर तुझे अपनी नर-देह अर्थात् मानव-पर्याय को सार्थक करना है तो क्षण का भी प्रमाद किये बिना सुकृत कर। अपने मन को स्थिर रखकर एकान्त में बैठ और वीतराग का धारण कर। सदा अपने गुरु के उपदेशों को जीवन में उतार और दान, दया, तप एवं संयमरूप धर्म की आराधना कर। तभी तुझे नर देह धारण करने का कुछ फल मित्र सकेगा।

प्रत्येक मुमुक्षु को इससे शिक्षा लेकर धर्म को उसके सच्चे रूप में अपनाना चाहिये तथा अपनी दृढ़ साधना से ऐसा पुरुषार्थ जगाना चाहिये कि समस्त कर्मों के दृढ़ बंधन भी तड़ातड़ टूट जायें।

अस्तु, जीवन अमूल्य और दुर्लभ है। अज्ञान और प्रमाद में पड़े रहकर इसकी उपेक्षा करना इसे मिट्टी के मोल गंवा देने के समान है। अतः प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक मानव को मंगलमय धर्म का आधार दृढ़ता से ग्रहण करना चाहिये। धर्म की अमर ज्योति ही इस सन्नाररूपी अरण्य में भटकते हुए जीव को सही मार्ग बता सकती है, तथा उसे अनन्त सुख और शाश्वत शांति रूपी अमर-पथ की प्राप्ति करा सकती है। धर्म की शरण में जाने पर ही आत्मा का कल्याण और मंगल हो सकेगा।

[२]

प्रार्थना के इन स्वरों में

धर्मप्रेमी बन्धुओं! माताओं एवं बहनों!!

श्री रायप्रसेणी सूत्र में सूर्याभदेवता का वर्णन चल रहा है। सूर्याभ देवता स्वर्ग से ही भगवान महावीर प्रभु की स्तुति करते हैं।

कैसे हैं भगवान!

स्वर्ग के देवता भी जिनकी स्तुति करते हैं, वे भगवान कैसे हैं? द्वीप के समान। हम और आप भी उन्हें दीवोत्ताणं कहते हैं। नमोऽस्तुते के पाठ में यह शब्द आया है। द्वीप किसे कहते हैं? चारों ओर पानी, और उसके बीच में जो सूखा स्थान होता है उसे द्वीप कहा जाता है। जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है। इसके चारों ओर दो लाख योजन का लम्बा-चौड़ा समुद्र है। जम्बूद्वीप उसके बीच में एक आश्रयभूत स्थान है, सहारा है।

पानी के अन्दर द्वीप का होना, पानी में डूबते हुए प्राणी के लिए विश्राम स्थल और आश्रय-स्थान बनता है। इसी प्रकार इस संसार-रूपी सागर में 'धर्म' द्वीप के समान है तथा इसमें डूबते हुए प्राणियों के लिए सहारा और आश्रय-स्थान है। द्वीप जल में डूबते हुए प्राणी को जिस प्रकार सहारा देता है उसी प्रकार 'धर्म' भव-सागर में गोते लगाती हुई आत्मा को शरण देता है।

अद्भुतशक्ति का स्रोत : प्रार्थना

सूर्याभ देवता धर्म के मूर्त-रूप भगवान महावीर की स्तुति अथवा प्रार्थना कर रहे हैं! जिज्ञासा होती है कि प्रार्थना क्यों की जाती है? उससे क्या लाभ होता है? गांधी जी का कथन है-

प्रार्थना आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है, अपने अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध बनने की आतुरता का चिह्न है। जहाँ हम अपनी असमर्थता को समझ लेते हैं और सब कुछ छोड़कर ईश्वर पर भरोसा करते हैं उस भावना का फल प्रार्थना है। प्रार्थना आत्मा की पुकार और दैनिक दुर्बलताओं की स्वीकृति है। यह हृदय के भीतर चलने वाले अनुसंधानों का नाम तथा आत्म-शुद्धि का आह्वान है। प्रार्थना तभी प्रार्थना है, जब वह अपने आप हठ से निकलती है। मैं कोई काम बिना प्रार्थना के नहीं करता। मेरी आत्मा के लिए प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य है जितना

शरीर के लिए भोजन।”

संत विनोबा भावे भी प्रार्थना पर बड़ा बल देते हैं। उन्होंने भी प्रार्थना का महत्व बताते हुए कहा है-

“मनुष्य के अन्तर में शुभ और अशुभ दोनों तरह की वृत्तियाँ हैं। लेकिन अन्तरतर में तो शुभ ही भरा है। प्रार्थना से उसी अन्तरतर में प्रवेश होता है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। अपने पास का सम्पूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है। प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में नम्रता है वह जरूरी है, तथा प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है वह भी। आवश्यक है, प्रार्थना इसका मेल साधती है। प्रार्थना अहंकार को शून्य करने में सहायक बनती है।”

वास्तव में ही प्रार्थना में बड़ी शक्ति है, बड़ी ताकत है। पर वह तभी शक्तिशाली बनती है जबकि अपने आप हृदय से निकलती है। यह याचना नहीं है, वरन् आत्मा की पुकार है, इसका परिणाम हृदय के द्वारा आत्मा पर होता है। यह कोई मान्त्रिक वस्तु नहीं है, वरन् हृदय की क्रिया है। अतः हृदयहीन मुखर प्रार्थना की अपेक्षा शब्द-रहित, पर सहृदय प्रार्थना अनेक गुनी उत्तम है।

प्रार्थना किये हुए पापों के लिए होने वाले पश्चात्ताप का चिह्न है तथा अपने दुर्गुणों का चिन्तन और परमात्मा के उपकारों का स्मरण भी है। सच्चा भक्त ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि मेरी आत्मा को विकाररहित बनाकर मुझे इस दुख-रूपी सागर से पार उतारो। कवि तुनि श्री अमीरुद्दीन जी महाराज भी प्रभु से यही कहते हैं-

कृपानाथ कृपा करी दुष्ट बुद्धि नाश कर,
काम क्रोध मोह लोभ चारों रिपु मारिये।
होय दूर अहंकार सचे चित्त उपकार,
शांत चित्त क्लेश नाश कुबुद्धि को टारिये।
मेरी लाज राखो नाथ, मैं तो हूँ अनाथ दीन
कर्म रिपु टार मेरी बौद्धि को संभारिये॥
अमीरिख कहे प्रभु तारन तिरन धाय,
दुःखरूप सागर के पार यों उतारिये॥

प्रार्थना में पहला ही शब्द आया है - 'कृपानाथ'। भक्त का कथन है - 'हे कृपानाथ करुणानिधि! मेरे अन्तःकरण में जो दुर्बुद्धि है उसका नाश करो।'

आत्मा और सिद्धात्मा में अन्तर

प्रश्न उठता है कि जब जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही समान हैं, स्वरूप की दृष्टि से आत्मा और सिद्धात्मा में कोई अन्तर नहीं है तब फिर प्रार्थना किसलिए?

इसका कारण यही है कि हमारी आत्मा से कर्म चिपटे हुए हैं और सिद्धात्मा कर्मों से अलग है, मुक्त है। कहा भी है-

सिद्धां जैसी जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्म मेल का अन्तरा, विरला बूझे कोय॥

विरले ज्ञानी ही इस भेद को समझते हैं कि आत्मा तो सिद्धों की तथा प्राणि मात्र की एक ही सरीखी होती है किन्तु अन्तर होता है कर्म-बन्धनों का। संसारी प्राणियों की आत्मा कर्म-बन्धनों से जकड़ी हुई और भारी होने के कारण संसार में भटकती हुई, अर्थात् जन्म-मरण करती हुई नाना प्रकार की वेदनाएँ सहती हैं। और वही जब कर्मों से छूटकर मुक्त हो जाती है अर्थात् कर्म-भार से रहित बनकर हलकी हो जाती है तो ऊर्ध्व-लोक में पहुँचकर सिद्धात्मा कहलाने लगती है।

बन्धुओं! मैं जो कह रहा था, वही बात महापुरुष के पद्य में आई है। भगवान् निरञ्जन और निराकार हैं। तथा हमारी आत्मा भी अरूपी है। कर्मबन्धुओं के द्वारा अपनी आत्मा को भी हम नहीं देख सकते। एक बात और है। जो जीव है वही सिद्ध होगा। अजीव अथवा निर्जीव सिद्ध गति में नहीं जायेगा। आपके हृदय में जिज्ञासा होगी कि जब जीव सिद्ध बनने वाला है और जीव का स्वरूप जब एक ही है तो हम भटकते क्यों हैं?

इसी बात का उत्तर पद्य में दिया हुआ है कि “कर्म मेल का आंतरा।” सिर्फ कर्मों का मेल ही हमारी आत्मा को मलिन और भारी बनाए हुए है। हम कर्मों के लेप के कारण संसार में भटक रहे हैं और सिद्धों ने कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया है। इसीसे उन्हें भटकना नहीं पड़ता। आप जानते ही हैं कि भुना हुआ बीज बोने से वह उग नहीं सकता, इसी प्रकार कर्म-रूपी बीज जब जल जाता है, तो वह उदय में नहीं आता और उसके कारण आत्मा को संसार में जन्म-मरण नहीं करना पड़ता है। हमारे कर्मों का भी जिस दिन नाश हो जायगा, आत्मा सिद्ध बन जाएगी और इसे नाना रानियों में भ्रमण नहीं करना पड़ेगा। पर ऐसा होगा कैसे? सिद्ध तो हम बनना चाहते हैं, जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहते हैं, पर केवल इच्छा करने से ही क्या होगा? इसके लिए तो भारी प्रयत्न करना होगा। समस्त विषय और विकारों का त्याग करके आत्मा को विशुद्ध बनाना पड़ेगा। ऐसी शक्ति हमें प्राप्त करनी है। और कवि अपनी प्रार्थना में यही बात कह रहा है-

काम क्रोध मोह लोभ चारों रिपु मारिये...

कहा है - हे कृपानाथ! मेरी दुर्बुद्धि को नष्ट करिये और इन चारों शत्रुओं को मार सकूँ ऐसी शक्ति प्रदान कीजिये! क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों मेरे पीछे पड़े हुए हैं। इनके कारण ही मेरा विवेक नष्ट हो गया है तथा बुद्धि

मलिन हो रही है। मुझमें और पशु में कोई अन्तर ही नहीं रहा है। कबीर के कथनानुसार -

काम क्रोध मद लोभ की चब लग घट में खान।
तब लग पंडित मूख, दोनों एक समान॥

आत्मा के शत्रु...

वास्तव में विषय-सुख की कामनाएँ मनुष्य को अंधा बना देती हैं। काम की शान्ति कभी काम के उपभोग से नहीं हो सकती, वह तो आग में घी डालने के समान होती है। इसके कारण ही मानव के हृदय में क्रोध, मोह और लोभ की जागृति होती है। क्रोध एक प्रकार की आँधी है जो आते ही मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देती है। इसके आक्रमण से सद्भावनाएँ विकृत हो जाती हैं तथा ज्ञान की ज्योति बुझ जाती है। क्रोधावस्थ में की गई क्रियाएँ कभी शुभ-फल प्रदान नहीं करती। 'वामन पुराण' में कहा भी गया है:-

यत् क्रोधनो भजति यच्च ददाति नित्यं, यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके, मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य॥

- क्रोधी मनुष्य जो कुछ पूजा करता है, नित्य जो दान देता है, जो तप करता है और जो होम करता है, उसका उसे इस लोक में कोई फल नहीं मिलता। क्रोधी के सभी कार्य व्यर्थ जाते हैं।

मोह भी मानव के कर्म-बन्धनों का कारण बनता है जो विचारवान व्यक्ति अपनी आत्मा का कल्याण चाहता है, अपने दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक करना चाहता है उसे सर्व प्रथम मोह-ममता का त्याग करना चाहिए। मनुष्य के सबसे निकट शरीर है, अतः उसके प्रति उसका मोह होता है। उसके बाद परिवार और परिवार के पश्चात् अपनी भौतिक सम्पत्ति के प्रति आसक्ति बनी रहती है। पर इनमें से एक भी वस्तु उसकी आत्मा के लिए हितकर नहीं होती है। इन्हीं सबकी रक्षा करने में उसका जीवन समाप्त होता जाता है, धर्म-ध्यान करने का वक्त नहीं मिलता।

बुढ़ापे में देखूँगा

एक युवक ने बी.ए.पास किया और फिर नौकरी करने लगा। कुछ दिन नौकरी करने पर शादी भी हो गई। शादी हुई उसके बाद युवक ने बीमा करवाया।

एक संत से जब उसने यह सब बताया तो उन्होंने पूछ लिया - "अभी तो तुम्हारी उम्र बहुत कम है, इतनी जल्दी बीमा क्यों कराया?"

युवक बोला - "भगवन! जिन्सी का क्या ठिकाना, अगर मुझे कुछ हो गया तो मेरी पत्नी को कष्ट न हो इसलिए बीमा करवा लिया है।"

साधु ने कहा - "अगर जीवन की नश्वरता को तुमने समझ लिया है,

तब तो तुम भगवान का स्मरण भी बहुत करते होंगे?"

"महाराज! उसके लिए तो अभी बहुत वक्त है। बुढ़ापे में देखूँगा।" युवक ने जल्दी से उत्तर दिया। साथ ही सुनकर मुस्करा दिये।

यह है मोह का खेल। साँसारिक अम्बन्ध तथा साँसारिक पदार्थों में मोह अथवा आसक्ति रखने वाला प्राणी जीवन के अंत तक भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता। और जहाँ मोह रहता है वहाँ लोभ से भी बचा नहीं जा सकता। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है पर लोभ बूढ़ा नहीं होता। लोभी व्यक्ति की लालसा का वर्णन कबीर ने किया है-

कबिरा औंधी खोपरी, कबहुँ घायी नाहि।

तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर पाहि॥

प्रार्थना और पुरुषार्थ

आत्मा के जिन चारों दुश्मनों का कवि ने अपने पद्य में उल्लेख किया है, और उन्हें मारने की शक्ति प्रार्थना के द्वारा चाही है, उन दुश्मनों का मारा जाना केवल प्रार्थना के द्वारा सम्भव नहीं है। प्रार्थना के साथ-साथ हमें पुरुषार्थ भी करना होगा। प्रार्थना करने से ही ये विकार नष्ट हो जायेंगे, यह इतना सस्ता सौदा नहीं। 'मिच्छामि दुक्कड' कहने से ही पाप नहीं छूट जाते। हमारे मुसलमान भाई मस्जिद में जाते हैं, नमाज़ पढ़ते हैं और उसके बाद 'तोबा-तोबा' कहते हुए अपने मुँह पर थप्पड़े लगाते हैं। पर क्या इससे गुनाह छूट सकते हैं? एक शायर के ही शब्दों में -

जो गुनाह हो माफ तो दोजख कहाँ किसके लिए?

माफ का हर बार तू लेना बहाना छोड़ दे,

ऐ दिला दुनियाँ फना इनमें लुभाना छोड़ दे।

शायर ने कहा है कि- 'प्रथम तो तू इस दुनिया में लुभाना छोड़ दे! और अगर ऐसा नहीं हो सकता है, तुझसे पाप हो ही जाते हैं तो माफी माँगने का बहाना छोड़!! क्योंकि तोबा करने से कृथा अपने गालों पर थप्पड़ लगाने से ही अगर खुदा गुनाहों को माफ कर देता है तो फिर दोजख किसलिए और किसके लिए है?'

हमारे यहाँ भी एक दृष्टांत दिया जाता है। एक कुम्हार मिट्टी के घड़े बना बनाकर रख रहा था। एक आदमी आया और कंकर मार-मारकर घड़े फोड़ने लगा। एक-एक घड़ा वह फोड़ता और 'मिच्छामि दुक्कड' कह देता।

ऐसा 'मिच्छामि दुक्कड' किस काम का? किसी को थप्पड़ मारते जाओ और क्षमा माँगते जाओ तो उससे क्या लाभ? एक बार क्रोध या आवेश में गुनाह किया जाय तो उसके लिए माफी मिल सकती है। पर बार-बार जान-बूझकर गुनाह

किया जाय तो माफी कैसी? अगर इस प्रकार गुनाह और अपराध माफ होते जायें तो फिर नरक किसके लिए है? माफी माँगो! प्रार्थना करो! पर प्रार्थना करने के साथ-साथ गुनाह करना छोड़ो! तभी कल्याण हो सकेगा। प्रार्थना के साथ-साथ विषय-विकारों को त्यागने का प्रयत्न करो, आत्मा के शत्रुओं को अपने पुरुषार्थ से नष्ट करो, तभी प्रार्थना सार्थक बन सकेगी।

अभिमान के स्थान पर उपकार भावना

प्रार्थना में आगे कहा गया है - '‘होय दूर अहंकार सचे चित्त उपकार।’ अर्थात् मेरे हृदय में अहंकार की भावना का लोप हो जाये और उसका स्थान परोपकार की भावना ले ले। उपकार करने से केवल दूसरे का ही भला नहीं होता, करने वाले का भी भला होता है। दूसरों पर! उपकार करने वाला व्यक्ति न केवल परिणाम में अपितु उसी कर्म में अपना भी उपकार करता है, क्योंकि अच्छा कर्म करने का भाव ही स्वयं उचित पुरस्कार है। कविवर रहीम ने भी यही बात कही है -

यों रहीम सुख होत है, उपकारी के अंग।

बौटन वारे के लगै, ज्यों मेंहदी के फांग।।

आवश्यक यही है कि उपकार निस्वार्थ भाव से किया जाना चाहिए। उसके बदले में लेने की भावना हो तो वह उपकार उपकार नहीं कहलाता। चाहे साधारण व्यक्ति हो, श्रावक हो या साधु हो, उसे उपकार निष्काम भाव से ही करना चाहिए। कहा भी है -

उपकुर्वात्रिराकांक्षी यः स साधुरितीर्यते।

साकांक्षमुपकुर्वाद्यः साधुत्वे तस्य को गुणः॥

जो निष्कामभाव से किसी का उपकार करता है, वही साधु कहलाता है। जो किसी वस्तु की इच्छा से उपकार करता है, उसकी साधुता में कौन गुण है? वह तो निरर्थक है।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव अहंकार की भावना का त्याग करके निस्वार्थ भाव से परोपकार करने की वृत्ति रखे। तभी पुण्योपार्जन कर सकता है।

झोंपड़ी में आ जाओ!

एक नदी के किनारे पर किसी व्यक्ति ने अपनी छोटी सी झोंपड़ी बनाई। झोंपड़ी इतनी छोटी थी कि उसमें केवल एक ही व्यक्ति रह सकता था। एक दिन बारिश शुरू हुई और मूसलाधार पानी गिरने लगा। झोंपड़ी का मालिक अन्दर बैठा था। अचानक उसने देखा कि पानी से भीगा जाने के कारण एक व्यक्ति दौड़ता हुआ आया और झोंपड़ी के द्वार से लगकर खड़ा हो गया। ठण्ड के कारण वह बुरी तरह से ठिठुर भी रहा था।

अन्दर बैठा हुआ व्यक्ति तुरन्त बाहर आया और बोला - “माई, तुरन्त अन्दर आ जाओ! अपने गीले वस्त्र खालीकर मेरे सूखे पहन लो और जब तक वर्षा रुक न जाय यहीं बैठो। यद्यपि झोपड़ी छोटी है और पैर पसारकर बैठने तथा सोने के लायक नहीं है। किन्तु हम दोनों इसी में सिकुड़-सिकुड़ा कर बैठ जाएँ और वर्षा का यह कठिन समय व्यतीत कर लेंगे।”

प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा ही होना चाहिए। अगर उस व्यक्ति के हृदय में सहानुभूति, करुणा और परोपकार की भावना न होती तो स्वयं स्थान की तंगी से कष्ट उठाकर आगन्तुक को स्थान न देता। कह देता - ‘जगह नहीं है।’ पर उपकारी व्यक्ति ऐसा नहीं करता। दीन-दुखों की सहायता करना अभावग्रस्त के अभाव की पूर्ति करना वह अपना कर्तव्य समझता है। और तभी वह पुण्य का भागी बनता है। ‘वेदव्यास जी’ ने कहा भी है -

‘परोपकारः पुण्याय पापाय पर-पीडनं’।

पर-उपकार जैसा कोई पुण्य नहीं है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाने जैसा कोई पाप नहीं है।

इसीलिए प्रार्थना में कहा गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभादि का नाश हो और मेरे मन में उपकार की भावना का उदय हो तभी चित्त में शान्ति रह सकती है तथा विकलता नष्ट हो सकती है। दिल में अशान्ति होने पर व्याकुलता और क्लेश पीछा नहीं छोड़ते। पर इन सबका कारण कुबुद्धि है। जब तक हृदय में कुबुद्धि बनी रहती है मनुष्य शुभ कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता। और अशुभ कर्मों का परिणाम दुःख और व्याकुलता के सिवाय और हो ही क्या सकता है। इसलिए जिस प्राणी को अखंड शान्ति की आकांक्षा है उसे इन्द्रिय जनित वासनाओं से बचना चाहिए। संत तुकाराम जी कहते हैं:-

पापाची वासना न को माझ्या डोला।

त्याहूनी आँधला वरा मीच ॥१॥

- हे भगवन! मेरी आँखों में अभी भी पाप बुद्धि न आये। अगर पाप-बुद्धि देनी है तो मुझे अंधा बना देना।

अंधा ही रहने दो!

कवि के उद्गार कितने भाव भरे हैं? मनुष्य की आँखें उसके चरित्र, व्यक्तित्व और अन्तःप्रवृत्ति का दर्पण है। जो बड़ा वाणी से प्रकट नहीं होती वह बात, आँखों आसानी से बोल देती है। बड़े-बड़े ऋषि महर्षि भी अपनी आँखों को वश में नहीं रख पाने के कारण अधःपतन के मार्ग की ओर प्रवृत्त होते देखे गए हैं। विश्वामित्र कैसे घोर तपस्वी थे, पर स्वर्ग की ध्वस्तारा मेनका ने उनके तप को भी भंग कर दिया था। यह क्यों हुआ? चक्षु-इन्द्रिय को वश में नहीं रख पाने के कारण।

तभी कहा जाता है -

लाज लगाम न मानहीं, नैना भी बस नाहिं।

ये मुँह जोर तुरंग लौ, छेड़त हूँ चलि जाहि॥

मुँहजोर घोड़ा जिस प्रकार लगाम छेड़ने पर भी नहीं मानता, और भी क्या से दौड़ पड़ता है उसी प्रकार आँखें भी बुद्धि की लगाम से वश में नहीं आती तथा मन को वासनापूर्ति की ओर उन्मुख करती हैं।

इसीलिये महापुरुष ऐसी आँखों के होने से न होना अर्थात् अंधा रहना चाहते हैं। भक्त सूरदास के विषय में आपने सुना और पढ़ा भी होगा कि आँखों के कारण मन में विकार आते ही उन्होंने स्वयं ही लोहे की गरम शलाकाओं के द्वारा अपनी आँखें फोड़ लीं।

संत तुकाराम जी ने भी ईश्वर से यही प्रार्थना की है कि - 'मेरी आँखों में पाप-वासना आए, इसकी बजाय तो मैं अंधा हो जाऊँ यह ज्यादा अच्छा है। आगे वे पुनः कहते हैं -

निंदेचे श्रवण नको माझ्याः कानी,

बधिर करूनी ठेवी देवा॥२॥

अगर मेरे कान हैं, तो उनसे मैं दूसरों की निन्दा नहीं सुनना चाहता। हे भगवन्! अगर इन कानों के द्वारा दूसरों की निन्दा सुननी पड़े तो मुझे तुम बहारा ही बना दो।

दूसरों की निन्दा सुनने से क्या लाभ? निन्दा करना और निन्दा सुनना यह कचरा है। ऐसे कचरे की पोटली मन पर बाँधे रहना मूर्खता नहीं तो और क्या है? औरों की निन्दा करने की अपेक्षा, अर्थात् औरों के दोष देखने की अपेक्षा स्वयं अपने ही दुर्गुणों पर ध्यान देना मानव के लिए आवश्यक है। पर अज्ञानी पुरुषों को इसका ध्यान कहाँ रहता है? 'कबीर' के कथनानुसार :-

दोष पराये देखकर, चलत हंसत-हंसत।

अपने याद न आवही, जिन्का आदि न अन्त॥

दूसरों के दोष देखकर मानव प्रसन्न होता है, हँसता है। किन्तु अपने दोषों पर विचार नहीं करता, जिनका कोई आदि और अन्त ही नहीं है। अर्थात् अनगिनतों हैं। निन्दक व्यक्ति की दृष्टि दोष-दृष्टि बन जाती है। वह हमेशा अन्य व्यक्तियों की बुराइयों ढूँढ़ करता है। तथा समय-समय पर उन्हें प्रकट करता रहता है। इसी का नाम निन्दा है। महापुरुष निन्दा करने और निन्दा सुनने, इन दोनों ही दुर्गुणों से अपने आप को बचाते हैं तथा अपनी गुणदृष्टि के द्वारा बुराइयों में से भी अच्छाइयों ढूँढ़ निकालते हैं।

तीन अँगुलियाँ किस ओर ?

एक बार महात्मा गांधीजी के आश्रम में किसी सदस्य से दुराचार हो गया। एक व्यक्ति ने इसकी शिकायत करते हुए गुमनाम पत्र लिखकर गांधीजी के पास भेज दिया।

उसी दिन प्रार्थना के समय गांधी जी गम्भीरता पूर्वक बोले - “प्रथम तो इस प्रकार गुमनाम पत्र लिखना ही गलत बात है, दूसरे यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी की ओर अँगुली उठाते समय लकी की तीन अँगुलियाँ स्वयं अपने दिल की तरफ होती हैं।”

इसी वजह से महात्मा कबीर ने कहा है :-

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, भुझ सा बुरा न कोय॥

कहने का अभिप्राय यही है कि किसी की निंदा मत सुनो। दूसरों की निंदा सुनने पर धीरे-धीरे निंदा करना भी प्रारम्भ हो जाता है। और निंदा आपसी कलह, फूट तथा कभी-कभी भयानक झगड़ों वगैरह का कारण भी बन जाती है।

इसीलिए सज्जन-महापुरुष अपने कानों से निंदा-श्रवण करने की बजाय धर्म-प्रवचन, शास्त्रीय-कथाएँ, भक्ति रस से परिपूर्ण भजना तथा तत्त्वज्ञान की चर्चाएँ सुनना पसंद करते हैं। और इसी में अपने कानों की सार्थकता समझते हैं। संसार में आराक्त पुरुष तो भगवान से अगर प्रार्थना करते भी हैं तो धन सम्पत्ति, पुत्र, रोग निवारण तथा दो हाथ से चार हाथ बन जाने जैसी माँग करते हैं। बड़े होशियार हैं आप लोग! चतुर्भुज ही बनना चाहते हैं, चतुष्पाद नहीं। लेकिन सन्त-पुरुष यह सब नहीं चाहते। वे इन्द्रिय-सुख को हेय मानते हैं तथा उन्हीं बातों की इच्छा करते हैं जिनसे आत्मा का कल्याण हो। अमीरुषि जी महाराज अपनी प्रार्थना में आगे कहते हैं -

मेरी लाज राखो नाथ, मैं तो हूँ अनाथ दीन,
कर्म-रिपु टार मेरी तबह को संभारिये!
अमीरिख कहे प्रभु तारन-तिरन आप,
दुःख-रूप सागर से पार यों उतारिये!

हे नाथ! मेरी लाज रखो। आप अनन्त शक्ति के धारक और समर्थ हैं, आप स्वयं संसार-सागर को पार कर चुके हैं तथा दुखी प्राणियों को पार पहुँचाने वाले हैं। मेरी बाँह पकड़कर मुझे भी इस दुःख-रूप सागर से पार उतारिये तथा मेरे कर्म-रूपी शत्रुओं का नाश कीजिये!

मनुष्य अनाथ और दीन क्यों है? केवल कर्मों के कारण। कर्म-बन्धनों से जकड़ा हुआ होने के कारण ही वह अशक्त और दीन है।

प्रौढ़ कवि जो शास्त्रों के बड़े भण्डों ज्ञाता थे, जिन्होंने स्वयं ग्रंथों की रचनाएँ कीं, तथा सुन्दर-सुन्दर पद्यों का निर्माण किया, वे भी - प्रभु! आप तर गए पर अब हमें भी तारो! आपकी सहायता से ही हो सकता है। प्रत्येक भक्त और संसार में विरक्त पुरुष ईश्वर से यह करता है। कवि सूरदास भी अपने इष्टदेव से कहते हैं :-

अब मेरी राखो लाज हरि!

तुम जानत सब अन्तर्यामी करणी कछु न करी।

औगुन मोसे बिसरत नाही पल छिन्न घरी घरी।

सब प्रपंच की बाँध पोटली अपने शीश धरी।

दारा सुत धन मोहन यो है सुध बुझ सब बिसरी।

‘सूर’ पतित को बेग उबारो अब मरी नाव भरी।

भगवान को हम ‘तिष्णाणं तारयाणं’ अर्थात् तरण-तारण कहते हैं। ‘दीवोत्ताणं’ द्वीप के समान, भव-सागर में डूबते हुए प्राणी को सहाय देने वाला मानते हैं इसलिये अपनी प्रार्थना में कहते हैं कि हमारे मस्तक पर, सही भावार्थ में, हमारी आत्मा पर जो कषायों का, विषय-विकारों का और प्रमाद का आवरण तथा भारी बोझ पड़ा हुआ है इसे हटा दो। ताकि हमारी आत्मा भी हलकी होकर ऊपर उठ सके।

चढ़ाव और उतार

हमारे शास्त्रों में स्वर्ग को ऊपर माना है और मोक्ष को उससे भी ऊँचा। तो कर्मों का भारी बोझ लिए हुए आत्मा ऊपर कैसे उठ सकती है? कमर में विशालकाय पत्थर बाँध लेने पर मनुष्य जल पर नहीं तैर सकता, डूब जाता है। उसी प्रकार कर्म-रूपी पाषाण जो कि मेरु पर्वत से भारी है, उसके बोझ को लिए हुए आत्मा ऊँची कैसे उठ सकती है? ऊपर चढ़ने में कठिनाई होती है, नीचे उतरने में नहीं। नीचे उतरना हो तो वृद्ध व्यक्ति जो लाठी के सहारे चलता हो, वह भी आसानी से उतर सकता है, किन्तु ऊँचाई पर चढ़ने में तरुण पुरुष भी हँफ जाता है। आशा है आप मेरे कहने का अभिप्राय समझ गए होंगे कि स्वर्ग, मोक्ष ऊपर हैं और नरक नीचे की ओर अर्थात् नरक की तरफ उतरना आसान है पर ऊपर स्वर्ग तथा मोक्ष की ओर चढ़ना कठिन।

इसीलिए हम प्रार्थना करते हैं कि हम में ऊपर चढ़ने की शक्ति आए तथा कर्मों से सामना करने का साहस पैदा हो। पर यह तभी हो सकेगा, जब हमारी प्रार्थना सर्वान्तःकरण से होगी। प्रार्थना के साथ हमारा मन भी बोलेगा। केवल जवान से की जाने वाली प्रार्थना कारगर नहीं हो सकती। प्रार्थना के स्वरों में शक्ति नहीं होती, शक्ति होती है उनके पीछे छिपी हुई दृढ़ भावनाओं में।

भगवान को निमन्त्रण

प्रार्थना धर्म का ही एक अंग है, मना को स्वच्छ और शुद्ध बनाने का

यह निरन्तर चलनी चाहिये। चाहे जिस स्थान पर और चाहे जिस समय गाना कर सकता है। इसमें न गैसा खर्च होता है और न शारीरिक बल एक होता है। इतना अवश्य है कि प्रार्थना में बोली जाने वाली बातों किया जाय। इसमें कहे गए शब्दों के अनुसार आचरण किया जाय। तभी गाना करना सार्थक हो सकता है। हम भगवान से कहते हैं :-

“हृदयं त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडः अपि कर्मबन्धाः ।”

- सिद्धसेन दिवाकर

- हे भगवन् ! आपके हृदय में विराजने पर प्राणियों के सघन कर्मों के बन्धन भी क्षणमात्र में ढीले पड़ जाते हैं।

हम भगवान को अपने हृदय में विराजने का निमन्त्रण तो दे देते हैं, पर अपने हृदय को उनके योग्य नहीं बनाते। भगवान का मन्दिर कितना शुद्ध और पवित्र होना चाहिए ? बिना हृदय की शुद्धता के भगवान हमारी प्रार्थना कैसे स्वीकार करेंगे और किस प्रकार निबिड कर्म-बन्धनों से छुटकारा दिलाने जैसा महत् कार्य सम्पन्न करेंगे ?

इसलिए बन्धुओं ! प्रार्थना के स्वप्न केवल ज़बान से ही मत निकालो, उनके पीछे अपने अंतर्मानस को भी लगा दो। तभी उद्धार का कल्याण हो सकेगा।

• • •

[३]

तिष्णाणं तारयाणं

धर्मप्रेमी बन्धुओं! माताओं और बहिनों!

“रायप्रसेणी सूत्र” में सूर्याभ देवता सिद्ध भगवान की स्तुति करने के पश्चात् महावीर प्रभु की स्तुति कर रहे हैं। अवतारी पुरुष अपनी आत्मा का उद्धार तो करते ही हैं, साथ ही उनके आश्रय में जो भी आएँ, अर्थात् जो भी उनका सहारा ग्रहण करें, उनका भी उद्धार करते हैं। इसलिये इन्हें ‘तिष्णाणं तारयाणं’ कहा जाता है।

अगर उनके मन में केवल अपनी ही मुक्ति की कामना रहती, औरों के उद्धार का खयाल नहीं होता तो वे केवल ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी विचरण क्यों करते? केवलज्ञान प्राप्त होगा, अर्थात् मोहनीय कर्म का क्षय हो जाना। इसके क्षय हो जाने के पश्चात् नये कर्म नहीं बँधेंगे। क्योंकि यही सब कर्मों का राजा है। अन्य समस्त कर्मों की कुल मिलाकर जिली शक्ति होती है, उससे कहीं अधिक इस मोहनीय कर्म की शक्ति मानी जाती है।

कर्मों का सरताज

अभी-अभी मैंने बताया है कि मोहनीय कर्म अन्य समस्त कर्मों से अधिक शक्तिशाली है। इसके वश में पड़ा हुआ प्राणी अपने हिताहित का ज्ञान नहीं रख पाता तथा अनन्तकर्मों का बन्धन करके जन्म-मरण करता रहता है। पंडित मुनि श्री रायचंद्र जी महाराज ने इसलिये कहा है :-

जीवा तोहे मोह क्लावे हो।

एकादश गुणस्थान से पहला में नावे हो। जीवा।

कितना जबर्दस्त है यह मोहनीय कर्म। जोकि ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँची हुई आत्मा को भी पुनः प्रथम गुणस्थान में ला पटकता है। इसके साथी हैं - ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अन्तरायकर्म। ये ही सब मिलकर मन, वचन और काय-तीनों योगों को बिगाड़ते हैं। मोहनीय कर्म ही राग-द्वेष को बढ़ाता है। इसका शिकार व्यक्ति दूसरों की बढ़ती को देखकर ईर्ष्या करता है, दूसरों को ज्ञान वृद्धि करते देखकर द्वेष से भर जाता है।

मेरे अनुभव

जब मैं स्कूल में पढ़ता था। उस समय हर आठवें दिन लड़कों के हाथ से लिखे हुए अक्षरों की परीक्षा होती थी। जिसके अक्षर, अर्थात् जिसके हाथ की लिखावट सुन्दर होती उसे खूब नम्बर मिलते थे और जिनकी सुन्दर नहीं होती उसे कम मिलते।

पर कम नम्बर प्राप्त करने वाले लड़के क्रोध और ईर्ष्या से भर जाते तथा किसी प्रकार अपनी पराजय का बदला लेने का प्रयत्न करते थे। वे कभी-कभी सुन्दर अक्षर लिखने वाले लड़के की कॉपी पर स्याही उँडेल देते या कॉपी फाड़ डालते। इससे क्या होता? क्या ऐसा करने से नम्बर अधिक मिल सकते थे? नहीं। लाभ कुछ नहीं होता था केवल ईर्ष्या-क्रोध की मात्रा ही बढ़ती थी और कर्म-बन्धन होता था।

मोहनीय कर्म के परिणामस्वरूप पैदा होने वाली राग-द्वेषादि की भावनाएँ बाल्यकाल में छोटे दायरे में रहती हैं किन्तु बड़े होने पर वे ही भावनाएँ अपना दायरा बहुत बड़ा बना लेती हैं। मानव अपने कुटुम्बियों के प्रति अत्यधिक राग-भाव रखता है तथा उनके मोह-वश नाना प्रकार के अनुचित कर्म करके अपनी आत्मा को भारी बनाता है। इसलिये किसी कवि ने मनुष्य को शिक्कारते हुए कहा है :-।

कर जिनके हित पाप तु, चला। नरक के द्वार।
देख, भोगते स्वर्ग सुख, वे ही अपरम्पार॥

आगे चेतावनी भी दी है :-

घिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक।
रहा कभी मैं एक था, अन्त छरु का एक॥

कहने का अभिप्राय यही है कि मोह-कर्म अत्यन्त बलशाली है, इसके वश में हुआ प्राणी कोटि प्रयत्न करके तथा कितना भी पूजा-पाठ, जप-तप और घोर तपस्या करके भी आत्मा को कर्म-मुक्त नहीं कर सकता। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य गौतम जो कि चौदह पूर्व के पार्वी थे अर्थात् अगाध ज्ञान के धारक और समस्त सद्गुणों से युक्त थे। केवलज्ञान जिनके मस्तक पर मँडरा रहा था, वे भी जब तक भगवान महावीर के प्रति रहे तब अपने मोह को दूर नहीं कर सके तब तक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। अन्त में स्वयं भगवान ने उन्हें बड़े मार्मिक शब्दों में बोध दिया है। कहा :-

धारे ने म्हारे गोयमा रे! घणा कल की प्रीती।
आगे ही आपां भेला रह्या वली लोड़ बड़ाई नी रीत जी।
मोह कर्म ने लीजो थे जीत जी, केवल आड़ी याही ज भीत जी।

कितने स्नेह-पूर्ण शब्द हैं? प्रभु जानते थे कि गौतम का मेरे प्रति असीम

स्नेह है और जब तक यह दूर नहीं होगा, गौतम केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीलिये वे कहते हैं— “वत्स गौतम! तुम्हारा और मेरा स्नेह बहुत काल से चल आ रहा है और इसी प्रकार बड़े और छिटे रहकर हम पूर्व जन्मों में भी साथ रहे हैं। किन्तु अब इस मोह को नष्ट करना अनिवार्य है क्योंकि तुम्हारे ‘केवलज्ञान’ की प्राप्ति में यह एक दीवार के समान बाधा उपस्थित कर रहा है। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय और विनयवान शिष्य हो तथा तुमने मेरे प्रति अपने स्नेह को पूर्णरूप से निमाया है, पर अब इसे त्यागो और केवलज्ञान वेद-अधिकारी बनो।”

अन्त में ऐसा ही हुआ, ज्योंही गौतम स्वामी ने भगवान के प्रति अनेक जन्मों से चले आ रहे अपने मोह को नष्ट किया, त्योंही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

कहने का अभिप्राय यही है कि मोह-कर्म सबसे जबरदस्त है और अगर इसका नाश हो जाय तो इसके साथ रहने वाला ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। यही चारों घातिया कर्म हैं जिन्हें नष्ट करना मुक्ति-प्राप्ति के लिये अनिवार्य है।

साधु तो रमता भला!

मेरा विषय यह चल रहा था कि अश्वतारी पुरुष और सन्त-महात्मा अपने उद्धार का प्रयत्न करते हैं, साथ ही औरों की भी आकांक्षा रखते हैं। इसीलिये स्वयं तीर्थंकर भगवान, जो समस्त कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और फिर उन्हें किसी भी प्रकार के पाप लगने का भय नहीं होता, वे भी विचरण करते हैं। अगर वे एक ही स्थान पर ठहरें तो उन्हें कौनसा पाप लगने वाला है? और उनका क्या नुकसान होने का है? यह जानकर भी वे यत्र-तत्र विचरते हैं, वह क्यों? सिर्फ इसलिये कि वे संसार के अन्य प्राणियों को संसार-सागर से पार कर सकें, जन्म-मरण के दुखों से मुक्त कर सकें। ऐसे पर-दुख-भोजन प्राणियों के लिये ही कहा जाता है:-

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव-जलधि जहाज।

आप तैरे पर तारहीं, ऐसे श्री क्रीमराज॥

क्या कहता है भक्त? यही कि इस भव-सागर में जहाज के समान बन कर जो गुरु स्वयं तर जाते हैं तथा दूसरों को भी तार देते हैं, वे मेरे मन में निवास करें।

पर एक स्थान पर ठहरकर क्या ऐसा किया जा सकता है? नहीं, इसीलिये हमारे लिये यह नियम बना है कि ‘चातुर्मास जाल के अलावा सदा विचरण करते रहो, एक स्थान पर मत ठहरो! एक स्थान पर रहने से राग-द्वेष बढ़ जाएगा तथा अधिक प्राणियों के सम्पर्क में नहीं आ सकोगे! तुम्हारा दायरा छोटा हो जाएगा जबकि साधु सारे संसार का है। विश्व के अधिक से अधिक जितने भी प्राणियों

को बोध दे सके, जितने भी प्राणियों को मुक्ति का मार्ग बता सके, बताना प्रत्येक साधु का फर्ज है।" दूसरे:-

बहता पानी निर्मला, पड़ा गे गंदा होय।

साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

कहा गया है कि सदा बहने वाला जल निर्मल रहता है और एक स्थान पर भरा रहने वाला गंदा हो जाता है। आप लोग सभी जानते हैं कि धार खण्डित हो जाने पर पानी किसी गड्ढे में रुक जाता है, वहाँ सेवाल बन जाती है, फूलन आ जाती है और पानी से दुर्गन्ध आने लगती है, किन्तु वही पानी अगर पुनः बहने लगे तो शुद्ध और निर्मल हो जाता है।

इसी प्रकार साधु विचरण करते रहते हैं, उनका मानस शुद्ध रहता है। राग-द्वेष उनके हृदय में घर नहीं कर पाते। तथा इन दोषों के कारण कोई दाग, कोई कलंक उन्हें नहीं लग पाता। उनका चित्त में सदा सम-भाव बना रहता है। वे आज यहाँ, कल कहीं, और इस कां अमुक नगर में तथा अगले वर्ष अमुक नगर में पहुँचते हैं। परिणाम यह होता है कि न उनका किसी पर मोह बढ़ता है और न ही किसी से वैर-भाव।

पर मेरी, इस बात का आप यह अर्थ न लें कि एक स्थान पर रहने वाले साधु-साध्वी राग-द्वेष से भर ही जाते हैं अथवा किसी प्रकार की मोह-माया में फंसे बिना नहीं रहते। महान् आत्माएँ एक स्थान पर रहकर भी इन सब दोषों से अलिप्त रहती हैं।

प्रतापगढ़ में हमीराजी महासती जी थीं। वे अठारह वर्ष तक वहीं रहीं। मेरा भी चातुर्मास उनकी उपस्थिति में कहीं हुआ था। किन्तु मैंने किसी भी व्यक्ति की जवान से कभी यहाँ नहीं सुना कि- उनके आहार- पानी में दोष था, या वस्त्रादि किसी भी प्रकार की अन्य वस्तु को लेने में कोई दोष था। 'सभी के साथ उनका समभाव है' यही सब लोग कहते थे। आपके यहाँ भी पाँच वर्ष से सती जी विराज रही हैं, आप स्वयं ही उनके विषय में जानते हैं।

ऐसी आत्माएँ क्वचित् ही दिखाई देती हैं। नहीं हैं, यह मैं नहीं कहता। कम होती हैं, यह कहता हूँ। ऐसी आत्माएँ एक स्थान पर अठारह, बीस, पच्चीस या पचास वर्ष रहकर भी मोह-ममता में फैसले का नाम नहीं लेतीं। मठ वगैरह जहाँ होते हैं, वहाँ 'यह हमारा है' फ़ीसी भावना रहती है। किन्तु हम वर्षों एक मकान में रहकर भी उसे हमारा मकान है ऐसा नहीं कहते, यही कहते हैं कि श्रावकों का मकान है। इस प्रकार, जहाँ हमारेपन की भावना ही नहीं आती वहाँ मोह के आने की संभावना कैसे हो सकती है? साधुओं के लिये चाहे कुटिया हो, या आलीशान महल एक धर्मशाला के समान होता है। जिसमें टहरनेवालों के लिये उससे रंचमात्र भी मोह नहीं होता।

धर्मशाला नहीं तो क्या है?

एक बार एक फकीर धूमता-धामता गैक्रेसी महल में पहुँच गया और एक शानदार कमरे में धुसकर आराम करने लगा।

कुछ समय पश्चात् बादशाह आया और अजनबी फकीर को देखकर आग बबूला हो गया। क्रोधित होकर पूछ बैठा- 'तुम किसकी इजाजत लेकर यहाँ आए हो?'

फकीर मस्ती से बोला- 'धर्मशाला में आने के लिये भी क्या किसी की आज्ञा की आवश्यकता होती है?'

'यह मेरा महल है, धर्मशाला नहीं!'

फकीर हँस पड़ा- 'अच्छ, तुमसे पहले यहाँ कौन रहता था?'

'मेरे पिता!'

'और उनसे पहले?'

'उनके पिता, यह भी कोई पूछने की बात है?' राजा झुंझलाकर बोला।

'तो भाई ! वह मकान जिसमें एक दिन बाद दूसरा आता है और चला जाता है वह धर्मशाला नहीं कहलाती तो और क्या कहलाती है?'

बादशाह, मूक हो गया, कुछ भी नहीं बोल सक्ता।

तो बंधुओ, साधु चाहे एक स्थान पर ठहरे या विचरण करता रहे, उसके लिये स्थान, मकान आदि सभी कुछ अनाकर्षक होता है। किसी वस्तु और किसी भी प्राणी के लिये उसके हृदय में मोह नहीं होता। वर्षाकाल के अतिरिक्त वह विचरण करता है। विशेष आवश्यकता न होने पर कहीं भी अधिक नहीं ठहरता। विशेष शब्द मैंने इसलिये कहा है कि अगर साधु के शरीर में चलने की शक्ति नहीं है, तो भगवान का आदेश है कि 'ठहर जाओ, बैर जाओ !'

यद्यपि साधु को गृहस्थ के घर ठहरने का, बैठने का, और बातें करने का अधिकार नहीं है। आहार-पानी लेने जाना और लेते ही लौट आने का विधान है। किन्तु शारीरिक शक्ति न होने पर गृहस्थ की आज्ञा लेकर बैठने की भी आज्ञा है। 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा गया है-

तिष्ठमन्नवरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पः॥

जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणा॥

वृद्ध, रोगी एवं तपस्वी इन तीन प्रकार के साधुओं को बैठना कल्पता है।

आपके घर पर संत या साध्वी धाहार-पानी के निमित्त आएँ और रुग्णवस्था के कारण एकाएक उनकी स्थिति अधिक बेगड़ जाय तो वे आपकी आज्ञा से आपके घर पर बैठ सकते हैं। इसी प्रकार अधिक तपस्या से कृश हुए साधु और वृद्धावस्था के कारण कमजोर साधु-साध्वी भी चलना लायक स्थिति न होने के कारण आप गृहस्थों के घर पर ठहर सकते हैं। उसमें दोष नहीं है।

मोह विजेता क्यों विचरण करते हैं?

अभी-अभी मैंने आपको साधु और साध्वियों के लिये बताया कि विशेष कारण होने पर तो हम ठहर सकते हैं किन्तु वैसा न होने पर विचरण करना चाहिए ऐसा हमारे लिये नियम है। कारण पट्टम में बताया ही गया है-

साधु तो रमता भक्त, दाग न लावे कोय।

रमते हुए साधु को कोई दम नहीं लगता। किसी प्रकार की कुभावनाएँ उसके हृदय में घर नहीं कर पातीं। किन्तु जिन्होंने अपने मोहनीय कर्म का ही क्षय कर दिया है, और किसी प्रकार के पाप-कर्म के बंधन का जिनके लिए भय नहीं है, वे क्यों विचरते हैं? उनका एक ही उद्देश्य होता है - भय्य जीवों का उद्धार करना। जो मुमुक्षु प्राणी हैं, संसार मुक्त होना चाहते हैं उनका उद्धार हो, यही कामना निरंतर उनके हृदय में बनी रहती है। और इसलिये वे विचरण करते हैं कि संसार का कल्याण हो -

शिवमस्तु सर्वजगतः परकीर्तिरिता भवतु भूतगणाः।

दोषाः प्रयांतु नाशं, सर्वत्र सुखीभवतु लोकः॥

- समस्त जगत का कल्याण हो, सब प्राणी परोपकार में लग जायें, समस्त दोषों का नाश हो तथा सर्वत्र सुख का प्रसाद हो।

अगर सब प्राणियों के हृदयों में ऐसी भावना हो जाय तो फिर कहीं कष्ट का नामोनिशान ही न रहे। संसारी जो अपनी स्वार्थ-भावना के कारण ही कष्ट पाते हैं, अपने दोषों और पापों के कारण ही दुःखी रहते हैं। अगर अपनी स्वार्थ सिद्धि की भावना को छोड़कर ये जीवों का हित करने में निमग्न हो जाय तो फिर कष्ट किस बात का रहे? महापुरुषों की भावना ऐसी ही होती है। वे अपने दुःख से दुःखी नहीं होते, पर दुःख से द्रवित होते हैं। महापुरुष श्री अमीत्राक्षि जी महाराज ऐसी ही भावनाओं के वशीभूत होकर संसार में रूतते हुए प्राणी को सावधान करने के लिये कहते हैं :-

इण मोह जाल माहीं बीर्य है अनन्त काल,

नाना जोनि माहीं कष्ट सद्दा है अपार रे।

क्रोध मान माया लोभ राग-द्वेष वश जीव,

पायो दुःख अन्त न छोड़त गंवार रे।

आपा को विसार पर गुण में, भग्न होय,
बौधत करम नहीं करत विचार रे।
'अमीरिख' कहे छोड़ सकल जंचाल भव्य,
घार गुरु सीख वेगा ऋग हो हुश्वार रे।

संसार चक्र में फँसे हुए प्राणियों को विषय-विकारों से मुक्त करने तथा प्रमादरूपी निद्रा से जगाने की महान् पुरुषार्थमें कितनी व्यग्रता होती है? और तो और केवल मानव के ही नहीं, पर पशु-पक्षियों के दुःखों को दूर करने के लिये भी वे प्राणपण से तैयार रहते हैं।

गाय को बचाने के लिये प्राणों का बलिदान

सन् उन्नीस सौ चौदह में खीचन गाँव में संत श्री विनोद मुनि ने, जिन्हें दीक्षा ग्रहण किये हुए कुल ढाई महीने ही व्यतीत हुए थे, एक गाय को बचाने के प्रयत्न में अपने प्राण होम दिये। आप काठियावाड़ के अति सम्पन्न श्रेष्ठि श्री दुर्लभ जी भाई विराणी के पुत्र थे। श्री दुर्लभ जी भाई अभी हाल ही में सपत्नीक यहाँ दर्शनार्थ आए थे। देखकर मन को लग - धन्य हैं यह दंपति, जिसने ऐसे पुत्र-रत्न को प्राप्त किया। अन्यथा रेल की फरी पर से गाय को हटाने की कोशिश करते हुए क्या कोई साधारण प्राणी अपने प्राणों का उत्सर्ग कर सकता था? गाय बच गई, किन्तु गाय को बचाने वाली महान् आत्मा इस लोक से प्रयाण कर गई।

ऐसे होते हैं महापुरुष! युवावस्था में कदम रखते ही परोपकार के लिये जीवन त्याग देने वाले ऐसे पुरुष-पुंगव विरले ही होते हैं। लगता है कि इस प्रकार के प्राणी मानो परोपकार के लिये ही देह धारण करते हैं। एक पद्य में कहा गया है :—

सरवर, तरुवर, संतजन, चौथा तबसै मेह।
परोपकार के कारणे, चारों धारी देह॥

प्रतिपल परोपकार के लिये उद्यत रहते वाले जिन चार का उल्लेख इस दोहे में किया गया है, उनमें से प्रथम है 'सरवर'।

जीवन का अमृत 'जल'

वैसे संसार के समस्त प्राणियों को जीवन-दान देने वाले जल का प्रदाता पद्य में सरवर कहा गया है, किन्तु हमें इसका शब्दार्थ नहीं, भावार्थ लेना है। और भावार्थ में जल-दान करने वाले सरवर, कुएँ, नदी, नहरें और चश्मे आदि सभी आ जाते हैं; जहाँ-जहाँ से भी जल प्राप्त होता है।

तो सरवर या तालाब जिसमें पानी रहता है, क्या वह उसके काम आता है? नहीं, उसके जल से पशु, पक्षी, मनुष्य जो भी अपनी तृष्णा शांत करना चाहें, कर सकते हैं। वह सभी को समान भाव से और समान-गुण-युक्त जल प्रदान

करता है। जिसके विषय में कहा गया है :—

अजीर्णं भेषजं वारि, जीर्णं वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि.....॥

— अजीर्ण होने पर जल औषधि है, पच जाने पर बलवर्धक एवं भोजन के समय अमृत के समान है।

ऐसे अमृत-मय जल को सरोवर केवल औरों के लिए ही रखता है। अपने लिये उसका कोई उपयोग नहीं करता। साथ ही अपने उदर में सुरक्षित रखे हुए उस जल से केवल प्राणियों की तृष्णा ही शान्त नहीं करता, प्राणियों की उदर-पूर्ति के लिये अन्न उपजाने में भी सहायक बनता है।

हम पंजाब में घूमकर आए हैं। यहाँ भाखड़ा-नहर है। बड़ी विशाल नहर निकाली गई है। करोड़ों रुपया उसे बनाने में लगा किन्तु अब उसी का जल करोड़ों रुपयों की पैदाइश कर रहा है। लाखों व्यक्ति उसके जल से पैदा हुए अन्न से जीवन प्राप्त करते हैं।

मानव को सरोवर के उदाहरण से शिक्षा लेनी है। उसकी बनावट के समान ही अपनी आत्मा को बनाना है। आत्मा-रूपी तालाब में शुभ-कर्मरूपी जल इकट्ठा करना चाहिए और तालाब के बाँध के प्रमान आत्मारूपी तालाब में बाँध बाँधना चाहिए। कैसे बांधेगा वह बाँध? व्रत, निग्रम तथा तपादि के द्वारा। ये सब एक प्रकार के बाँध हैं, जो आश्रवकर्माँ को रोकने। तथा संवर करनी को आगे बढ़ाएँ। और उसके पश्चात् निर्जरा करें। जब तक व्रत, प्रत्याख्यान तथा तप रूपी बाँध इस आत्मा-रूपी तालाब में नहीं बाँधे जाएँ तब तक अशुभ-कर्म-रूप गन्दा व दुर्गन्ध युक्त जल अन्दर आने से नहीं रुकेगा।

पर-उपकारी तरु

तरु यानी वृक्ष। वृक्ष का जन्म किसके लिये है? क्या वह अपने फलों को स्वयं खाता है? अपने फूल की सुगन्ध स्वयं लेता है? या अपनी छाया में स्वयं बैठता है? नहीं, वह ये सभी कुछ औरों के लिये रखता है। कहा भी है :—

पत्रपुष्पफलच्छाया, मूलं कल्कलदारुभिः।
गन्धनिर्वासभस्मास्थितोऽयैः कामान् वितन्वते॥

— वृक्ष अपने पत्ते, फल, फूल, छाया, मूल वल्कल, काष्ठ, गन्ध, दूध, भस्म, गुठली और कोमल अंकुर से सभी प्राणिमों को सुख पहुँचाते हैं।

परुपकारी वृक्ष अपने फल स्वयं नहीं खाता दुनिया को खिलाता है, फूलों की सुगन्ध खुद नहीं लेता दूसरों को तराता करता है। वह जब तक खड़ा रहता

है, असह्य गर्मी और मूसलधार वर्षा से प्राणिजों को बचाता है। अर्थात् अपने ऊपर गर्मी, सर्दी और बरसात को सहन करके अनेक प्राणियों को उन कष्टों से दूर रखता है।

इतना ही नहीं, अगर उसे काट दिया तो भी वह लकड़ी के रूप में इमारतें खड़ी करने में सहायक बनता है, ईंधन के रूप में भोजन तैयार करने में सहायता देता है। इस प्रकार स्वयं जलकर भी वह उपकार करने से नहीं चूकता।

सहिष्णुता और नम्रता की शिक्षा भी वृक्ष से ली जा सकती है। हम प्रायः देखते हैं कि फलों से लदे रहने पर वह अभिमान से उड़ता नहीं, नीचे झुक जाता है। और मनुष्यों के द्वारा फेंके गये फाधरो की चोटों को सहकर भी उन्हें मधुर फल प्रदान करता है। पत्थरों का उतार वह पत्थरों की मार से नहीं देता, मोठे फलों से देता है। मनुष्यों में क्या ऐसी सहिष्णुता और धैर्यता पाई जाती है? नहीं पाई जाती, यह बात तो नहीं है, किन्तु क्वचित् महात्माओं में ही देखने को मिलती है।

सन्त न छोड़े सन्तई.....!

पद्य के अन्दर परोपकारियों की श्रेणी में तीसरा नम्बर सन्त का आया है। सन्तों का जन्म भी परोपकार के लिये ही होता है। जो सच्चे सन्त या साधु होते हैं, वे सदा ही संसार की कल्याण-कामना करते हैं। वे अपने स्वार्थ के लिये नहीं जीते, परोपकार के लिये जीवन-धारण करी हैं। अन्य कोई व्यक्ति अगर उनका कुछ बुरा करे तो वे उसका भला करने के प्रयत्न में रहते हैं।

कोई जागीर दे दो!

एक बार स्वामी रामदास जी अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक गन्ने का खेत आया। स्वामी जी का एक शिष्य उस खेत में से गन्ना तोड़कर चूसने लगा। उसी समय खेत का मालिक आ गया। बिना इजाजत अपने खेत से गन्ना खाया जाता देखकर उसे शोध चढ़ आया। और उसने स्वामी रामदास को गन्ना खाने वालों का मुखिया समझकर खूब पीटा।

शिवाजी को जब यह समाचार मिला तो वे अत्यन्त क्रुपित हुए और अपने गुरुजी के अपमान का बदला लेने को उतार उठे गए। उन्होंने फौरेन कर्मचारी को भेजकर गन्ने के खेत के मालिक को बुलवाया।

उसने आकर देखा कि जिन्हें वह पीटा चुका है, वे स्वामी जी सिंहासन पर बैठे हैं और शिवाजी महाराज नीचे। यह देखते ही वह कांपने लगा।

शिवाजी ने गुरुजी से पूछा — “भगवान्! इस नीच व्यक्ति को क्या सजा दूँ? बताइये!”

स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा — “मैं जो कहूँगा वह करोगे?”

“वाह गुरुदेव! क्या मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं करूँगा?”

“तो इसे कोई जागीर दे दो! यह गरीब है। गन्ना कम हो जाने से ही इसे दुःख हुआ होगा। अतः जागीर देकर इसकी दरिद्रता मिटा दो!”

इसे ही सच्चा साधुत्व कहते हैं कि मार खाकर भी जागीर दिलवा दी। बुरा करने वाले का भी भला किया। मन्त कभी “जैसे वो तैसा”, यह कहावत चरितार्थ नहीं करते। तभी तो कहा जाता है :—

सन्त न छोड़े सन्तई, कोटिक मिले असन्त।

मलय भुजंगहि बेधिया, सीतलता न तजंत॥

जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष शर्पों के लिपटे रहने पर भी चन्दन अपनी शीतलता और सुगन्ध नहीं त्यागता, इसी प्रकार सन्तों को कितने भी असन्त अर्थात् बुरे व्यक्ति क्यों न मिलें, वे अपनी उत्तमाता का त्याग नहीं करते। संसार में सन्तों को कटुवचन कहने वाले और उनका अपमान करने वालों की कमी नहीं है।

अनेक व्यक्ति साधुओं को देखकर कह उठते हैं — ‘खाने के लिये नहीं होगा, इसलिये साधु बन गए।’ कोई कहता है — ‘कमाने के लिये परिश्रम नहीं किया जाता, इससे साधु बने फिरते हैं।’ कोई यह भी कहने से नहीं चूकता कि ‘कोई रोने वाला नहीं होगा इसलिये साधु बने हैं।’ हाथ में भिक्षा-पात्र देखकर कहते हैं — ‘पेट भरने के लिये यह स्वांग सबसे श्रेष्ठ है।’

किन्तु साधु यह सब सुनकर भी मन में कभी रोष नहीं लाते। अपमान किया जाने पर भी उनमें कभी बदला रूने की भावना नहीं आती। उल्टे वे अपकारी की कल्याण-कामना करते हैं।

रामदुहाई

कहते हैं कि महात्मा कबीर एक बार कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें किसी ने कहा — “इनका दिमाग ठिकाने पर नहीं, बिगड़ गया है।”

कबीर पहुँचे हुए सन्त और कवि थे। तुरन्त बोल उठे —

हम बिगड़े तो बिगड़े रे भाई।

तुम बिगड़ोगे तो राम दुहाई।

अर्थात्—भाई! हम बिगड़ गए तो कोई बात नहीं, पर तुम मत बिगड़ जाना। और बिगड़ो तो तुम्हें राम की सौगन्ध है।

बन्धुओ, याद रखो— बिगड़ना दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का बिगड़ना अपनी कीमत कम करता है, और दूसरे प्रकार का बिगड़ना महत्त्व को बढ़ाता है। उदाहरण के लिये दूध को ही लीजिये। हमारे सामने दूध है। हम उसमें

जामन डाल देते हैं तो वह दही बन जाता है। अब बताइये दूध बिगड़ा या सुधरा? दूध तो बिगड़ा पर उसकी कीमत बढ़ गई।

और दूसरी तरफ वही दूध है। किन्तु उसमें नमक गिर गया। परिणाम क्या हुआ? उसकी कीमत घट गई। अब बिगड़ा कौन? और सुधरा कौन? आप समझ ही गए होंगे कि दूध का दही बना तो वह सुधरा गया। व्यवहार-दृष्टि से उसमें पतला पन मिटकर गाढ़ापन आ गया। किन्तु नमक गिर जाने से उसकी कीमत घट गई। वह किसी भी काम का न रहा।

इसलिये कबीर आगे कहते हैं —

पीतल के रंग सोना बिगड़े,
वो सोना पीतल हो जाई।
तुम बिगड़ो; रो राम दुहाई!

स्वर्ण का रंग पीला होता है और पीतल का भी। स्वर्ण के रस में अगर पीतल का रस पड़ जाए तो क्या होगा? सोना पीला हो जाएगा। उस पीके सोने को अगर कोई जोहरी के पास ले जाए तो जोहरी तुम्हें कह देगा — 'आप पीतल लेकर आए हैं।' देखिये, असली में थोड़ा सा नकली रस गिर गया तो सोने की कीमत घट गई।

किन्तु अगर पीतल में थोड़ा सा स्वर्ण रस गिर जाए तो? पीतल की कीमत कितनी बढ़ जाएगी? बहुत अधिक।

कहने का अभिप्राय यही है बिगड़ना अर्थात् बदलना दो प्रकार का होता है — और इसीलिये 'कबीर' कहते हैं — मैं बिगड़ा तो ठीक ही हुआ। क्योंकि मैं सन्तों के साथ बिगड़ा हूँ। भक्ति, लग्न और वैराग्य में रंग गया हूँ। अतः मेरा बिगड़ना, बिगड़ना नहीं है यह तो सुधरना है। पर तुम कहीं सचमुच ही मत बिगड़ जाना और इसके लिये तुम्हें राम की दुहाई है।

सन्त तुकाराम जी भी जब तक जीवित थे, लोग उन्हें 'ऐड़ा-तुका' कहते थे। ऐड़ा यानी मूर्ख-पागल। उनका नाम भी पूरा नहीं लेते थे। किन्तु सन्तों ने दुनियाँ के स्वभाव को समझकर अपने आपको समझा लिया कि दुनियाँ का रंग दूसरा है और भक्ति का रंग दूसरा। दुनियाँ की परवाह करेंगे तो भक्ति का रंग नहीं चढ़ेगा। ऐसा विचार करके ही वे संसार द्वारा किए मानापमान की परवाह नहीं करते। किसी का आदर पाकर प्रसन्न नहीं होते और अनादर पाकर नाराज नहीं होते। कहा भी है —

जे न वन्दे न से कुप्पे, वंदिअं न समुक्कसे।

एव भत्रेसमाणस्स सामणमपुचिठ्ठई॥

अगर कोई वन्दना करता है तो संत अभिमान से फूल न जाये और वंदन करे तो कुपित न हो। यह संतों का व्यवहार है। वृक्ष जिस प्रकार पत्थर फेंकने वाले को भी फल प्रदान करता है, उसी प्रकार किसी के भी कटु-वचनों को संत समभाव से सहन करें।

इस संसार में महापुरुषों को अनेक विपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं। संकटों की कसौटियों पर कसे बिना ही वे महान् न बन पाते हैं, तथा जितने महान् होते जाते हैं उतने ही नम्र तथा सहिष्णु हो जाते हैं। परोपकार उनका सबसे बड़ा गुण होता है। मित्र और शत्रु सभी का वे समान-भाव से उपकार करने के लिए तैयार रहते हैं। कहा भी है —

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपून्पि।

सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धुवो नगनिम्नगाः ॥

— महाकवि माघ

महान् पुरुष तो शरणागत शत्रुओं पर भी अनुग्रह करते हैं। बड़ी नदियाँ सपत्नी (छोटी-नोटी) पहाड़ी नदियों को भी समुद्र तक (अपने पति तक) स्वयं पहुँचाती हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि महापुरुष और संत व्यक्ति किसी से भी वैर भाव नहीं रखते, अपना बुरा करने वालों का भी मला करते हैं तथा सत्य, त्याग, दया, परोपकार, करुणा और सहिष्णुता का कभी त्याग नहीं करते। ऐसे संत ही संसार के अज्ञानी प्राणियों को सन्मार्ग बतल सकते हैं। आज का संसार घोर अनैतिकता, स्वार्थपरता एवं पाशविकता की स्थिति में से गुजर रहा है। ऐसे कठिन समय में इसी प्रकार के निस्वार्थी, निर्लोभी, परोपकारी, और संयमी मार्गदर्शकों की आवश्यकता है। अन्यथा केवल नामधारी संत कड़लाने से क्या लाभ? किसी गुजराती कवि ने ठीक ही कहा है —

शूँ थाय मस्तक मूंडवाथी, चूँटवाथी केश ने?

नहिं काम क्रोध तजाय तो शूँ थाय धरवे वेश ने?

शूँ थाय! कपड़ा पेरवा थी विविधारे साधू तणां,

माया तणा परदाविषे घाटे घड़े अवला गणा।

एवुं अरे! साधुपणुं संसार मां शूँ काम नुं?

नहिं भवभ्रमण ने भांगशे साधुपणुं ए नाम नुं।

पद्य का यही भावार्थ है कि केवल ईर्ष्या, गेहूँ या अन्य प्रकार के वस्त्र पहनकर साधु दिखाई देने से ही मनुष्य साधु नहीं कहला सकता। वस्त्र, मालाएँ, तिलक या छापे ही साधुत्व के चिह्न नहीं होते। साधु वे ही कहलाते हैं, जिन्होंने क्रोध, मान, माया, लोभ एवं अहंकार का त्याग कर दिया है, जिन्होंने बाहर और

भीतर के पशुह का त्याग कर दिया है, मोह पर विजय प्राप्त करली है और जो भोगों से विरक्त होकर अपनी संयम साधना में लगे हुए हैं। ऐसे संत ही तरण-तारण कहलाते हैं और उनकी संगति में आने वाले प्राणी सत्यप्राप्त करते हैं।

सत्संगति दुर्लभ संसारा

मानव अगर संतों के समागम में रहे तो अपने सुन्दर जीवन का निर्माण कर सकता है। सत्संगति करने से नीच से नीच व्यक्ति भी महान बन जाता है। नित्य छः प्राणियों का वध करने वाला अर्जुनमाली भगवान् महावीर की संगति से सुधर गया। लोगों की अंगुलियों काट-काटकर उनकी मालाएँ पहनने वाले महापापी अंगुलिमाल डाकू ने भी गौतम बुद्ध की संगति से अपने दुर्गुणों का त्याग कर दिया।

ऐसा होता है सत्संग का प्रभाव। सत्संग से ही मानव का मानसिक एवं बौद्धिक विकास होता है तथा हृदय की मज्जिना, अस्थिरता एवं अज्ञता मिटती है। संतों के द्वारा बताए गये मार्ग पर चलकर ही मानव अपने शुद्ध आत्म-रूप का साक्षात्कार कर सकता है। सत्संगति का महत्त्व नीतिशतक में भी बड़ा उत्तम बताया गया है —

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाप्करोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंशाम्॥

— भर्तृ हरि

— सत्संगति बुद्धि की जड़ता नहीं करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता प्राप्त कराती है, तथा संसार में यश फैलाती है। संक्षेप में सत्संगति पुरुषों के लिए क्या नहीं करती ?

इसलिए प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को संतों का समागम करना चाहिए। उनके उपदेश और जीवनचर्या से शिक्षा लेनी चाहिए। संतों के सम्पर्क में आने से ही मालूम पड़ता है कि वे कितने धैर्य और साहस के साथ क्षमा, दया, सत्य तथा सदाचारादि शस्त्रों से सुसज्जित होकर कर्मरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं। और किस प्रकार अपनी आध्यात्मिक सगुणता में आगे बढ़ते हैं। साधना के मार्ग में अगर उन्हें मारणान्तिक उपसर्ग भी झेलने पड़े, तो सहर्ष झेलते हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह होती है कि वे आत्म-कल्याण और विश्वकल्याण में कोई अन्तर नहीं समझते। आत्मकल्याण उन्हें जितना प्रिय है, पर कल्याण भी उतना ही प्रिय है। इसलिए वे स्व और पर के कल्याण में तत्पर रहते हैं। तथा “तिष्णाणं तारयामि” कहलाते हैं।

मुनि मारग निबाहिबो

‘तिष्ठणार्णं-तारयाणं’ बनना भी सरल नहीं है, अत्यन्त कठिन है। इसके लिए घोर संयम का पालन करना पड़ता है। संसार के समस्त सुखों का त्याग और समस्त आकर्षणों से मुँह मोड़ना होता है। गौना विराम लिए साधना-पथ पर जीवन पर्यन्त चलना पड़ता है। कुछ दिन, कुछ महीनों, या कुछ वर्षों में ही यह मार्ग तय नहीं हो जाता। इसीलिए अमीरकृषि जी महाराज ने कहा है —

सहज नहीं है असिधारा पै गमन प्रनि,
त्योहि ना सहज पावक में तन दोहबो।
अंगुलि में मेरु धरी राखबो सहज नाही,
भुजानी ते स्वयंभूषण सिंधु थाहिबो।
देह सुकुमार अति संघम कठिन जाव—
जीव विसराम पै न दो दिन को छाहिबो।
यातें अभीरिख सुविचार करी लीरु व्रत,
सहज नहीं है मुनि-मारग निबाहिबो।

महाराज श्री संयम-मार्ग अपनाने के इच्छुक प्राणियों को चेतावनी देते हैं — जिस प्रकार तलवार की धार पर चलना, अग्नि में तन को जलाना, अंगुलि पर मेरु पर्वत का टिकाना और भुजाओं से स्वयंभूषण सिंधु को तैरना कठिन है, उसी प्रकार सुकुमार देह को संयम के मार्ग पर चलाना कठिन है। साथ ही इस मार्ग पर निरन्तर चलते रहना है, दो दिन का भी विश्राम सम्भव नहीं है। अतः भव्यप्राणियों! खूब सोच-विचार कर ही यह व्रत ग्रहण करना। मुनियों के इस मार्ग को, और मुनियों की इस कठिनचर्या को गेनेबाहना सरल नहीं है, अत्यन्त दुष्कर है।

किन्तु निकट-भावी या मुक्ति के स्नेह उपासक, इन बातों की कब परवाह करते हैं? वे अनन्त जन्मों के सहे हुए धर्म कष्टों के मुकाबले में इस एक जन्म के परीषहों और उपसर्गों को नगण्य मानते हैं तथा दृढ़ता से अपने पथ पर बढ़ते चले जाते हैं। परिणाम यह होता है कि अपना और अपने शरण में आए हुए प्राणियों का उद्धार करने में समर्थ बनते हैं।

मेह की उदास्ता

सरवर, तरुवर और संत-जन के पश्चात् चौथा नम्बर परोपकारियों की श्रेणी में ‘मेह’ का आया। मेह बरसता है, पर उससे वह स्वयं कोई लाभ नहीं उठाता। लाभ उठाता है संसार। वक्त पर अगर वर्षा न हो तो दुनियाँ त्राहि-त्राहि कर उठती है। महाराष्ट्र प्रांत के भाई आए हैं। उनका कहना है कि, ‘हमारे उधर पानी नहीं है, एक साल भी अमर पानी न बरसे तो प्राणी कितने दुखी और व्याकुल हो जाते हैं? जीवों की प्राण रक्षा होना भी कठिन हो जाता है। पानी न बरसने

के कारण ही अकाल पड़ता है और घिस प्रदेश में पड़ता है, लाखों मनुष्य और पशु आदि मौत के शिकार बनते हैं।

मेरे कहने का आशय यही है कि इन सब संकटों को मिटाने वाला मेह ही है। सारे संसार को अपने जल रू द्वारा जीवन-दान देने वाला अपने लिए बूँद भी नहीं रखता। इससे अधिक उपकारी और कौन हो सकता है?

हमें इन सबसे शिक्षा लेनी चाहिए। तथा परोपकार को अपने जीवन का भूषण मानकर उससे अपने आप को अलंकृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। परोपकार ही इस अस्थिर जीवन का अमृत है। अपने लिए तो पशु, कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी भी जी लेते हैं, किन्तु मानव की विशेषता तभी जानी जा सकती है, जब वह पर-उपकार के लिए जिये। कहा भी है :-

आत्मार्थमस्थिन् लोके कर्त्तुं न जीवति मानवः।

परोपकारार्थं यो जीवति न जीवति॥

बन्धुओं, इस विश्व का प्रत्येक महा-मानव तथा प्रत्येक सच्चा साधक अपने लिए नहीं, वरन् औरों के लिए जीता है। परोपकार ही उसका आनन्द, उसका लक्ष्य और उसका जीवन होता है।

भगवान् महावीर का जीवन परंप्रकारमय था। वे अहर्निश प्राणिमात्र के उद्धार के प्रयत्न में लगे रहते थे। इसीलिए सूर्याभदेवता उनकी ओर दृष्टिपात करते हुए प्रार्थना करते हैं — आप 'त्रिष्णाणं तारयाणं हैं।'

• • •

[४]

नहीं ऐसे जन्म बारम्बार

धर्मप्रेमी बन्धुओं!

आज के प्रवचन में सुधर्मा देवलोक का वर्णन चल रहा है। देवलोक बारह माने गए हैं, उनमें प्रथम का नाम है, 'सुधर्मा देवलोक'। इस देवलोक के इन्द्र विशेष कर रामदृष्टि रहते हैं। तथा वे देवलोक के सम्पूर्ण सुखों का अनुभव करते हुए भी अपने अवधिज्ञान के द्वारा जान लेते हैं कि भरत खण्ड या अन्य स्थान पर कहाँ क्या हो रहा है?

उनके ध्यान में बराबर रहता है कि कहाँ पर भक्त अपनी भक्ति में लीन है? कौनसा योगी तपस्या-रत है? तथा कौनसा साधक अपनी साधना में लगा हुआ है? अपने ज्ञान से वे भली-भाँति जान लेते हैं कि कौन तपस्वी है? कौन दानी है? कौन सेवाभावी, सत्यवादी, अथवा सच्चा भक्त है? सदगुणी प्राणियों को देखकर इन्द्र का हृदय प्रफुल्लित हो उठता है। वास्तव में ही जो सज्जन होता है वह अन्य प्राणियों के दोषों की ओर ध्यान न देकर केवल गुणों को देखता है। कहा भी है :-

“सज्जनश्च गुणग्राही।”

इन्द्र भी जब अपनी देवसभा में बैठता है तो निष्कपट और प्रफुल्ल भाव से गुणियों की प्रशंसा करते हैं। संतों की महान साधना अथवा भक्तों की अविचलित भक्ति को देखकर उनका हृदय कह उठता है — ‘धन्य हैं ऐसे संतों तथा भक्तों को, जिन्हें कोई भी अपनी साधना या भक्ति र्ज विचलित नहीं कर सकता, इंगमात्र भी चलायमान करने की सामर्थ्य नहीं रखता। कर्णोचित —

“त्यजन्त्युत्तमसत्त्वा हि प्राणानां न सत्यधम्।”

— जो उत्तम कोटि के प्राणी होते हैं, वे समय आने पर अपने धर्म की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों तक की बलि देने के लिए तैयार हो जाते हैं, परन्तु सत्य मार्ग का परित्याग करने के लिये तैयार नहीं होते।

प्रशंसा गले नहीं उतरती

इन्द्र जब देव-सभा में सदगुणी व्यक्तियों की प्रशंसा करते हैं तो उपस्थित देवों में अनेक मिथ्यादृष्टि देव ऐसे भी होते हैं, जिन्हें संसारी प्राणियों की प्रशंसा सहन नहीं होती। वे सोचते हैं — ‘देव सभा में देवताओं की तारीफ न करके अन्न के कीड़े मनुष्यों की, अल्पायु प्राणियों की तारीफ क्यों?’ मिथ्यादृष्टियों को

इन्द्र की बात पर विश्वास नहीं होता।

आप भी सभा-सोसाइटी में बैठते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्ताव रखे जाते हैं। अधिकांशतः कोई भी प्रस्ताव सभी को मान्य होता। अगर निन्दान्वे व्यक्ति उसके पक्ष में मत देंगे तब भी एकाध तो ऐसा मिल ही जायगा जो उसके विरोध में होगा। तो जिस प्रकार आपकी सभा-सोसाइटियों में कोई न कोई प्रस्ताव की खिलाफत करने वाला मिल जाता है, उसी प्रकार देवलोक में भी जो समदृष्टि नहीं होते, वे देवता गुणीजनों की प्रशंसा को सन्न नहीं करते।

सराहना किसकी ?

भले ही सराहना देवलोक में की जाय अथवा मृत्युलोक में, वह होती किसकी है यह विचारणीय बात है। इस विषय में संस्कृत साहित्य में एक श्लोक कहा गया है :-

नहि जन्मनि श्रेष्ठत्वं क्षिप्रत्वं गुण उच्यते।
केतकीवरपत्राणां लघुपत्रस्य गौरवम्॥

इस श्लोक में बताया गया है कि किसी को भी जन्म से श्रेष्ठत्व प्राप्त नहीं होता। श्रेष्ठत्व उत्तम गुणों के कारण उपलब्ध होता है। कोई व्यक्ति उच्च जाति या उच्चकुल में जन्म ले लेने से ही श्रेष्ठ कहलाने लग जाय यह संभव नहीं है। उच्च जाति का होने पर भी अगर वह सद्गुणों से रहित हो उसका आचरण निंदनीय हो तो वह श्रेष्ठत्व के पास भी नहीं फटक सकता। जन्म जहाँ है, वहाँ श्रेष्ठत्व नहीं है। श्रेष्ठत्व वहाँ है, जहाँ सद्गुण हैं। जाति का कोई महत्व नहीं है। महत्त्व केवल सद्गुणोंका है। सद्आचरण का है।

सदाचरण का चमत्कार

गांधी जी जब विलायत में थे, पादरी ने सोचा कि यदि मैं गांधी को ईसा मसीह का भक्त बना दूँ तो हिन्दुस्तान में करोड़ों आदमी अपने आप ही ईसाई बन जाएँगे। पादरी ने गांधीजी से संपर्क बढ़ाया और एक दिन उनसे प्रस्ताव किया—

“आप प्रत्येक रविवार को मेरे घर भोजन किया कीजिये ताकि हम कुछ समय बैठ कर धर्म-चर्चा कर सकें।” गांधीजी ने पादरी के निमंत्रण को स्वीकार कर लिया।

रविवार के दिन पादरी महोदय का निरामिष भोजन की व्यवस्था करते हुए देखकर उनके बच्चों ने पूछा — “पिताजी! ऐसा क्यों कर रहे हैं?”

पादरी ने उत्तर दिया - “मेरा मित्र गांधी हिंदुस्तानी है, वह मांस नहीं खाता इसलिये शाकाहारी भोजन की व्यवस्था की जा रही है।

“वे मांस क्यों नहीं खाते?” बच्चों ने सरलता से पूछा

पादरी ने व्यांग से कहा “वह कहता है, जैसे हमारे प्राण हैं वैसे ही समस्त पशु-पक्षियों के भी प्राण हैं। हमें कोई मारे तो जैसा कह हमें होता है वैसा ही

कष्ट उन्हें भी होता है।”

बालकों पर पादरी की भावना के प्रसिद्ध प्रतिप्रिया हुई। वे बोले — “पिताजी! यह तो बड़ी अच्छी बात है, हमें भी मांस नहीं खाना चाहिए।”

“बेटा! यह तो उसके धर्म की बात है, हमारे धर्म की नहीं।” पादरी ने उपेक्षा से कहा। किन्तु बच्चों के मन में यह बात सुनकर संतोष नहीं हुआ। उनके मन में यही भावना उठी कि, “कई अच्छी बात अगर किसी भी धर्म में हो तो क्यों नहीं मानना चाहिए?”

गोंधीजी प्रति रविवार को आते। पादरी के साथ धार्मिक चर्चाएँ चलती और बच्चे उन्हें सुनते। गोंधीजी की सादगी, करुणा की भावना, मधुर और शांत स्वभाव तथा उनके अनेकानेक अन्य सदगुण पादरी के बालकों को बहुत अच्छे लगे तथा वे उनकी ओर आकर्षित होने लगे। अंत में उन्होंने एक दिन कह दिया - “पिताजी! गोंधीजी का धर्म बहुत अच्छा है। अब हम कभी भी मांस नहीं खाएँगे।

पुत्रों की बात सुनकर पादरी परेशान हो गया। सोचने लगा — “मैं गोंधी को ईसाई बनाना चाहता था, पर मेरे लड़के ही हिन्दू बनने जा रहे हैं।”

अगले रविवार को जब गोंधीजी आए तो पादरी ने उनसे कह दिया - मिस्टर गोंधी! मैं हिन्दुस्तान के कल्याण के लिये तुम्हें ईसाई बनाना चाहता था पर तुम मेरे पुत्रों पर धावा बोल रहे हो, यह मुझे सह्य नहीं हो सकता। मैं आज से आपको दिया हुआ निमंत्रण वापिस लेता हूँ।”

बंधुओं, इस उदाहरण से आप समझ गए होंगे कि मनुष्य को श्रेष्ठता प्रदान करने वाले उसके सदगुण और सद्व्यवहार ही होते हैं। संसार सदगुणों की सौरभ से आकर्षित होता है जात और कुल की पूछताछ नहीं करता।

श्लोक की अगली पंक्ति में कहा है कि केवड़े के पत्तों में जो सबसे ऊपर रहता है और सबसे बड़ा भी होता है सुगंध कम होती है। उससे अधिक दूसरे में, और इसी प्रकार क्रमशः पत्ते छोटे निकलते चले जाते हैं किन्तु सुगन्ध अधिक मात्रा में बढ़ती जाती है। अतः बतवृक्ष, बड़े पत्ते को अधिक महत्त्व दिया जाएगा या छोटे पत्ते को? संस्कृत के वाक्ने तो छोटे पत्ते को ही यह गौरव प्रदान किया है। अगर आपको भी इसकी प्रत्यता जाननी है, स्वयं अपने अनुभव से जान सकते हैं। हमें तो उसे स्पर्श ही नहीं करना है।

अमर जीवन

जिस प्रकार उद्यान में खिले हुए फूलों की महक छिपाए नहीं छिपती, उसी प्रकार इस पृथ्वी पर अवतरित महापुरुषों की महान गुणों की महक भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती है तथा देवलोक के इन्द्र व सम्यक्दृष्टि देव उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर उठते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि देवता क्रोध और ईर्ष्या के कारण अनेक बार मृत्यु लोक में आते हैं तथा नाना प्रवृत्त के कष्ट देकर महापुरुषों को अपने सत्य, शील, साधना और भक्ति से विचलित करने का प्रयत्न करते हैं। मरणान्तक

परीषद देने से भी नहीं चूकते। किन्तु अन्त में उन्हें मुँह की खानी पड़ती है। क्योंकि मृत्यु को कौतुक समझने वाले दृढ़हृती पुरुष प्राणों पर खेल कर भी अपने धर्म से नहीं डिगते। ऐसी महान आत्माएँ मरकर भी अमर हो जाती हैं। युग युग तक उनका नाम जीवित रहता है। किसी कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से यही बात समझाई है :—

यूँ तो जीने के लिये लोग जिंदा करते हैं,
लाभ जीवन का फिर भी नहीं लिया करते हैं
मृत्यु से पहले भी मरते हैं हृष्टारों लेकिन -
जिन्दगी उनकी है जो मर के जिया करते हैं!

गुरु गोविन्दसिंह के छोटे छोटे सुदृढ़ पुत्रों ने भी सच्ची जिन्दगी के रहस्य को समझ लिया था। तथा क्रूर सम्राट् श्रीराजेश्वर के द्वारा नाना प्रकार के लोभों की तथा भयों की परवाह न करते हुए मूलमान बनने से इन्कार कर दिया था। दोनों छोटे बालक दीवार में जीवित ही लुप्त दिए गये किन्तु धर्म से रंजित-मात्र भी विचलित न होते हुए वे संसार से सदा के लिए अपना नाम अमर कर गए।

समाज के भावी कर्णधार

आज हमारे यहाँ अध्यापक गण व बाल-विद्यार्थी आए हुए हैं। अपनी पाठ्य पुस्तकों में इन नन्हें बालकों ने धर्म पर प्राण न्योछावर कर देने वाले गुरु गोविन्दसिंह की कहानी पढ़ी ही होगी। उनके समान ही इन्हें भी अपने धर्म पर, सत्य, अहिंसा आदि आत्म-गुणों पर अभी से दृढ़ आस्था रखने का प्रयत्न करना है। क्योंकि अच्छे संस्कार बाल्यावस्था से ही अगर बालक के मन में जम जायें तो जीवन-पर्यंत बने रहते हैं। आज का बालक ही कल के समाज का कर्णधार बनता है, अतः प्रत्येक को अपने आप पर पूर्ण विश्वास रखते हुए सतत यह भावना रखनी चाहिये

आज का रजकण जरा सा, सुच्छ हूँ, बे-भान हूँ मैं।
देखना कुछ दिन, हिमाचल, विश्ववन्द्य महान हूँ मैं।
नव्य युग सर्जन करूँगा, भूत-कण्ठ कृपाण हूँ मैं।
क्रांति रण का अग्रयोध्या, विश्व का कल्याण हूँ मैं।

बालकों, तुम्हारे भोले-भाले हृदयों को देखकर मुझे अपार प्रसन्नता होती है। मैं चाहता हूँ कि तुम संसार विजयी बनो और अपने मानव-जीवन को पूर्णतः सार्थक बनाओ। आज मैं तुम्हें तुम्हारे गणित के आधार पर ही जीवन के विषय में बताता हूँ।

जीवन और गणित

तुम्हारे शिक्षक तुम्हें चार प्रकार रंग गणित सिखाते हैं। जोड़, बाकी, गुणा, और भाग। इन चारोंके द्वारा ही तुम बड़े बड़े सवाल कर लेते हो। बड़ी-बड़ी मिलों, फैक्टरियों और कारखानों का हिसाब-किताब भी इन्हीं के द्वारा कर लिया जाता है। जीवन का हिसाब-किताब भी चार प्रकार से किया जाता है।

वैष्णव धर्म-ग्रन्थों में जीवन को चार भागों में बाँटा जाता है। जिनके नाम हैं — ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।

ब्रह्मचर्याश्रम

पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है, और आपके गणित में सर्वप्रथम जोड़ का नम्बर आता है। जोड़ में क्या होता है? दो और दो जोड़े, चार हुए। चार में छः जोड़े, दस हो गए। तात्पर्य यही की। जोड़ में बढ़ती होती रहती है, इकट्ठा हो जाता है। ठीक इसी तरह जीवन के पहलू भाग ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान को इकट्ठा करना होता है और उसमें अनुभवों को जोड़ते हुए उसकी निरंतर अभिवृद्धि करनी पड़ती है। पच्चीस वर्ष की उम्र तक मानव शिक्षार्थी बना रहता है तथा अन्य किसी भी विषय की ओर ध्यान दिए बिना उसे अपना ध्येय केवल ज्ञानप्राप्ति ही रखना होता है। ज्ञान तभी प्राप्त होता है जबकि ज्ञानार्थी अपने समस्त सुखों को उस पर न्योछावर कर दे। कहा भी है —

“विद्यातुषाणां न सुखं न निद्रा।”

—जिन्हें विद्या प्राप्त करने की उत्कट लालसा है, वे न तो सुख की आकांक्षा करते हैं और न निद्रा की ओर ही ध्यान दिया करते हैं।

किन्तु इसके लिए आवश्यक है मना की सरलता और सत्यनिष्ठा। आज के विद्यार्थी नकल करके अथवा अन्य प्रकार के छल-फरेब से और उससे भी काम न चले तो शिक्षकों को शिष्टतः देकर परीक्षाओं में नम्बर बढ़वा लेते हैं और अपने उत्तीर्ण होने का प्रमाण पत्र बनवा लेते हैं। ऐसा ज्ञान जो कि असत्य की नींव पर खड़ा होता है, जीवन को उन्नत नहीं बना सकता। इसलिए ज्ञानार्थी को निर्दोष भाव से ज्ञानाराधन करना चाहिये।

सत्यवादिता का पुरस्कार

गोपालकृष्ण गोखले बचपन में जब स्कूल में पढ़ा करते थे, एक दिन उनके अध्यापक ने अंकगणित के कुछ प्रश्न विद्यार्थियों को करने के लिए दिये।

गोखले से वे प्रश्न हल नहीं किए गये तो उन्होंने अपने एक मित्र की सहायता ली और सवाल कर लिये। अगले दिन स्कूल में अध्यापक ने सब छात्रों की कार्पियाँ जाँची तो गोखले की पीठ थपथपाते हँसू कहा—

“सब छात्रों की अपेक्षा गोखले के सवाल सही हैं अतः मैं इसे पुरस्कार देता हूँ।”

किन्तु गोखले यह सुनकर फूट-फूट कर रो पड़े। अध्यापक ने चकित होकर पूछा - “रोते क्यों हो तुम?”

“मैंने आज आपको धोखा दिया है! मुझे इसका दण्ड मिलना चाहिये पर आप उलटे पुरस्कार दे रहे हैं।”

“कैसा घोखा ?” अध्यापक का प्रश्न था।”

ये गणित के सवाल मैंने स्वयं नहीं किये, अपने मित्र की सहायता से किये हैं।” गोखले पुनः रो पड़े।

शिक्षक ने अत्यन्त प्रसन्न होकर पुनः गोखले की पीठ थपथपाई और गद्गद् होकर कहा — “तुम सत्यवादी बालक हो! अतः अब यह पुरस्कार मैं तुम्हें तुम्हारी सत्यवादिता के लिये देता हूँ।”

बचपन से ही सत्य पर दृढ़ रहने वाले बालक गोखले एक दिन देश के महान नेता बने। इस प्रकार के बालक ही सच्ची ज्ञान-साधना कर सकते हैं —

कहने का अभिप्राय यही है कि गणित से पहले अंक जोड़ के समान ही शैशवावस्था से पचीस वर्ष की अवस्था तक ज्ञान को इकट्ठा करना चाहिये। उसमें कुछ न कुछ जोड़ते रहना चाहिए घटाना नहीं।

गृहस्थाश्रम

पचीस वर्ष की वय के पश्चात् मनाव गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। अर्थात् विवाह करके माता, पत्नी आदि सभी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ गृहस्थ-धर्म का पालन करता है। विवाहित हो जाने के बाद यह पाँचों इन्द्रियों के सुखों का अनुभव करता है। किन्तु ध्यान रखने की बात है कि यह दूसरा आश्रम है। इसमें कुछ इकट्ठा नहीं होता, उलटे खर्च होता है।

जिस प्रकार गणित के दूसरे अंक ‘बाकी’ में कुछ घटता ही जाता है। आप जानते ही हैं कि दस में से तीन निकालो तो सात रह जाते हैं तथा सात में से चार निकालो तो तीन ही बचते हैं। यानी ‘बाकी’ में बस घटना ही घटना होता है। इसमें बढ़ने का सवाल नहीं रहता। इसी प्रकार आश्रम के दूसरे भाग गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्याश्रम में जो इकट्ठा कर लिया जाता है वह घटने लगता है। उसमें बढ़ती नहीं होती। क्योंकि इस अवस्था में मन पर संयम नहीं रहता -दुष्करं चित्तरोधनम्। अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना अत्यन्त कठिन काम है। तभी किसी ने कहा है :—

क्वचिच्चित्तं तोषं क्वचिदपि च रोषं गमयति

क्वचिद् दोषं कोषं क्वचिदपि च मोषं कलयति॥

क्वचित् कृच्छ्रायत्तं क्वचिदपि च रोमेख्यं ह्यनुभवन्।

कदाऽवश्यं वश्यं ब्रजति च मुनीनामपि मनः॥

— मनुष्य का मन कभी संतोष धारण करता है तो कभी रोषाकुल हो जाता है, कभी महादोषमय बन जाता है तो कभी लक्ष्मी के भंडार भरने का विचार करा रहा है। कभी महावीर्य कर्म के वश में होता है तो कभी महा चिंताग्रस्त

हो दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार कभी दुःख और सुख का अनुभव करने वाला मन, जो मुनीश्वरों को वश में करना कठिन प्रतीत होता है वह मेरे वश में कब हो सकता है ?

तो जीवन का वह भाग जो असंयम और भोग विलास में व्यतीत होता है, जीवन को उन्नत कैसे बना सकता है ? अर्थात् बाकी के समान ही उसमें से कुछ न कुछ हास को प्राप्त होता है।

वान प्रस्थाश्रम

गणित का तीसरा अंग 'गुण' कहलाता है। इसमें संख्या 'जोड़' की अपेक्षा कई गुनी बढ़ती है। दो को तीन से गुणा करो छः होते हैं और छः को चार से गुणा करो तो चौबीस। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में आते आते मनुष्य के बेटे-बेटी, पौत्र-पौत्री व दौहित्र-दौहित्रियाँ आदि मिलकर परिवार की संख्या में बढ़ती करते जाते हैं।

किन्तु इस अवस्था से असंयम का तूफान कुछ शांत होने से तथा भोग-विलासों से ऊब हो जाने से मनुष्य के मन की भावनाएँ कुछ बदल चलती हैं। वह घर में रह कर भी तथा गृह-कार्य सम्पन्न करते हुए भी अपने दिल को टटोलने लगता है। तथा विचार करता है :—

नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं मित्राग्र पुत्राय वा।
नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं चित्ताभिरामस्त्रिवै॥
नो धत्तं किल मानुषं वरमिदं लाभमय लक्ष्म्यास्तथा।
किं त्वात्माद्वरणाय जन्म-जलधेर्धेनै वरं मानुषम्॥

—यह उत्तम मनुष्यत्व मुझे मित्र और पुत्रों के लिये प्राप्त नहीं हुआ है, यह मनुष्यत्व सुन्दर तथा मनोहारिणी सुन्दरियों के विलास सुख के लिये नहीं मिला है। यह उत्तम मनुष्यत्व लक्ष्मी का भंडार भरने के लिये प्राप्त नहीं हुआ है। वरन् यह मनुष्यत्व इस भयंकर भव-रूपी सागर में डूबी हुई आत्मा के उद्धारार्थ मिला है।

इस प्रकार विवेक के जागृत हो जाने पर भव्य प्राणी जीवन और जगत के रहस्य को समझने में लग जाता है। वह जाना लेता है कि

अनित्यं यौवनं रूपं, मोक्षितं द्रव्यसंचयः।
ऐश्वर्यप्रिवसंवासो, मुह्यतेऽत्र न पंडितः॥

— युवावस्था, रूप, जीतव्य, द्रव्य-भंडार, ऐश्वर्य सगे सम्बन्धियों का सहवास और पत्नी-सुख आदि हमेशा रहने वाले नहीं हैं इसलिये चतुर और विद्वान् पुरुष इनमें मोहित नहीं होते तथा सुख-दुःख में समान रहते हैं।

इस प्रकार वानप्रस्थाश्रम में मानव रूपने हृदय का मंथन करता हुआ आत्मोन्नति

के मार्ग की पहचान करता है। संसार के तत्त्वभाव को समझता है तथा सही मार्ग को अपने ज्ञान एवं विवेक के द्वारा जान कर उस पर चलने के लिये कटिबद्ध हो जाता है।

संन्यासाश्रम

यह जीवन का चौथा भाग है, और अत्यन्त महत्वपूर्ण है। गणित का चौथा अंग भागाकार है। भाग करने पर जिस प्रकार हिस्सा निकाला जाता है, उसी प्रकार जीवन में से भी हिस्सा निकालो! दुनियादोगों के लिये तो तुमने खूब खर्च किया किन्तु परमार्थ के लिये क्या निकाला? सेवा भक्ति, ईश-स्मरण और परोपकार के लिये भी अपना समय और द्रव्य निकालो। अपने घर के लिये तो सभी करते हैं इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। समाज, देश और राष्ट्र के लिये भी कुछ करो! जीवन में सिर्फ इकट्ठा ही करते गए, जोड़ गइरली, गुणाकार कर लिया, मगर परमार्थ के लिये कुछ नहीं निकाला तो जीवन की क्या सार्थकता होगी?

बंधुओ, जिस प्रकार गणित में भागाकार असली तत्व है उसी प्रकार बताए गए तीन आश्रम पूर्वपीठिका हैं। असली तत्व तो भागाकार के समान संन्यासाश्रम है। अगर इसमें भी आपने कुछ लाम उठा लिया तो सब बिगड़ा हुआ सुधर सकता है। जैसे कूर्छ में सारी रस्सी गिर जाने पर भी अगर चार अंगुल की डोरी हाथ में रह जाए तो घड़ा, लोटा या बाल्टी निकल जाती है, उसी प्रकार जीवन का अधिकांश भाग या तीन आश्रम चले जाने पर भी अगर अन्तिम भाग में मानव चेत जाय तो जीवन सफल बनाया जा सकता है।

चारवर्ष की उम्र

संत वायजीद से एक व्यक्ति ने पूछा — “महात्मन्! आपकी उम्र क्या है?”

संत ने उत्तर दिया— “चार साल।

व्यक्ति चौंक पड़ा। बोला — ‘यह कैसे?’

वायजीद ने उसे समझाया — “फ़ी जिन्दगी के रात्तर साल तो दुनियाँ के प्रपंच में गुजर गये। सिर्फ चार वरस र्त में प्रभु की ओर देख रहा हूँ। बस, जितना समय उसके नजदीक बीता है वही मेरा असली जीवन काल है।”

संन्यासाश्रम में अर्थात् जीवन के अन्तिम वर्षों में तो मनुष्य की इस प्रकार की चित्तवृत्ति होनी ही चाहिए। उसे आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लेना चाहिये। तथा भली-भाँति जान लेना चाहिए कि —

मानव दानव देव नारकी कीट पतंग नहीं हैं,
चाकर-ठाकुर-स्वामी-सेवक राजा-प्रजा नहीं हैं।

लोकालोक त्रिलोकी हूँ मैं, चिदानन्दमय चेतन,
हैं ये सब पर्याय द्रव्यमय, मैं हूँ शुद्ध सनातन।

ऐसा समझ लेने वाला मुमुक्षु सदा जागृत रहता है। वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ में नहीं खोता। ऐसे ही एक तपस्वी दिन-रात भगवान का भजन करते जाते थे। किसी व्यक्ति ने उनसे पूछ लिया — “आप रात्रि में कुछ देर सो क्यों नहीं लेते?”

तपस्वी बोले — “भाई, मेरे नींद तो नरक की आग जल रही है तथा ऊपर से दिव्य राज्य आवाहन कर रहा है। फिर मुझे नींद कैसे आ सकती है?”

बंधुओ, जीवन के गणित को आपका समझ लिया होगा। जिस प्रकार स्कूल में जोड़, बाकी, गुणाकार एवं भागाकार सिखाया जाता है, इसी प्रकार हमारे यहाँ पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो जैसा गैरे अभी मैंने बताया, जोड़, ब्रह्मचर्याश्रम है, बाकी गृहस्थाश्रम है, गुणाकार वानप्रस्थाश्रम और भागाकार संन्यासाश्रम है। जीवन के चार भाग कर दिये गए हैं और उसकी अनुसार प्रत्येक का कार्य भी बताया गया है। किन्तु एक बात मैं और बताना चाहता हूँ।

लकीर के फकीर नहीं बनना है।

यद्यपि जीवन चार आश्रमों में बँटा है पर हमें लकीर का फकीर बनकर धर्म-कार्य को, पारमार्थिक कार्य को इनके अनुसार ही जीवन के अन्तिम भाग में ही नहीं करना है। अर्थात् इससे पहले हस्त में लेना ही नहीं है ऐसा आप मत समझ लेना। इसके लिए तो ‘जब हम ज्यों तभी सबेरा’। यह कहावत चरितार्थ हो सकती है। धर्म कार्य के लिए समय की प्रतीक्षा करना बड़ी नासमझी है। हमारे संत-इतिहास में तो गजसुकुमाल और ऐवन्ता मुनि जैसे अनेकों महापुरुषों के विषय में बताया गया है, कि उन्होंने बचपन में ही संसार से विरक्त होकर संयम अंगीकार किया तथा अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया ॥

विद्यार्थियों! आप ऐसा न भी कर सकें तो भी आपको अभी से अपनी भावनाओं को उत्तम और संस्कारयुक्त बनाना चाहिये। अगर आपका ध्यान इस लघु-वय से ही सदगुण-संचय की ओर रहेगा तो आपकी शिक्षा में चार चाँद लग जाएँगे। कागज के फूल खुशबू के अभाव में आपकी शिक्षा किसी को मुग्ध नहीं कर सकती तथा स्वयं आपको भी लाभदायक नहीं हो सकती। इसलिए आपको सदगुणों की वृद्धि का निरन्तर ध्यान रखना है। यह नहीं भूलना है कि आप जो शिक्षण लेते हो वह केवल सदगुणों की वृद्धि के लिए है।

सदगुण-संचय कैसे हो?

सदगुणों का संयम केवल पुस्तकें पढ़ने से नहीं होता। वह होता है सत्संग से। आप अनुभवी और गुणी पुरुषों के सम्पर्क में रहें तथा संत-समागम करें तो

निश्चय ही दया, सेवा, परोपकार, करुणा, सहिष्णुता आदि अनेकानेक सद्गुणों के अंकुर आपके हृदय में जम जाएँ। आवश्यकता है त्यागी एवं साधु-पुरुषों के समीप आने की, उनकी संगत में रुचि लेने की। संतों के पास आने की भावना भी पुण्योदय से होती है, जिनके पुण्य का उदय नहीं होता, उनके लिए सत्संग की भावना का हृदय में उदय होना ही कर्त्तव्य होता है, संत-दर्शन तो महादुर्लभ है ही। कहा भी है कि संसार में सभी कुछ मिलना सुलभ है किन्तु संत-समागम होना अति दुर्लभ है —

तत्त मिले पुनि मात मिले सुत श्रात मिले युवती सुखदाई,
राज मिले गजराज मिले सब साज मिले मनवांछित पाई।
लोक मिले सुरलोक मिले विधिलोक मिले वैकुण्ठको जाई,
सुन्दर और मिले सब ही सुख संतसमागम दुर्लभ भाई।

अभिप्राय यही है कि अन्य सभी कुछ प्राप्त हो सकता है सरलता से, किन्तु सुसंत का मिलना बड़ा कठिन होता है। भेषधारी बाबा, साधु, संन्यासी, योगी तथा यती आदि अनेक मिल जाते हैं किन्तु जो सच्चे अर्थों में साधु कहे जाने योग्य हैं वे क्वचित् ही सद्भाग्य से मिलते हैं। अतः जब भी आपको ऐसा सुयोग मिले उसका लाभ उठाने से मत चूको! प्राद रखो कि मनुष्य जैसी संगति करता है उसमें वैसे ही गुण आते हैं। त्यागी पुरुषों की संगति से त्याग का पाठ सीखने को मिलता है तथा भोगियों के सहवास से भोगों की ओर मन उन्मुख होने लगता है। शराबी के साथ रहने से कभी न कभी शराब की लत पड़ जाती है और गवैये के साथ रहने से गाने की। सारांश। मेरे कहने का यही है कि जैसे की संगति में रहो कुछ न कुछ असर आए बिना नहीं रह सकता है। एक दोहे में कहा भी है :-

काजर केरी कोठरी में, लैसो ही सयानो जाय
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।

भावार्थ इसका यही है कि व्यक्ति कितना भी सयाना क्यों न हो, अगर कुसंगियों के साथ रहेगा तो कुछ न कुछ दुर्गुण उसके हृदय में घर किये बिना नहीं रहेंगे।

समय की प्रतीक्षा मत करो !

इसलिये उत्साही छात्रों! अपनी लगन और बुद्धि को तुम्हें अच्छाई की ओर ले जाना है। अपनी शक्ति को सम्यक् मोड़ देकर जीवन को सफल बनाने का प्रयास करना है। इसके लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करनी है। शुभ-कार्य जिस समय से प्रारम्भ किया जाय वही उत्तम समय होता है। उचित समय की प्रतीक्षा प्रमादी व्यक्ति करते हैं, किन्तु प्रतीक्षा में ही पुरुषार्थ करने का अवसर बीत जाता है और अन्त में पश्चात्ताप ही हाथ आता है। हाथ मलते हुए उन्हें यही कहना

पड़ता है :-

ज्ञानं नाधिगतं कुक्कर्मदहनं दत्तं न दत्तं वरं,
नो लेभे गुणगौरवं गुरुजनादायिः प्रमत्तदे मुदम्।
संतपन्नयवारणोऽमितगुणो धर्मो न धत्तस्तथा,
हाहा मुग्धधिया मया हि भगवन्! मोक्षीकृतं मानुषम्॥

हे भगवन्! इस संसार में चिन्तामणि रत्न के समान मानव जीवन को प्राप्त करके भी मैंने कुकर्मों को नाश करने के लिए सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं किया, सद्गुरु की सेवा करके उनका आन्तरिक आशीर्वाद रूपी मिष्ट-प्रसाद नहीं पाया तथा त्रय तारों का नाश करने वाला और अनेकानेक उत्तम गुणों वाला पवित्र धर्म भी धारण नहीं किया, अतः निश्चय ही प्रभो! मैंने इस अमूल्य जन्म को निष्फल खो दिया है।

इसलिये बंधुओ! हमें अपने मानव जीवन को सार्थक करना है। संसार में आए हैं तो कुछ करके जाना है। गुणों का उपार्जन करना है। गुनाहों का नहीं। चाहते तो सभी यही हैं कि हम गुणों का उपार्जन करें, किन्तु इकट्ठे हो जाते हैं गुनाह। इसका कारण यही है कि चाहते हुए भी हमारा अपने मन पर संयम नहीं रहता। हममें समता और सहिष्णुता के भाव नहीं पनप पाते। अहंकार का विषधर प्रतिपल अपना फन फैलाए खड़ा रहता है और समता, सद्गुण उससे भयभीत होकर आने का प्रयत्न करके भी भाग खड़े होते हैं। जब तक इसका नाश नहीं होता जीवन में समभाव का उदय नहीं हो सकता। एक मराठी कवि ने कहा है :-

घणा चे घाव सोसावें,
देश्ववा देवपङ्क पावे।

- घनों की चोटें खाकर ही देवत्व प्राप्त होता है।

पिछली बार मैंने मंदिर में स्थापित मूर्ति और खम्भे का उदाहरण देकर यही बात समझाई थी। पत्थर ने घनों की तथा टोंकी की चोटें खाई, तब उसमें आकृति आई। आकृति आने पर मूर्ति बनी और मूर्ति बनने पर वह वन्दनीय बनी। पत्थर की पूजा कोई नहीं करता, उसको अनेक कष्ट व चोटें सहने पर ही वंदन किया जाता है। और देवता माना जाता है।

हमें भी देवत्व प्राप्त करने के लिए गुरु की ताड़ना और आक्रोश सहन करना पड़ेगा। अभिमान को त्यागकर नम्रता एवं विनय पूर्वक सद्उपदेशों को हृदयंगम करना होगा। केवल श्रवण-मात्र से ही आत्मा को लाभ नहीं होता। लाभ होता है उपदेशों को आचरण में लाने से। अन्यथा तो आपके सुनने में आया ही होगा :-

चार कोस का मांडला, वे बाणी का धोरा।

भारी कर्मा जीवड़ा, उंहं भी रह गया कोरा॥

तीर्थंकर प्रभु की धर्मसभा चार-चर कोस तक होती है। हमारे जीव ने अवतारी पुरुष, तीर्थंकर भगवान की वार्णा भी सुनी किन्तु उसे आचरण में नहीं उतारा अतः कोरे ही रह गए। पहले कुछ भी नहीं पड़ा। पर अब ऐसा नहीं करना है। शास्त्र-श्रवण और सदुपदेशों को जीवन में उतारकर उत्तरोत्तर आत्मा को निर्मल और उन्नत बनाते जाना है तभी हमारा मानव जीवन सार्थक बन सकेगा। क्योंकि ऐसा जन्म बार-बार नहीं मिलता।

• • •

[५]

कषाय - विजय

धर्म प्रेमी बंधुओं! माताओं एवं बहनों!

अनादिकाल से मानव के मन में अपने अभ्युदय की अमर आकांक्षा रही है। किन्तु दुःख है कि कोटि प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण नहीं हो पाई। क्यों नहीं हो पाई? और उसके मूल में बाधक कारण कौन-कौन से हैं? यही आज हमें जानना है, और आत्मा को अवनति की ओर अग्रसर करनेवाले उन घातक कारणों को समूल नष्ट करने का प्रयास प्रारंभ करना है।

आत्मा को स्वभाव दशा से विमोक्ष दशा में ले जाने वाले तथा जन्म-मरण की कठोर श्रृंखलाओं में जकड़नेवाले चार कषाय विजय हैं। क्रोध, मान, माया एवं लोभ। ये ही चतुष्काय आत्मा के सद्गुणों का नाश करते हैं तथा उसे ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधोगामी बना देते हैं। कहा भी है -

कोहो पीडं पणासेइ, माणो विणग्गसणो।

माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सब्बविणासणो॥

अर्थात् क्रोध आत्मा के प्रीति गुण का नाश करता है, मान विनय गुण का, माया का और लोभ उसकी समस्त विशेषताओं को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार हमारी आत्मा जो 'जीवराज' है सत्-चित्-आनन्दमय है, और निर्विकार और निष्कलंक है तथा अनन्त शक्तिशालिनी है, इन कषायों के फेर में पड़कर अपनी दिव्यता को खो बैठती है। तथा कर्मों के आवरणों से वेष्टित होकर जन्म-जन्मातरं तक नाना योनियों में परिभ्रमण करती रहती है।

कर्मों और कषायों के वश होकर प्राणी नाना,

कार्यों को धारण करता है तजता है जग जाना॥

कवि का कथन यथार्थ है। अष्टकर्म आत्मा के शत्रु हैं और वे ही इसे गतियों में चक्कर खिलाया है। ठीक इसी प्रकार मदासी अपनी इच्छानुसार बन्दर को नचाया करता है। फिर भी अनेक व्यक्ति कर्मों के फल में शंका करते हुए कहते हैं - संसार में प्रायः यही देखा जाता है कि हिसक, अत्याचारी, अनाचारी, और अनेक प्रकार के कुकर्म करने वाले व्यक्ति तो सुख-पूर्वक जीवन बिताते हैं और ईमानदार, धर्मात्मा, सदाचारी तथा परोपकारी पुरुष अपना संपूर्ण जीवन अभाव

तथा कष्टों में गुजास्ते हैं। इससे यही साबित होता है कि दुष्ट व्यक्तियों को अपने कुकर्माँ का, तथा सत्पुरुषों को अपने सुकर्माँ का फल नहीं मिला करता।

ऐसे शंकाशील व्यक्तियों को यह भली-भाँति जानना चाहिए कि कर्मवाद बड़ा गहन है। इसका गहराई से अध्ययन करने पर ही कर्माँ की प्रकृतियों को समझा जा सकता है। यथा - कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो अन्तर्मुहुर्त के बाद ही फल देना प्रारम्भ कर देते हैं, कुछ कर्म दिनों, महीनों और वर्षों के पश्चात् फल प्रदान करते हैं और कुछ निबिड़ कर्म ऐसे होते हैं जो कि जन्मजन्मान्तरों तक भी आत्मा का पीछा नहीं छोड़ते तथा समय-समय पर शुभ अथवा अशुभ फल दिया करते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी उनके नियत समय को टाला नहीं जा सकता। महाभारत में भी बताया गया है -

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि न फलानि च।

स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कां पुराकृतम्॥

जैसे वृक्षों पर फूल और फल बिना किसी प्रेरणा के अपने समय पर लग जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी अपने फल प्रदान के समय का उल्लंघन नहीं करते।

इसलिये कर्म-बंधन के प्रधान कारण तथा दुःख व अशांति के बीज रूप कषायों से प्रत्येक मानव को बचने का प्राप्ति करना अनिवार्य है। दशवैकालिक सूत्र में भी यही निर्देश किया गया है -

वमे चत्वारि दोषाः हृच्छन्तो हियमप्पजो।

इसका अर्थ है - अपना हित चाहने वाला प्राणी इन चारों दोषों का वमन करता है, अर्थात् इन्हें त्याग देता है।

जब तक कषाय मन्द नहीं होते तब तक सुख एवं शांति प्राप्त करने के समस्त बाह्य प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार शीतल जल के चंद छींटे दूध के उफान को नहीं रोक पाते, उसी प्रकार पूजा-पाठ भजन व प्रयत्न, श्रमण आदि बाह्य क्रियाएँ भी कषायों की वहि से झुलमती हुई आत्मा को शीतलता प्रदान नहीं कर सकती। कषायों की करामातों का पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषिजी महाराज ने अपने पद्य में अत्यंत रुचिकर ढंग से वर्णन किया है। लिखा है -

प्रेम से जुंझारसिंह वश किया धिंवराज,
मानसिंह, मायीदास, मिलिया छारों भाई हैं।
कर्मचन्द काठा भया, रूपचन्द को से प्यार,
धनराज जी की बात चाहत सदा ही है।
ज्ञानचन्द जी की बात, सुने न ईतनराम,
आवे नहीं दयाचन्द, सदा सुखवाड़ी है।
कहत तिलोकरिख मनाई लीजे रूपचन्द,
नहीं तो कालूराम आया विपत भवाड़ी है।

पद्य मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षा-प्रद भी है। यद्यपि कवि ने इसमें व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग किया है किन्तु इनके पीछे रहस्यमय तरीके से कथायों के कुप्रभावों का दिग्दर्शन किया गया है।

पद्य में लोभ को प्रेमसिंह की, क्रोध को जुंझारसिंह की, अभिमान को मानसिंह की तथा माया या कपट को भायीदास की शृंगसूचक संज्ञा से विभूषित किया है। तथा बताया है कि, ये चारों भाई, दूसरे शब्दों में यह चण्डाल चौकड़ी जीवात्मा को सरोते के बीच में दबी हुई सुपारी के समान जकड़ लेती है तथा कतरी जाती हुई सुपारी के समान नाना प्रकार के कष्टों में डालती है।

क्रोध

जिसे जुंझारसिंह नाम से सम्बोधित किया गया है, उसका आक्रमण होने पर व्यक्ति बेमान हो जाता है तथा हिताहित का ज्ञान भूलकर अकरणीय करने पर उतारू हो जाता है। आवेश के कारण उसके विवेकरूपी नेत्र बन्द हो जाते हैं। किन्तु जिह्वा उचित-अनुचित का भान छोड़कर इच्छानुसार कह जाती है। किसी पाश्चात्य विद्वान का भी कथन है -

“Any angry man opens his mouth and shuts his eyes.”

क्रोधी व्यक्ति अपने मुँह को खुला रखता है पर आँखों को बंद कर लेता है।

तात्पर्य यही है कि वह विवेकपूर्वक विचार करना छोड़कर अकथनीय कहता है, वह यह नहीं देखता कि मैं किससे बात कर रहा हूँ। ऋषि भाषित सूत्र में भी बताया गया है -

कोवाविद्धा ण याणन्ति मातरं पितरं गुरुं।

आणिक्खिवन्ति साधु य रायाणो ऽश्वघाणि य॥

अर्थात् - क्रोधाविष्ट व्यक्ति की आँखें मूँद जाती हैं और उसके परिणाम स्वरूप वह अपनी माता को ही केवल नहीं देख पाता। वरन् गुरु, राजा और देवता को भी उनके सही रूप में न देखकर उनका अनादर कर बैठता है।

क्रोध एक तूफान के समान आता है और सर्वप्रथम विवेक की ज्योति बुझा देता है। विवेक के अभाव में वह क्रोधी शत्रु तो जलाता ही है साथ ही उसके कटुवचनों की चिंगारियाँ जिस किसी पर भी पड़ती हैं वह भी जलने लगता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध क्रोधी को तथा क्रोध के पात्र, दोनों को ही उत्तप्त करता है। इसलिए महापुरुष और मुमुक्षु प्राणी इससे कोशों दूर रहने का प्रयत्न करते हैं।

कहा जाता है कि सुकरात की पत्नी बड़ी कर्कशा थी। एकबार क्रोधावेश में उसने सुकरात का कोट फाड़ डाला। किन्तु वे पूर्ववत् शान्त रहे और मुस्कराने लगे, उसी समय उनका एक मित्र, जो उनसे मिलने आया था, बोला - “आपने

अपनी पत्नी से कुछ कहा क्यों नहीं ?”

सुकरात हँसते हुए बोले - “जैसे सईस बिगड़े हुए घोड़े को साधता है, मैं भी इसे सुधारने का प्रयत्न कर रहा हूँ, दूसरे इसके क्रोध को सहन करके संसार के अन्य व्यक्तियों के दुर्व्यवहार को सहन करना सीखता हूँ।” मित्र सुकरात की बात सुनकर मौन हो गया।

पद्य में क्रोध-रूप जुंझारसिंह के दूसरे मित्र का नाम मानसिंह दिया गया है। मानसिंह के नाम से अभिमान को संबोधित किया है। अभिमानी व्यक्ति अहंकार के कारण अपने आपको महान समझता है तथा औरों को तुच्छ। किन्तु इसका परिणाम उल्टा हो जाता है। भले ही वह स्वयं को महान समझे किन्तु संसार की नजरों में वह महान न रहकर क्षुद्र सोझेता होता है तथा लोगों की नजरों से गिर जाता है। कहा भी गया है :-

“मानेन सर्वजन-निन्दित-वैशरूपः।”

-अहंकार से सभी मनुष्यों द्वारा निंदा का पात्र ही बनना पड़ता है।

अभिमानी व्यक्ति का स्वभाव होता है कि वह औरों के कार्यों को नगण्य मानता हुआ अपने कार्यों को सर्वोत्तम साबित करे। उसके कान सर्वदा अपनी प्रशंसा सुनने के लिए आतुर रहते हैं। किन्तु उसकी इस आकांक्षा के पूर्ण होने में उसका अहंकार बाधक बन जाता है तथा उसकी प्रगति को रोक देता है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अभिमानी व्यक्ति गण को घृणने का प्रयत्न करता है किन्तु धराशायी होकर संसार के समक्ष उपहास का पात्र बनकर रह जाता है।

जुंझारसिंह और मानसिंह का तीसरा भाई है मायीदास। अर्थात् माया और कपट। माया हृदय की सरलता को नष्ट कर देती है तथा कुटिलता को आमंत्रित करती है। और हृदय में जहाँ कुटिलता आई। कि वहाँ से अन्य सदगुणों का लोप होना प्रारंभ हुआ समझिये। हृदय की वक्रता अथवा कपट साधक की समस्त साधना और तपस्या को मिट्टी में मिला देता है। भगवान् महार्वाच का कथन है -

जड़ विय नगिणे किसे चरे, जड़ विय भुंजिय मासमंतसो।

जे इह मायाई भिजई, आगता उभायणंतसो।

सूत्रकृतांग सूत्र

- साधना के क्षेत्र में साधक वस्त्रपात्रादि का परित्याग कर देता है, वर्षों तक नग्न रहकर घोर तपस्या करते हुए शरीर का खून व मांस सुखा देता है। किन्तु यदि वह माया की ग्रंथि का भेदन नहीं करता तो अन्ततः बार उसे गर्भ में आना पड़ता है।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति व मोक्षामिलायी साधक के लिए अनिवार्य है कि वह

कपट-रूप वक्रता का त्याग कर जीवन में सरलता को स्थान दे। सरलता के अभाव में की जाने वाली समस्त साधनाएँ केवल कायकेश ही होती हैं, वक्र हृदय में धर्म के अंकुर नहीं जमते। वह सरल आत्मा से ही टिकता है। क्योंकि सरलता से शुद्धता आती है और शुद्धता के आने पर धर्म का आना अनिवार्य है।

चण्डाल चौकड़ी के तीन मित्रों का वर्णन हम कर चुके हैं। अब चौथे का नम्बर है, जिसका नाम है प्रेमसिंह। प्रेमसिंह का ही दूसरा नाम है 'लोभ'। लोभ के विषय में आप लोगों को अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इससे आप चिर-परिचित हैं। कोई भी नई वस्तु देखें तो आपकी इच्छा होती है कि इसे प्राप्त करें। अपनी वस्तु से आपका संतोष नहीं होता, दूसरों की वस्तुओं को भी हड़पने की इच्छा होती है। कहाँ तक इसके विषय में कहा जाय? लोभ के आक्रमण के कारण आपके पास कितना भी धन-वैभव क्यों न इकट्ठा हो जाय, उससे भी अधिक पाने की लालसा बढ़ती है। इसीलिए कहा गया है -

जहा लाहो तहा लोहो लाहो लोहो पवइइइ।
दो मास कयं कज्जं कोडीए। वे न निठठयं॥

- उत्तराध्ययन ८

अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता जाता है। लाभ ही लोभ को बढ़ाता है। दो मासे सोने के लिए आया हुआ ब्राह्मण एक करोड़ में भी संतुष्ट नहीं हुआ।

लाभ और लोभ में विशेष अंतर नहीं है। सिर्फ एक मात्रा ही बढ़ती है। किन्तु उस मात्रा के कारण ही कितना अनर्थ होता है। लोभ के आते ही अनेक घर बर्बाद हो जाते हैं। आपने सुना होगा - अनेक ठग भोली बहनों को लोभ के फन्दे में फँसाकर लूट लेते हैं। एक तोला सोने का दस तोला सोना बना देने का तालव देते हैं और उनके मूल को भी ले उड़ते हैं। लोग यह नहीं सोचते कि उस धूर्त व्यक्ति में अगर इतनी शक्ति होती तो वह स्वयं दर-दर क्यों भटकता? पर लोभ का जाल ऐसा ही है कि व्यक्ति उधार लेकर भी उस में फँस जाते हैं।

लोभ पर विजय प्राप्त करने वाले सन्त महात्मा सदा सुखी रहते हैं। वास्तव में ही हमें कोई क्या ठगेगा? हमारे पास है भी क्या? पात्र लकड़ी के हैं, उन्हें लेकर कोई क्या करेगा? और वस्त्र फ्रीमित रहते हैं। पैसा-धैला रहता नहीं की उसकी चोरी का डर हो या ठगे जाना का। संक्षेप में यही कि हमें चोरी अथवा ठगी, दोनों में किसी का भी भय नहीं रहता। बुजुर्गों के द्वारा मैंने सुना था कि एक साहूकार की हवेली थी और उसका पास में ही एक स्थानक था। एक बार चोर आए। वे हवेली में घुसना चाहते थे, किन्तु स्थानक की खिड़की से उन्हें एक थैली वहीं पड़ी हुई दिखाई थी। चोर प्रसन्न हुए कि थैली में कुछ धन-माल

कवि श्री तिलोकऋषि जी म., जिन्होंने दस वर्ष की उम्र में दीक्षा ली और छब्बीस वर्ष तक कठोर संयम का पालन किया। छब्बीस वर्ष में उन्होंने असाधारण कार्य किया। साहित्य की रचना की, अनेक कविताओं का सृजन किया तथा सतत भ्रमण करके धर्म-प्रचार किया। अन्तिम बार वर्षों में तो महाराष्ट्र में भ्रमण करके आपने इतना काम किया, जितना हम बारह वर्षों में धुमकर भी नहीं कर सके। वे महान सन्त तिलोकऋषि जी म. कहते हैं -

भाई! एक बात मेरी मानो! मनाइ; लेहि नेमिचंद्र, अर्थात् नियम, व्रत त्याग प्रत्याख्यान आदि कुछ तो करो, जिससे आत्मा का कल्याण हो सके।

बन्धुओं, आप को जब त्याग-नियम लेने के लिए कहा जाता है तो आप कह देते हैं - "महाराज! बनता नहीं" पर याद रखो, एक दिन कालूराम जी (काल) आने वाले हैं। वे किसी को भी भेड़ने वाले नहीं। चाहे कोई डॉक्टर हो, वकील हो, या इंजीनियर। किसी भी साहस का कालचन्द्र जी को त्याग नहीं है। किसी ने सत्य कहा है-

डॉक्टर वैद्य बिचारे, लुकमान आदि हुए सारे,
सभी मौत से हारे, बार जिस किसी वै आया है।
तू क्यों करता अभिमान, मौत जब आनेवाली है।

हिन्दुओं में धन्वंतरी वैद्य और मुरारामानों में लुकमान हकीम। मैंने ऐसा भी सुना है कि ऐसे-ऐसे कुशल वैद्य हैं जो राजघरानों की रानियों और राजमाताओं को साक्षात् न देख सकने के कारण उनवेत हाथ में एक डोरी पकड़ा देते थे और उसे दुसरे सिरे पर थाम कर नाड़ी परीक्षा कर लेते थे। लेकिन उन्हें मौत से हारना पड़ा। काल की एक पुकार पर ही इस संसार को त्याग कर चल देना पड़ा।

इसी प्रकार प्रत्येक मानव को एवरे दिन इस संसार को छोड़ कर जाना पड़ेगा। यहाँ की एक भी वस्तु उसके साथ जाने वाली नहीं है। साथ जाएगा तो केवल शुभ और अशुभ कर्मों का गट्टर ही। अशुभ कर्मों की यह गटरी विषयकषायों की तीव्रता से ही अधिकाधिक भारी होती है और आत्मा को पुनः-पुनः जन्म मरण करने के लिए बाध्य करती है। ये ही वे कारण हैं, जिनके कारण मनुष्य मुक्ति की आकांक्षा रखते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता, अनन्त सुख की प्राप्ति की अभिलाषा होते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता तथा अनन्तकाल तक नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहता है। कहा भी है -

“कर्म-निबद्धो जीवः परिक्षमन् यातनां भुङ्क्ते।”

-सुबोध पद्माकर

- कर्म पाश में फँसा हुआ यह जीव जन्म मरण करता हुआ दुःखों को

भोगता है।

इसलिए, आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्य है कि जन्म मरण के मूल का सिंचन करने वाले इन विषय-कषायों से अलग रहने का प्रयत्न किया जाय। इन्हें समूल नष्ट करने में एकमात्र धर्म ही सहायक हो सकता है।

कषाय-विष नाशक धर्म

धर्म से हमारा तात्पर्य बाह्य अष्टांगर या दिखावे से नहीं है। पूजा-पाठ कर लेना, गंगास्नान कर आना, तिलक छापे लगा लेना या केवल मुख-वस्त्रिका बाँधकर अड़तालीस मिनट तक एक स्थान पर बैठ जाना ही धर्म नहीं हैं। व्रत जीवन में सदगुणों, सदवृत्तियों तथा अविकारी भावों का लाना ही धर्म है। दूसरे शब्दों में जीवन का मर्यादित एवं सुसंस्कृत होना ही धर्म है। सच्चा धर्म कषाय-विष का नाश करते हुए जीवन के लिए परम रसायन सिद्ध होता है। संक्षिप्त में धर्म की परिभाषा है -

“वत्थु स्यावे धम्मो।”

प्रत्येक वस्तु का जो सहज स्वभाव है वही धर्म है। यथा जल का स्वभाव शीतल रहना, अग्नि का स्वभाव उष्णता बनाए रखना, आकाश का स्वभाव अवकाश देना और भूमि का स्वभाव भारवहन करना है। उसी प्रकार आत्मा का सचा और सहज स्वभाव है, शुद्ध, निष्कलंक और निर्विकार होकर अनंत सौख्यप्रदान करने वाले लोक की ओर उठना तथा अपनी अनन्तशक्ति को जागृत करना।

किन्तु इस अनन्त शक्तिशाली आत्मा को भी विषय कषाय कर्म-बन्धनों में जकड़ लेते हैं। आप सब देखते हैं और अनुभव भी करते हैं कि इंद्रियों के द्वारा भोग-विलास के पदार्थों का उपभोग कर मन संतुष्ट होता है और ये भोगाभोग कर्म-बंधनों के कारण बनते हैं। किन्तु ये जड़ द्रव्य भी - सच्चिदानंद आत्मा को इतना नहीं बाँध सकते, जितना मन के विकारी भाव बाँधते हैं। मन के भावों से ही आत्मा बँधती है और उन्हीं से मुक्त भी होती है। इभीलिए कहा जाता है।

“यनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते।”

- विवेकचूडामणि

जिस मन की शक्ति के द्वारा संसार का बंधन किया जाता है, उसी मन की शक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

अतः मुक्ति के इच्छुक प्राणी को अपनी आकांक्षा पूर्ण करने के लिए इंद्रियों पर तथा मन पर अंकुश लगाना पड़ेगा। काम, क्रोध, मोह, लोभ आसक्ति तथा लालसा आदि पर विजय प्राप्त कर अनासक्ति और निर्वेद भाव को अपनाना होगा। क्योंकि जब तक मन पर विजय प्राप्त नहीं की जाएगी, कषायों के तुफानों को रोकना असंभव होगा। प्राणी उसी अवस्था में मुक्त हो सकेगा जबकी उसकी आत्मा

सांसारिक वासनाओं और क्रियाकांडों को ही धर्म समझने वाली अज्ञानता से मुक्त रहेगी। मोक्ष किसी अन्य स्थान पर नहीं होता है। वह स्वयं आत्मा में ही निहित होता है। एक श्लोक के द्वारा भी यही बताया गया है -

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।

अज्ञान-हृदय-ग्रन्थि-नाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

- मोक्ष किसी नियत स्थान पर रखा हुआ नहीं है और न ही उसे खोजने के लिए किसी दूसरे गांव जाना पड़ता है। हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है।

बंधुओ, अब आप समझ गए होंगे कि विषय और कषाय ही आत्मा के सहज स्वभाव और ज्ञान पर आवरण बन उठे हुए होते हैं और इन्हें हटा देने पर आत्मा अपने सहज स्वभाव को प्राप्त कर लेती है तथा सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके, अजर अमर शांतिमय लोक में अपना स्थान बनाती है। कषायों का परित्याग करने पर ही संसार को घटाने वाली प्रवृत्तियों का आविर्भाव होता है तथा कर्मों का आश्रय रुकता है। इसे ही धर्म नाम दी संज्ञा दी जाती है। ऐसे धर्म का ही वीतराग महापुरुषों ने निरूपण किया है जिसे अपनाना तथा उसमें बताए गए विधि - निषेधों का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। अगर वह ऐसा करने में समर्थ हो जाता है तो संसार की कोई भी शक्ति उसे शाश्वत सुख का अधिकारी बनने से नहीं रोक सकती।

ओम् शान्ति॥

• • •

[६]

ऐसे पुत्र से क्या... ?

ऐसे पुत्र से क्या.... ?

प्रत्येक व्यक्ति की अभिलाषा यही होती है कि उसे संसार के समस्त सुख उपलब्ध हों। प्रचुर मात्रा में धन-सम्पत्ति हो, पत्नी सुलक्षणा हो, भाई स्नेहशील हो तथा पुत्र सुपुत्र हों। इस प्रकार की अनेक कामनाएँ उसके हृदय में बनी रहती हैं। किन्तु अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये वह सही प्रयत्न नहीं करता। सुखों को चाहता है पर जिस रास्ते से सुख मिलते हैं उस रास्ते पर नहीं चलता। तब फिर सुख क्या यों ही मिल सकेगा? हम तप करें नहीं, शील पालें नहीं, दान दें नहीं और चाहें कि हमें सुख मिल जाय तो कैसे मिलेगा? इसी प्रकार स्कूल में भर्ती हो नहीं, घर पर अभ्यास करें नहीं और आकांक्षा रखें कि प्रिन्सिपल, हैडमास्टर, वकील या बैरिस्टर बन जायें तो क्या यह संभव हो सकेगा? कभी नहीं। समचरित मानस में कहा गया है :-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। निंबोली बोकर आम प्राप्त करना चाहे तो यह नहीं हो सकता। आम प्राप्त करने के लिये आम की गुठली ही जमीन में डालनी पड़ेगी। इसी प्रकार जिस प्रकार का फल मानव चाहता है उसके अनुसार ही उसे बीज बोना पड़ेगा। धन-प्राप्ति के लिये व्यापार, विद्वान बनने के लिये ज्ञानाभ्यास और पुत्र को सुपुत्र बनाने के लिये उसमें सुसंस्कारों का निक्षेप करना आवश्यक है।

हमारी अभिलाषा

इस वर्ष खुशालपुरा श्री संघ ने हमारा चातुर्मास करवाया है, इस सुसंयोग के परिणामस्वरूप हमारे दिल में भावना और तीव्र इच्छा है कि इस क्षेत्र में बालकों के लिये पढ़ाई की व्यवस्था हो। व्यावहारिक पढ़ाई तो बच्चों की होती ही है पर धार्मिक पढ़ाई भी होनी चाहिये। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जो चरित्र को ऊँचा उठाकर आत्मा को शुद्ध करे। हमारे शास्त्रों में कहा भी है :-

“सा विज्ञा या विमुक्तये।”

- विद्या बली है जो मुक्ति प्रदान करे।

वह विद्या, विद्या नहीं है जो आत्मा को सर्वोच्च स्थिति की ओर न ले जाए। जो मुक्त न करे और उलटे धर्म-बन्धनों में कसे वह विद्या कैसी? मुक्ति के समीप न ले जानी वाली शिक्षा वा शिक्षा के नाम पर दिया जाने वाला धोखा ही कहना चाहिये। मुक्ति की ओर ले जाने वाली शिक्षा नैतिकता एवं धर्म पर आधारित होती है। और वह शिक्षा जो नैतिकता के आधार पर खड़ी न की गई हो, बालक को उन्नति की ओर कैसे ले जा सकती है?

इसीलिये मेरी भावना है कि यहाँ पर बच्चों को सच्ची शिक्षा दिलाने का भी प्रबंध हो। धार्मिक शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। अगर आपने अपने बालकों को धार्मिक शिक्षण देकर संस्कारित नहीं किया तो वे आपकी प्रतिष्ठा, समाज की प्रतिष्ठा, और धर्म की प्रतिष्ठा कैसे रख सकेंगे? आप अपने बच्चों में संस्कार डालिये, उन्हें बताइये कि तुम्हें नीति पर चलना है, सच्चरित्र बनना है, व्यसनों से दूर रहना है, माता-पिता की तथा गुरु की आज्ञा मानना है, एवं धर्म की रक्षा करना है। ऐसे संस्कार डाले जाने पर ही तो आपके बालक सच्चे मनुष्य, सच्चे श्रावक तथा सच्चे महापुरुष बन सकेंगे।

होता क्या है?

आज के माता-पिता को तनिक भी फुरसत नहीं मिलती कि वे अपने बच्चों को सुबह-शाम थोड़ा वक्त निकालकर प्रशिक्षण दें, उन्हें उत्तम व्यवहार करने के तरीके बताएँ। और बिना घर उत्तम संस्कार डालें। केवल स्कूली शिक्षा पर निर्भर रहने का परिणाम क्या होता है, यह आप जानते हैं। वहाँ की शिक्षा दुर्युषों को जन्म देती है। स्कूल में बालकों को कहा जाता है - अण्डे खाओ! मांस, मछली, खाओ! इससे ताकत आएगी आदि आदि।'' ऐसा कहने वाले इस बात का ध्यान नहीं रखते कि मांस-मछली खाने से शरीर में बल-वृद्धि हो भी जाएगी तो मन और आत्मा का क्या होगा? शरीर को तो कितना भी पुष्ट किया जाय, वह इसी जन्म में एक दिन अग्नि में भस्म कर दिया जाएगा पर आत्मा के ऊपर जिन निबिड़ कर्मों की तहें जम जाएँगी उनसे फुटकारा कितने जन्मों में होगा? शायद अनन्त जन्मों में भी नहीं। इसके अलावा शरीर की स्वस्थता क्या मांस, मछली और अण्डों पर ही निर्भर है? जो व्यक्ति इन चीजों को खाना तो क्या देखना भी पसन्द नहीं करते, वे स्वस्थ नहीं रहते हैं क्या? देखा यही जाता है कि मांसाहारी व्यक्ति की अपेक्षा घी, दूध, दही तथा ऐसी ही अन्य चीजों का सेवन करने वाला शाकाहारी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ रहता है तथा दीर्घायु होता है। उसका मन, और वाणी सभी आकर्षक और प्रिय होते हैं। महात्मा कबीर ने अपनी सीधीसाधी भाषा में यही बात कही है -

जैसा अन-जल खाइये, तैसा ही मन होय।

जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥

पद के शब्द बिल्कुल सरल और साधारण हैं, किन्तु इनमें जो सत्य है

वह निर्विवाद रूप से सही है। मांसाहारी व्यक्ति केवल हिंसा और पाप का ही भागी नहीं बनता वरन् अतीव क्रोध और भोगलिप्सा का भी अधिकारी बनता है तथा असंख्य कर्मों का उपार्जन कर लेता है।

पंजाब में सरक्यूलर निकाला गया था कि विद्यार्थियों को अण्डे खाने के लिए दिये जायें। सरकारी कानून बना कि बच्चों को अण्डे दो। पर लोगों ने उसका घोर विरोध किया और कहा कि जो खाते हैं उन्हें भले ही दिये जायें पर नहीं खाने वालों के लिए यह दबाव क्यों? इस विषय में लोगों की अगणित अर्जियाँ पहुँची तब वह सरक्यूलर रद्द किया गया।

मांस नहीं पकाओगी तो मार्क कम मिलेंगे

हम जब हांसी (पंजाब) में थे, हमें देखा, एक वकील जोकि जैन श्रावक थे, उनकी पुत्री स्कूल में अध्ययन कर रही थी। स्कूल की प्रधानाध्यापिका ने लड़की से कहा - "तुम मांस पकाना सीखो!"

लड़की ने उत्तर दिया - मैंने जिन्दगी में मांस देखा ही नहीं तो फिर पकाना कैसा? मैं मांस पकाने का काम नहीं कर सकती।

प्रधानाध्यापिका ने उसे भय दिखाया - "अगर मांस नहीं पकाओगी तो तुम्हें मार्क कम मिलेंगे।"

लड़की ने घर आकर अपने पिता से सारी बात बताई कि मांस न पकाने पर बहनजी नम्बर कम देने को कह रही हैं। पिता वकील ठहरे, बोले - "अगर ऐसा है तो यह बात तुम अपनी मिस्ट्रेस से लिखवाकर ले आओ।"

लड़की ने स्कूल जाकर अपनी टीजर से कह दिया - "आप हमें यह बात लिखकर दीजिये उस पर हम विचार करेंगे।"

पर बहनजी लिखकर कैसे देती? फँस जातीं- न! बोली हम लिखकर -नहीं देते, पर अपना सरक्यूलर यही है।

इस पर छात्रा ने कह दिया - "आप लिखकर नहीं देती तो मैं भी मांस नहीं पकाती।"

बी.ए. के बाद मैं वही लड़की विदेश भी गई। और उच्च अध्ययन प्राप्त किया। यह उदाहरण देने से मेरा अभिप्राय यही है कि उस लड़की की दृढ़ता और माता-पिता के डले हुए उत्तम संस्कारों के कारण ही वह कठिनाई से बच सकी। अन्यथा उसे वह निषिद्ध कार्य करना पड़ता और फिर अहिंसा-धर्म का पालन नहीं होता। आप सोचेंगे कि मांस पकाने में इसे हिंसा का भागी क्यों बनना पड़ता? इसका उत्तर यही है कि केवल प्राणिघात करना ही हिंसा नहीं है। हिन्दुओं के मान्यग्रन्थ मनुस्मृति में हिंसा के आठ प्रकार बताये गये हैं। अर्थात् आठ प्रकार के कसाई कहे गये हैं।

कसाई कौन-कौन?

अनुमता, विशसिता, निहंता क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति अष्टमः॥

- मनुस्मृति

- १) अनुमता - जो अनुमोदन करे। जैसे - 'यह जानवर काटने लायक है, इसका माँस बढ़िया होगा।' यद्यपि व्यक्ति ने किसी जानवर को मारा नहीं है, केवल अनुमोदन किया है। तब भी वह मनुस्मृति के अनुसार कसाई है।
- २) विशसिता - अलग-अलग टुकड़े करना। खाया नहीं, पर टुकड़ों में विभाजित किया, ऐसा व्यक्ति भी कसाई है।
- ३) निहंता - मारने वाला। व्यक्ति स्वयं खाये चाहे नहीं, किन्तु जीवों को अगर मारता है तो कसाई कहलाता है।
- ४) क्रयी - माँस खरीदने वाला भी कसाई है।
- ५) विक्रयी - माँस बेचने वाला भी कसाई कहलाता है। अर्थात् माँस को बेचने और खरीदने वाले दोनों ही कसाई होते हैं।
- ६) संस्कर्ता - माँस का संस्कार करने वाला व्यक्ति कसाई कहलाता है।
- ७) उपहर्ता - माँस परोसने वाले को कसाई कहते हैं।
- ८) खादक - माँस खाने वाला भी कसाई माना जाता है।

इस प्रकार मनुस्मृति में आठ प्रकार के कसाई माने गए हैं।

माँसाहार सर्वथा निषिद्ध है

बंधुओ, जहाँ माँसाहार होता है वहाँ करुणा की भावना नहीं रहती, अहिंसा की रक्षा नहीं होती। आपको एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म में दया, करुणा, क्षमा और परोपकार की भावना को धर्म का अंग माना गया है। और दूसरे शब्दों में हिंसा को हेय माना गया है। मुस्लिम जाति जिसे प्रायः कसाई के नाम से ही पुकारते हैं, उनके धर्म-शास्त्र 'कुरान' में भी लिखा है :-

वलाहो ला मुहिब्बुल जालमीन। अला इन्नजालमीन मी अजाबिन मुकीम॥

अर्थात् खुदा जालियों से कभी प्रेम नहीं करता। याद रखो कि अत्याचारी व्यक्ति सदा के लिए कष्ट सहन करेंगे।

इसी प्रकार ईसाइयों के धर्मग्रंथ इंजील में कहा गया है :-

"Thou shalt not kill."

- तू किसी का भी वध नहीं करेगा।

इसी प्रकार 'भगवद् गीता' बौद्धग्रंथ आदि सभी एक स्वर से हिंसा को वर्जित मानते हैं। और जैनधर्म का तो प्राण ही अहिंसा है। कहा भी है :-

अहिंसा परमोधर्मस्तथाऽहिंसा गरो दमः ।

अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं फलम् ।

अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥

- अहिंसा परम धर्म, अहिंसा परम दान है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम यज्ञ और उसका फल है तथा अहिंसा ही परम मित्र और परम सुख है।

संक्षेप में अहिंसा ही समस्त शुभ-कृत्याओं का एवं समस्त सदगुणों का मूल है। इसके अभाव में दया का पालन नहीं रहता। गौतमकुलक नाम के ग्रंथ में, जिसमें केवल बीस गाथाएँ हैं, लिखा है :-

“मंसे पसत्तस्स ज्जाइ नासो।”

- जहाँ माँस खाने की भावना होगी वहाँ दया का नाश है।

बालकों में धार्मिक संस्कार किस प्रकार पनपें?

यह विचार करने की बात है कि धार्मिक संस्कार किस प्रकार टिके रहें? तथा हमारे बालकों में धर्म के ये अंकुर किस प्रकार पनपें? घर में माता-पिता को समय मिलता नहीं, स्कूलों में धार्मिक शिक्षण दिया जाता नहीं और संतों के पास आने में बच्चों को शर्म आती है। फिर संस्कार कैसे डाले जा सकेंगे?

इसीलिये मैं चाहता हूँ कि आपने हमारा चातुर्मास कराया है तो कम से कम धार्मिक शिक्षण के लिए जरूर व्यवस्था हो। धार्मिक शिक्षण नहीं होगा तो धर्म कैसे टिकेगा? धर्म करने वाले हों तभी धर्म टिकता है। संस्कृत में कहा गया है :-

“न धर्मो धर्मिकैर्विना।”

धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं रहता।

अतः अगर धर्म को टिकाना है तो अपने बच्चों को धर्म-संस्कारों से युक्त बनाओ। अन्यथा आप उनके हित-चिन्तक नहीं, वरन् अहितकारी साबित होंगे। एक सुभाषित में कहा है :-

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः।

शोभते न सभामध्ये, हंसमध्ये गक्रोयथा॥

वह माता शत्रु और पिता वैरी हैं जिन्होंने अपने बच्चों को पढ़ाया नहीं। अर्थात् उनमें उत्तम संस्कार नहीं डाले। क्योंकि अशिक्षित और असंस्कारी बालक

बड़े होने पर सभा-सोसाइटियों में हंसों के बीच में बगुलों के समान शोभाहीन मालूम देते हैं।

सच्चे अर्थों में माता-पिता

नवजात शिशु इस पृथ्वी पर जन्म लेते ही जिनके सम्पर्क में आता है वे उसके माता-पिता ही होते हैं। माता-पिता जिस प्रकार अपने बच्चे को बनाना चाहते हैं वह वैसा ही बन जाता है। माता-पिता ही बालक को चोर-डाकू या महापुरुष बना सकते हैं। पिता की सतर्कता और माता की लगन ही बालक के उज्ज्वल भविष्य के निर्माण में सहायक बन सकती हैं। कोई भी पुत्र तब तक सुपुत्र नहीं बन सकता, जब तक उसके माता-पिता उसे सही मार्ग-दर्शन न करें।

गाँधी जी की माता तो उनके गुवावस्था प्राप्त होने तक भी पूर्ण सजग रही थीं। उन्होंने गाँधीजी को विलायत भी तभी जाने दिया जब एक स्थानकवासी मुनिराज से मद्य-पान, मौस-भक्षण और परुषी-गमन का उन्हें त्याग करा दिया। ऐसी माताएँ ही अपने बच्चों को धार्मिक और पुनःसंस्कारी बना सकती हैं तथा सुसंस्कृत पुरुष ही अपने माता-पिता के गौरव को अक्षय रख सकते हैं।

विलायत नहीं जाऊँगा

श्री आशुतोष मुखर्जी जब कलकत्ता मद्रिकोर्ट के जज और कलकत्ता विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर थे, उन्हें विलायत जाना का अवसर मिला। वे स्वयं जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर अपनी माता से विदेश यात्रा के लिए आज्ञा लेने गए। किन्तु धार्मिक विचारों से परिपूर्ण हृदयवाली उनकी माता ने उन्हें विदेश जाने की अनुमति नहीं दी। मातृ-भक्त मुखर्जी ने उसी क्षण विदेश जाने का विचार छोड़ दिया।

उस समय भारत के गवर्नर लार्ड कर्जन थे। उन्हें जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने आशुतोष मुखर्जी को बुलाकर कहा - “आपको विलायत जाना चाहिए।”

मुखर्जी ने कहा - “सर! मेरी माता की इच्छा नहीं है।”

लार्ड कर्जन कुछ सत्ता पूर्ण स्वप्न से बोले - “जाकर अपनी माता से कहिये कि भारत के गवर्नर-जनरल आपको विलायत जाने की आज्ञा दे रहे हैं।”

मातृ-गौरव से दीप्त मुखर्जी ने उत्तर दिया - “मैं गवर्नर जनरल से निवेदन करता हूँ कि माता की आज्ञा का उल्लंघन करके मैं किसी भी दूसरे की आज्ञा का पालन नहीं कर सकता। चाहे वह कृपश व्यक्ति भारत का गवर्नर-जनरल ही क्यों न हो?”

बन्धुओं, ऐसे माता-पिता के भक्त और धार्मिक संस्कारों से ओत-प्रोत पुत्र अगर हों, तभी पुत्रों का होना सार्थक है अन्यथा यही कहना पड़ेगा कि :-

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न धार्मिकः

अर्थात् उस पुत्र के होने से क्या लाभ, जो न विद्वान ही हुआ न धार्मिक ही बन सका।

किन्तु पुत्रों की विद्वत्ता और धर्महीनता का कारण वे स्वयं नहीं होते, उनके माता-पिता होते हैं। आज के माँ-बाप बच्चों को सुसंस्कारी बनाने के बजाय शैशवावस्था में ही यह पूछते हैं "थारे केड़ी बींदणी लावों?" और पुत्री हो तो - "थारे बींद केड़े लावणो?"

क्या ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने वाले माता-पिता अपने बच्चों को कभी योग्य बना सकते हैं? माता होनी चाहिए शकुन्तला जैसी, जिसने अपने पुत्र भरत को चार वर्ष की अवस्था में ही शेर के दाँत गिनना सिखा दिया। माता होनी चाहिए जीजाबाई जैसी, जिसके बनाए गए पुत्र ने औरंगजेब के छक्के छुड़ा दिये। माता होनी चाहिए शंकराचार्य की माता जैसी, जिसने शंकराचार्य का ज्ञान के शिखर पर पहुँचा दिया।

ऐसी माताएँ अपने पुत्रों का भला कहीं कर सकतीं जो बालक की शैशवावस्था में यह कहकर खुश होती हैं कि 'अपने बाप को थप्पड़ मार!' और न वह पिता ही बालक का हितकारी बन सकता है जो बालक से अपनी माता के बाल खींचने को कहता है।

और बचपन से यह बातें सीखकर, बड़ा होने पर वही लड़का जब नाना प्रकार के असम्य व्यवहार करता है तो वह ही माँ-बाप कहते हैं - 'हमारा लड़का कपूत है।' अरे, लड़का कपूत कैसे बना? आपने ही तो उसे कपूत बनाया। इसीलिये उर्दू भाषा में कहा गया है :-

‘हेत और प्यार में, कर देव जन्म अपना पिसर-

इल्म मुतलक न सिखाए वो फिर कुछ भी नहीं।

जिसने प्रभु से न करी प्रीत वो नर कुछ भी नहीं।’

जो पिता अपने बालक को ज्ञानाभ्यास न कराकर केवल लाड़-प्यार में ही बिगाड़ देता है, उसमें उत्तम संस्कार न डालकर केवल उम्र से जवान बना देता है। वह पिता, पिता नहीं है। उसी प्रकार, जिस प्रकार की ईश्वर से प्यार न करने वाला मनुष्य सच्चे मायने में मनुष्य नहीं है।

शिशु जन्म से कुछ भी सीखकर नहीं आता। वह जो कुछ भी सीखता है, अनुकरण के द्वारा ही सीखता है। माता-पिता तथा परिवार के अन्य व्यक्तियों को जैसा करते देखता है, वह भी वैसा ही करने लगता है। चोर का पुत्र चोर बनता है और पुजारी का पुजारी। इसलिए प्रत्येक पिता का कर्तव्य है कि वह स्वयं सुसंस्कारी, आचारनिष्ठ और ज्ञानवान् बने तथा अपनी संतान को भी वैसा ही बनाए। ताकि बड़ा होने पर वह विद्वानों की श्रमा में बैठने पर शोभा पा सके।

गुण-दृष्टि और दोष-दृष्टि

हंस श्वेत रंग का होता है और भंगुला भी। किन्तु दोनों की वृत्तियों में महान अंतर होता है। हंस केवल मोती ही ग्रहण करता है। उसके समक्ष भले ही मोती और कंकर मिला कर रख दिये जायें, पर वह केवल मोती ही उठायेगा। दूध में पानी मिलाकर रख देने पर भी वह सिर्फ दूध को ही ग्रहण करेगा।

शंकलु व्यक्ति कहेंगे, ऐसा कैसे हो सकता है? पर वास्तव में ऐसा ही होता है। हंस की चोंच में ऐसी ही शक्ति होती है, ऐसा गुण होता है कि वह दूध अलग और पानी अलग कर देता है।

इसके अलावा आपने देखा होगा कि दूध देने वाली गायों के स्तनों के पास चीचड़े होते हैं। वे स्तन के पास रहकर भी खून चूसते हैं दूध नहीं। जोंक भी शरीर पर चिपकी रहकर खराब खून चूमती है। यह सब क्यों? इसलिये कि इन प्राणियों की वृत्ति ही ऐसी होती है।

इन उदाहरणों को देने का अभिप्राय यही है कि अगर आपके बालक अशिक्षित रहेंगे और असंस्कारी भी रह जाएँ तो उनकी वृत्तियाँ परिष्कृत नहीं हो सकेंगी तथा उनकी दृष्टि, गुण-दृष्टि नहीं बन पाएगी। परिणाम यह होगा कि विद्वत्जनों के बीच में उनकी उपस्थिति व्यर्थ साबित होगी तथा वे किसी प्रकार का लाभ नहीं उठा पाएँगे। साथ ही अशोभनीय दिखाई देंगे जिस प्रकार बगुले हँसों के मध्य में दिखाई देते हैं।

इसलिये बंधुओ! अपने बालकों को प्रारम्भ से ही संस्कारित करने का प्रयत्न करो। बच्चों को - 'बहू कैसी लानी? और दूल्हा कैसा चाहिये?' यह कहने के बजाय सिखाओ कि पिता आने पर खड़े हो जायें, माता का आदर करें, प्रातः उठते ही ईश-स्मरण करें, झूठ न बोलें, चाँरी न करें आदि-आदि चरित्र-निर्माण की बातें उन्हें सिखाओ! तभी वे बड़े होने पर आपका, आपके कुल का तथा समाज का गौरव बढ़ाएँ और धर्म की रक्षा करेंगे। अन्यथा क्या होगा? आपकी संतान बड़ी होकर आपको दोष देगी, गालियाँ देगी तथा भला-बुरा कहेगी कि हमें अशिक्षित और असंस्कारी रख दिया।

माँ से मिलना है

किसी शहर में एक माता और पुत्र रहते थे। पुत्र छोटा था, पिता की मृत्यु हो चुकी थी। अतः बच्चे के पालन-पोषण का भार माता पर ही आ गया। माता संस्कारहीन थी तथा उसमें सद्गुणों का अभाव था। बच्चे के भविष्य की चिन्ता उसे नहीं थी।

शैशवावस्था में एक दिन वह किसी लड़के की गेंद चुरा लाया। माँ ने उसकी इस छोटी-सी चीज पर नाराजी प्रकट नहीं की उल्टे प्रसन्नता जाहिर की। बच्चे का उत्साह बढ़ गया और वह प्रतिदिन या जब भी मौका मिला, कुछ न

कुछ किसी न किसी का उदा ही लाता। बिना मूल्य घर में चीजें आना माँ के मन के लिये और भी खुशी का कारण बना।

धीरे-धीरे बालक युवा हुआ और इतनी उम्र तक तो पक्का चोर भी बन गया। किन्तु पाप का घड़ा फूटे बिना नहीं रहता इसी नियम के अनुसार एक बार चोरी के साथ-साथ किसी की हत्या भी कर देने के जुर्म में उसे फाँसी की सजा हो गई। जिस दिन फाँसी दी जाने वाली थी, अधिकारियों ने उससे उसकी अन्तिम इच्छा प्रकट करने के लिये कहा -

युवक ने कहा - "अपनी माँ से मिलना चाहता हूँ।"

माँ को कैदी के समीप बुलाया गया। पर उस कैदी और फाँसी पाने के लिये तैयार युवक ने क्या किया? जनाते हैं आप? हाथ तो उसके हथकड़ियों में जकड़े ही थे अतः माँ के मुँह पर थूक दिया।

आसपास खड़े हुए व्यक्ति चकित हुए और इसका कारण पूछने लगे। युवक ने उत्तर दिया - "मुझे इस स्थिति पर पहुँचाने वाली मेरी यह माँ ही है। अगर बचपन में चोरी करना प्रारम्भ करने पर प्रह मुझे प्रोत्साहन न देती और मना करती तो मैं आज फाँसी नहीं पाता।" कहकर युवक ने मुँह मोड़ लिया।

बंधुओं, बचपन के संस्कारों का कभी-कभी ऐसा भयंकर प्रभाव पड़ता है। इसलिये आवश्यक है कि बालकों में प्रारम्भ से ही उत्तम संस्कार डाले जायें। उनमें नीति और धर्म का बीजारोपण किया जाय। सरकारी स्कूलों और कॉलेजों के भरोसे रहकर आप अपने बालकों को कभी आचारनिष्ठ और धर्मनिष्ठ नहीं बना सकते।

आजकल क्या होता है?

आजकल तो हम आधे दिन सुनते हैं और अखबारों में पढ़ते भी हैं कि अमुक स्कूल में छात्रों ने अध्यापक को पीट दिया। अथवा अमुक कॉलेज के छात्र ने पिस्तौल से मार डालने की धमकी देकर अपने नंबर बढ़वा लिये। ऐसी आधुनिक शिक्षा क्या छात्रों को महापुरुष बना सकती है? वहाँ से वे केवल अनुशासन-हीनता का ही पाठ पढ़कर निकलते हैं और उसका उपयोग आपके घर में करते हैं। बताइये, कितने पिता यहाँ पर ऐसे हैं जो अपने पुत्रों की शिक्षा से और उनके सद्व्यवहारों से संतुष्ट हैं?

शिक्षा कैसी हो?

शिक्षा का कार्य है, बालक में जो सदगुण गुप्तरूप से विद्यमान होते हैं उन्हें प्रत्यक्ष करना। चरित्र निर्माण करना, तथा उसे सन्मार्ग बताना। शरीर तथा आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य जीवन की परिस्थितियों का सामना करने की योग्यता प्राप्त करता है। आज स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा

के नाम पर जो शिक्षा दी जाती है, वह केवल पुस्तकीय ज्ञान होता है और उसका उद्देश्य सांसारिक सुखों के साधन जुटाना मात्र रहता है।

किन्तु हमारे आध्यात्मवादी देश में सदा से ऐसा नहीं चला आ रहा है। प्राचीन काल में यहाँ के गुरु जो शिक्षा देते थे वह केवल इहलौकिक सुख के लिये ही नहीं होती थी। वरन् संसार से मुक्त होने के लिये दी जाती थी। कहा भी है -

‘सा विद्या या विमुक्तये :’

- सच्ची विद्या वही है जो हमें मुक्त करती है। अर्थात् जो विद्या नम्रता, मधुरता, परोपकार, संयम, सन्तोष आदि; सद्गुणों पर आधारित होती है तथा जिसमें धार्मिक विचारों का समावेश होता है वही विद्या मिथ्यात्व का परदा हटाकर ज्ञानचक्षुओं को उघाड़ती है और आत्मा को जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाती है। •

कहने का अर्थ यही है कि जब तक शिक्षा में धार्मिक विचारों का समावेश नहीं होगा, तब तक वह अपूर्ण रहेगी। इसलिये माता-पिता को अपने बालकों में बचपन से ही धार्मिक संस्कार डालने चाहिये, उनकी रूचि धर्म की ओर उन्मुख करनी चाहिए। चाहे वे घर पर नमोकार मंत्र ही सीखें, चौबीस तीर्थकरों के नाम अथवा प्रार्थना स्तुति ही याद करें, किन्तु स्कूल में दाखिल होने से पहले ही उनमें कम से कम धर्म का बीजारोपण तो करना ही चाहिए तथा उनके हृदय में माता-पिता के प्रति, बड़ों के प्रति तथा अपने गुरु और शिक्षक के प्रति गहरी श्रद्धा और सम्मान की भावनाएँ जगा देनी चाहिए। तभी वह अपनी नम्रता और विनय के द्वारा जो शिक्षा प्राप्त करेगा उसका परिणाम शुभ होगा। अन्यथा अपनी उच्छृंखलता और अविनीतता के कारण शिक्षक के साथ रूढ़कर भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा। कहा भी है :-

जे य चंडे मिए धध्दे, ऽड्वाई नियडी सडे।

बुज्झई से अविणीअप्प, कट्ठं सोअगयं जहा॥

— दशवैकालिक सूत्र

- जो क्रोधी, अहंकारी, कटुवादी, कपटी तथा अविनीत शिष्य होते हैं, वे जल में पड़े हुए काष्ठ के समान संसार-सागर में बह जाते हैं।

अर्थात् - असंस्कारी और अविनीत शिष्य अपने शिक्षकों के समीप रह कर भी सम्यक् ज्ञान ग्रहण नहीं कर पाते तथा उसके अभाव में अपनी आत्मा को कलुषित और कषाय-युक्त बनाए रहकर अपने मानव-जीवन को सार्थक नहीं बना सकते। यानी कभी भी संसार-मुक्त नहीं हो सकते।

सच्चा विद्यार्थी वही है, जिसे विज्ञा-ग्रहण की तीव्र और सच्ची भूख हो और जो विद्या-प्राप्ति के उद्देश्य में तत्वीन होकर अन्य समस्त सांसारिक सुखों को त्याग

देता है। पान, बीड़ी, सिगरेट, चाय, सिनेमा और सैर-सपाटे का शौकीन छात्र कभी विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। एक श्लोक में यही बताया गया है -

सुखार्थिनः कुतो विद्या, विद्यार्थिनः कुतः सुखम्!

सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां, विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्!

- आचार्यचाणक्य

- सुखार्थी को विद्या कहाँ, विद्यार्थी को सुख कहाँ? विद्यार्थी सुख को चाहे तो विद्या छोड़ दे और विद्या चाहे तो सुख त्याग दे।

क्या करना चाहिए?

तो बन्धुओं, अगर आप चाहते हैं कि आपकी संतान, आपके पुत्र व पुत्रियाँ, सुयोग्य, गुणवान, विद्वान् और धार्मिक बनें, जो आपको उनके जन्म के साथ ही सजग होना चाहिए। तथा अपने पितृत्व धर्म का निर्वाह करते हुए उन्हें बचपन में ही उत्तम संस्कारों से युक्त एवं समस्त दुर्गुणों से बचाते हुए ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर करना चाहिए। उनमें नम्रता, विनयशीलता, निरभिमानता एवं अनुशासन-प्रियता के भाव भरने चाहिए। ऐसे सदगुणों से युक्त हृदय ही धर्म को ग्रहण करने के उपयुक्त होते हैं। किन्तु अत्यधिक व्यस्तता और सांसारिक कार्यों में निमग्न रहने के कारण आप स्वयं अपने बालकों पर पूरा ध्यान नहीं दे सकते हैं तथा उन्हें यथोचित धार्मिक शिक्षण देने में असमर्थता का अनुभव करते हैं, तो आपको चाहिए कि धार्मिक शालाएँ खुलवाएँ और उनमें सुयोग्य अध्यापकों को रखकर अपने बच्चों को धर्म की जानकारी कराएँ, ताकि वे धर्म के महत्व को समझें और अपने जीवन को धर्ममय बनाते हुए मानव-जन्म को सार्थक बनाने का प्रयत्न करें।

संसार के अन्य कार्यों में आप हजारों और लाखों रुपये खर्च करते हैं। ब्याहशायियों में, सैर-सपाटों में तथा अन्य नाना प्रकार के मनोरंजक कार्यों में पानी की तरह पैसा उड़ाते हैं। फिर अपने बालकों के लिए, जिनसे आपके कुल की, समाज की और देश की शोभा बढ़ती है, उनके लिए कुछ प्रयत्न क्यों नहीं करते हैं?

याद रखिये

आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि बालकों को अच्छा खिलाकर, अच्छा पहनाकर और खूब लाड़-प्यार से रखकर ही आप कर्तव्य को पूर्ण कर लेंगे। आपका प्यार और कर्तव्य अगर इन बातों तक ही सीमित रहा तो बच्चों का जीवन वही हंसी के बीच बगुले के समान हो जायगा और आपका पुत्र प्राप्त करना न करना बराबर हो जायगा। कवि 'गिरधर' ने भी कहा है -

बालक रखिये हटक में, नीचे चढ़ाओ शीश,
 नित प्रति लाड़ लड़ाय ते बिगस्त बिस्वा-बीस।
 बिगस्त बिस्वा-बीस हाथ हुल नहि आवे,
 शोभत सभा न बीच उच्च फः कबहुँ न पावे।
 कहे गिरधर कविराय सुनो हे वासी दरका,
 कोटि जतन करि राख फेर मोहें सुधरै लस्का।

पद्य में कहा है कि 'कोटि जतन करि राख' अर्थात् अपने बालकों के लिये कदम-कदम पर सावधान रहो, केवल प्यार-दुलार में ही उन्हें 'कोरा' मत रह जाने दो, उनकी आदतें बिगाड़ो मत, अन्यथा फिर पश्चात्ताप ही हाथ आएगा और आप अपने बालकों के हितचिन्तक नहीं, वरन् अनिष्टकारक साबित होंगे।

अन्त में पुनः यही कहना है कि अगर आपको वास्तव में ही अपने पुत्रों को 'पुत्र-रत्न' बनाना है तो उनके लिए धार्मिकशाला अवश्यमेव खोलो, उनमें उच्च संस्कार डालो, उन्हें ज्ञानवान, गुणवान और धार्मिक बनाओ। तभी आपका पुत्र प्राप्त करना सार्थक होगा और आपके पुत्र के लिए आप जैसे पिता का प्राप्त करना। धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने पर ही आपकी सन्तान आचारनिष्ठ बन सकेगी तथा अपने धर्म को देदीप्यमान करती हुई उसे सुरक्षित रख सकेगी।

• • •

[७]

लेखा - जोखा

धर्मप्रेमी बन्धुओ! शीलवती माताओ एवं बहिनो!!

आज के प्रवचन में अभी-अभी मुने श्री जी ने आपको बताया है कि भगवान महावीर विचरते हुए आमलकम्पा नगड़ में पधारे तथा नगर के राजा, राज्य परिवार के व्यक्ति और वहाँ की सम्पूर्ण जनता वीर प्रभु के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी।

संत महिमा

बन्धुओ, विचारणीय बात यह है कि अवतारी पुरुषों के दर्शन और उपदेश श्रवण से क्या लाभ है? अवतारी एवं संत-पुरुषों के दर्शन की महिमा का वर्णन शब्दों के द्वारा नहीं किया जा सकता। अर्थात् सन्त-दर्शन का महत्त्व अवर्णनीय है। प्रथम तो निर्मल हृदय रखने वाले व्योक्तों के दर्शन एवं वंदन से आत्मिक शांति का अनुभव होता है। दूसरे संत समागम का प्रथम चरण संत-दर्शन ही है। दर्शन के बिना समागम का अवसर नहीं मिल सकता। महापुरुषों के समागम का महत्त्व बताते हुए कहा गया है :-

‘महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽप्रोचश्च।’

- नारदभक्ति सूत्र

- महापुरुषों का संग दुर्लभ, अगम्य और कभी भी व्यर्थ न जाने वाला होता है।

संतों के समागम से ही मनुष्य का बौद्धिक एवं आत्मिक विकास होता है तथा अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से सन्मार्ग का ज्ञान होता है। ज्ञानी एवं उत्कट दर्शनभिलाषी व्यक्ति को तो अगर किसी विशेष कारणवश नगर में पधारे हुए मुनि का दर्शन प्राप्त न हो सके और उसके लिए उसे तीव्र और आन्तरिक पश्चात्ताप हो तो वह भी देव-गति के बंध का कारण बनता है। कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को यथासंभव संतों के दर्शन एवं प्रवचन-श्रवण का लाभ उठाना चाहिए। क्योंकि कितनी शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक तो आज प्रत्येक गाँव व नगर में मिल जायेंगे किन्तु आत्म-स्वरूप की जानकारी कराने वाले दिव्य-ज्ञान देने वाले संतजन विरले ही होते हैं तथा उनका समागम अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होता है।

नफे का व्यापार

व्यापार शब्द आप लोगों के लिये नया नहीं है। इससे, होश सम्हालने से लेकर अब तक की आपकी गहरी पहचान है। आप दुकान खोलते हैं, व्यापार करते हैं और हजारों-लाखों के बारे-न्यारे कल्ले रहते हैं। कभी गहरा नफा और कभी गहरा घाटा, इसी चक्कर में आप घूमते रहते हैं। किन्तु इससे कमी सन्तुष्ट होते हुए दिखाई नहीं देते। आपके हृदय में हमेशा उथल-पुथल मची रहती है। क्योंकि आपका व्यापार डगमगाने वाला है, आपको दुकान का माल क्षणभंगुर है, नष्ट होने वाला है तथा अनेक प्रकार की कठिनाईयों में डालने वाला है। इसलिए ज्ञानी पुरुष इसकी मूर्त्तना करते हुए कहते हैं -

अहो महाकष्टमनर्थमूलं, तदङ्गेनैव प्रतिपालने च।

प्राप्तेऽपि दुःखं प्रगतेऽपि दुःखं, धिग् धिग् धनं कष्ट निकेतनं तत्॥

- अहो, यह धन महा कष्टदायी है। अनेक अनर्थों का मूल है। इसे प्राप्त करने में तथा इसकी रक्षा करने में अर्क संकट सहने पड़ते हैं। धन आता है तब भी महादुख देता है और विलीन होता है तो भी महान् कष्टदायी होता है। ऐसे कष्ट के भंडार धन को बारम्बार धिक्कार है।

आत्मा का साथी धन

आत्मोन्नति के इच्छुक पुरुष ऐसे धन का व्यापार कभी नहीं करते। वे ऐसा माल भी कभी नहीं खरीदते, जो कि नष्ट हो जाने वाला हो। उनका सतत् प्रयत्न ऐसे ही माल का संग्रह करने के लिए होता है, जो उनके साथ चलने वाला हो। आपको आश्चर्य होगा यह सुनकर कि कोई माल आत्मा के साथ चलनेवाला भी होता है? हाँ, यह अकाट्य सत्य है। ऐसा माल भी आपको मिल सकता है जो आत्मा के साथ चलेगा। पर वह आपके बाजारों में नहीं मिलेगा। ऐसे अनमोल माल की दुकानें आपको विरली ही मिलेंगी। किसी मुमुक्षु प्राणी ने एक ऐसी दुकान का संकेत दिया है और वहाँ से कभी नष्ट न होने वाला माल खरीदने की प्रेरणा दी है -

त्रिशलानन्दन की खुली दुकान जी, तुम माल खरीदो।

त्रिशला नन्दन भगवान् महावीर की दुकान खुली है। इस दुकान में धोखा नहीं है। यहाँ का माल नकली और नाशवान्न नहीं है। तथा इसमें कमी घाटा नहीं होता, नफा ही नफा रहता है। एक और भी आश्चर्य की बात तो यह है कि हमारी इस दुकान का माल दृश्य माल नहीं है फिर भी यह है, और इतना है, कि कभी कम नहीं होता। इसमें से चाहे जितना खरीदा जाय, चाहे जितना उठा लिया जाय, दुकान पूर्ववत् भरी रहती है।

आपकी दुकानों में जबकि थोड़ा-सा भी माल रख दिया जाय, वहाँ की

जगह भर जाती है और पदार्थों के बिकते ही दुकान खाली लगने लगती है। हमारी दुकान प्रत्येक समय और प्रत्येक काल में भरपूर रहती है। ज्यों-ज्यों माल बिकता है, त्यों-त्यों उसके स्थान पर स्वयं ही नफ़ा आता-जाता है। दृष्टिगोचर न होने पर भी हमारी दुकान का माल इस लोक में तो यश, प्रतिष्ठा, सुख और संतोष प्रदान करता ही है, अपितु परलोक में भी आत्मा के साथ चलता है।

दो पहाड़े

बंधुओ! आप संसारी लोगों के विषय में विशेष क्या कहा जाय? आपका जो पाठ है, पहाड़ा है या सबक है वह शत के अंक का है और भगवान की दुकान, जिसे हम चलाते हैं, उसका पहाड़ा नौ के अंक का है। आप शायद समझें नहीं होंगे। मैं इन्हें ही समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। बताइये, आपका पहाड़ा पहले सुनाऊँ या हमारा?

हमारा नौ का अंक है। नौ एक नौ। संख्या वही नौ है। नौ दूनी अठारह। अठारह कैसे लिखे जाते हैं? एक और आठ। अब इनको जोड़ो - एक और आठ नौ। वही अंक रहा। अब नौ ती सत्ताईस। दो और सात नौ। चार नौ छत्तीस। तीन और छः नौ। पाँच नौ पैंतालीस। चार और पाँच भी नौ ही हुए। छः नौ चौवन। पाँच और चार भी नौ होते हैं। सात नम त्रेसठ। छः और तीन नौ। आठ नवा बहत्तर। सात और दो नौ। नवे नवे इक्यासी। आठ और एक फिर नौ हो गये। तथा दस नौ नब्बे। यहाँ भी नौ ही है।

देखा आपने? कहीं पर भी घाटा या नुकसान नहीं हुआ। आत्मोन्नति किंवा परमात्मा बनाने का पाठ नौ के अंक के जमान है। वस्तुतः यहाँ पर अहिंसा है, सत्य है, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह है तथा कषायों का अभाव है वहाँ नुकसान कैसा? नफ़ा ही नफ़ा तो दिखाई देता है। तथा वह भी सदा बढ़ता ही चला जाता है।

छब्बे बनने चले पर दुबे रह गये

अब आपका पहाड़ा सुन लीजिये। जिसमें घाटा ही घाटा है। कभी अगर एकदम नफ़ा हो भी गया तो पुनः गिरावट प्रारम्भ हो जाती है और व्यापार जहाँ का तहाँ रह जाता है। आपके पाठ का अर्थ क्या है? आठ का। आठ एक आठ। आठ दूनी सोलह। सोलह कैसे लिखे गए हैं? एक और छः। जोड़ा तो सात हुए, एक कम हो गया। आठ की जगह सात रह गये। आप दिन-रात मेहनत करते हैं, प्रयत्न करते रहते हैं बढ़ाने का, पर माल कम हो जाता है। दैसे आपको कहा जाय कि दस मिनट माला फेरिये, तब कहते हैं फुरसत नहीं मिलती, काम अधिक है। संतों के समागम और उपदेश श्रवण के लिए आपको समय नहीं रहता। फिर आप बढ़ेंगे कैसे? घाटा ही तो होगा। जैसे कि आठ का पहाड़ा शुरू करते ही एक की कमी आ गई।

अब आगे चलिये। आठ तीन चौबीस। दो और चार छः। एक और घट गया। आप चाहते तो बढ़ाना है पर संसार घटा देता है। आगे है आठ चौक बत्तीस। तीन और दो पाँच बचे। इसके बाद आठ पंजा चालीस; लीजिये पाँच से घटकर चार ही रह गए। क्या कहा जाय? आप लोग धन कमाने में और उसकी सुरक्षा में प्राणपण से लगे रहते हैं किन्तु यह धन पानी के बुलबुले के समान नष्ट हो ही जाता है। इसीलिये कवि सुन्दरदास प्राणियों को बोध देने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं -

माया जोरी जोरी नर, राखत धन करी,
कहत है एक दिन, मेरे काम आई है।
तोहि न रहत कछु बेर न लगत सद,
देखत ही देखत, बबूला सो बिलाई है।

अर्थात् प्राणी माया जोड़-जोड़कर बड़े यत्न से उसे भण्डार में, तिजोरियों में या जमीन में गाड़कर रखता है और कहता है कि यह एक दिन मेरे काम आयेगी। किन्तु वह स्थिर नहीं रहती। देखते-देखते ही पानी के बुलबुले के समान संसार सागर में विलीन हो जाती है।

इस धन के लिए आप अपनी जन्मदात्री माता को, जिसके ऋण से कभी भी उन्मूढ नहीं हुआ जा सकता, छोड़ देते हो। विवाह में जीवन पर्यन्त साथ देने की प्रतिज्ञा करने पर भी अपनी स्नेहशीला पत्नी को तथा वर्षों तक तरसने के बाद प्राप्त हुए बाल-बच्चों को भी छोड़कर परदेश चले जाते हो -

धन के कारण देश प्रदेशों, धृष्ट गिणे नहीं छाया रे।
करे नौकरी बहु नर-नारी, जोई माया रे.....।

अपनी जन्मभूमि छोड़कर हजारों मील दूर आप देश-विदेश में जाते हैं। वहाँ बाजारों में भाग-दौड़ करते हैं। सर्तों-गर्मी की परवाह किये बिना कड़ी मेहनत में संलग्न रहते हैं। भूख-प्यास सताती है किन्तु ग्राहकों के विद्यमान रहने से इन्हें भूल जाते हैं। सोचते हैं - पानी कहाँ जाएगा? ग्राहक से निपटना जरूरी है।

और अगर आपके पास व्यापार के लिए पूँजी नहीं होती तो दूसरों की नौकरी करते हो। अफसरों की भली-बुरी सुनते हो, पर धन की लालसा को नहीं छोड़ते। हजार प्रयत्न करते हुए भी आप निराश नहीं होते। क्योंकि आप आठ के अंक में रहते हैं। चाहे आपके व्यापार में हानि हो जाय? आज के लखपति आप, कल औरों के कर्जदार बन जायें, पर लोभ नहीं छुटता। पुनः अर्थ-प्राप्ति के लिए चौगुनी शक्ति से जुट जाते हैं पर परिणाम क्या होता है? धन फिर मिलता है और फिर चला जाता है। जैसे - आठ छः अड़तालीस। चार और आठ बारह। एकदम लौटरी ही निकल आई। ड्योढ़े हाँ गए। आपकी खुशी का पारावार ही नहीं रहा। किन्तु क्या यह स्थिति रोज रह सकती है? नहीं, आठ सात छप्पन। पाँच

और छः ग्यारह। एक घट गया। आठों आठों चौंसठ। छः और चार दस। बारह से ग्यारह और ग्यारह से दस ही रह गए। फः अभी क्या हुआ? आठ नम बहतर। सात और दो नौ। बारह से नौ पर आए। धः से कपूर की टिकिया पड़ी-पड़ी उड़ जाती है, उसी तरह जब आपके पुण्य-कर्मों का उदय होता है, लक्ष्मी आपके पास रहती है और पुण्यवानी का अभाव होते ही। उसके जाते देर नहीं लगती। और आठ दस अस्सी के समान आप वहीं के वहीं रह जाते हैं।

शम एवं परं ज्ञानम्

परमार्थ का अंक नौ का है। यह सदा एक सा रहने वाला है। आत्मोन्नति के इच्छुक साधक को सम-रस में रहना आवश्यक है, इसी के द्वारा वह अपनी आत्मा के मेल को उत्तरोत्तर धो सकता है। कहा भी है -

“योगारूढः शमादेव शुद्धश्च्यन्तर्गतक्रियः।”

ज्ञानसार

- आभ्यन्तर क्रियापात्र योगी पुरुष भी शम व्रत से ही, यानि विकारों को जीतने से ही शुद्ध होते हैं।

तथा इसके विपरीत जिन प्राणियों में शम-भाव नहीं होता वे मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकार नहीं रखते -

“शमो हि न भवेद्येषाम् ते म्नाः पशुसन्निभाः।”

- तत्त्वामृत

जिन पुरुषों में शम-भाव का अभाव है, वे मनुष्य पशु के समान ही हैं।

इसलिए प्रत्येक मानव को सम-भाव रखते हुए, अर्थात् निर्विकारी बनते हुए सुकृतरूपी धन को कमाने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी कवि ने कहा भी है

जब सुकृत धन को कमाऊंगा, मैं वही दिन धन्य मानूँगा।

कवि की भावना है कि, मैं अपने। उसी दिन को धन्य समझूँगा, जिस दिन सुकृत्य रूपी धन को कमा लूँगा।

दुनियादारी का धन तो आप कितना ही क्यों न इकट्ठा कर लें, वह टिकने वाला नहीं है। न तो वह चिरस्थायी रहता है और न ही आपकी आत्मा को संसारमुक्त करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु सुकृत्य रूपी धन अगर आप कमा लेंगे तो वह आपका रहेगा और आपकी आत्मा को स्वाधीन बनाने में सहायक होगा।

मुक्ति-प्रदाता मनोरथ

प्रत्येक श्रावक को अपने हृदय में नेत्रमल एवं उच्च विचारों को स्थान देना

चाहिए। अनेक प्रकार के उत्तम विचारों में से मुख्य तीन हैं, जिन्हें हम श्रावक के तीन मनोरथों के नाम से पुकारते हैं। एक पद्य में वे स्पष्ट किये जाते हैं -

“आरम्भ परिग्रह तजि करी, पंच महाव्रत धार।

अन्त समय आलोचना, करूँ संधगो सार॥

पद्य का अर्थ सरल और स्पष्ट है। आशा है आप समझ ही गए होंगे। ये सुन्दर मनोरथ प्रत्येक श्रावक को अहर्निश अपने मन में रखने चाहिए कि “मेरे जीवन में वह मंगलमय दिन कब आएगा, जहाँ मैं समस्त पर-पदार्थों पर से आसक्ति हटाकर पंच-महाव्रतों को धारण करूँगा। अर्थात् गुनिवृत्ति को अंगीकार करूँगा। तथा जीवन के अन्तिम समय में अपने गुरुदेवों के समक्ष समस्त अपराधों, दोषों एवं भूलों की आलोचना करके समाधिमरण को प्राप्त होऊँगा।” ये दिव्य मनोरथ मोक्ष रूपी महल में प्रविष्ट होने के लिए सीढ़ियों के समान हैं। दूसरे शब्दों में गुणस्थानों की श्रेणी पर उत्तरोत्तर आरुढ़ होने के लिए परमावश्यक हैं।

यह भावनाएँ हैं परमार्थ की। इनमें कहीं घाटे या नुकसान का भय नहीं है। यह रोजगार पूर्ण रूप से नफे ही नफे का है। इसी की दुकान यहाँ कुशालपुरा में खुली है। जिस नफे के व्यापार के लिए लोग तरसते हैं, एक दिन के लिए अगर ऐसा संयोग मिल जाय तो हर्ष से फूले नहीं समाते। वही संयोग आपको चार महीनों के लिए मिल गया है। क्या इसका लाभ आप उठाना चाहते हैं? अभी तो -

“माल बिके छे थोड़े जिण सँ, खर्च पूरो नहि चले।

आवेला कोई उत्तम प्राणी, माल डालसां पड़े।

समझे आप? सन्तों ने यहाँ दुकान तो खोल दी है किन्तु बिक्री अभी जितनी होनी चाहिए, नहीं हो रही है। इस तरह कैसे काम चलेगा? लगता है कि कभी कोई उत्तम पुरुष आएगा और वही यह माल खरीद कर ले जाएगा। सन्तों की दुकान में कैसा माल होता है, इस विषय में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने मराठी भाषा में कहा है -

राम नाम हें चि मांडिले दुकान, आहे धनो वाण घ्यारे कोणी॥१॥

- यह राम नाम की दुकान है और इसमें तरह-तरह के ‘वाण’ अर्थात् नमूने हैं।

अद्भुत माल

जिस प्रकार आपकी दुकानों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नमूने होते हैं, उसी प्रकार हमारी दुकान में भी अनेक प्रकार के नमूने हैं। यथा - भगवान का नाम स्मरण करो, सत्संगति करो, भक्ति करो, दया पालो, सत्य बोलो, किसी का धन मत छीनो अथवा चुराओ मत, दृष्टि में विकाश मत आने दो, शराब मत पीओ,

माँसाहार मत करो, शिकार मत खेलो, शत्रु-भोजन का त्याग करो, तप करो, व्रत ग्रहण करो। आदि-आदि अनेक प्रकार के नमूने हमारी दुकान में हैं। इसके अलावा जो एक महान् विशेषता और भी है, वह सन्त तुकाराम जी ने दूसरे चरण में बताई है -

नका करू कोणी घेतारे आलस, वारितो तुम्हास फुकाचे हे॥२॥

नका करो, अर्थात् मत करो। परमार्थ रूपी माल को लेने के लिए आलस्य मत करो। क्योंकि इस दुकान की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसका माल खरीदने में आपको पैसा खर्च नहीं करना पड़ता, कुछ भी देना नहीं होता।

बिना मोल दिये ले जाओ!

आपकी दुनियादारी की दुकान में तो कोई ग्राहक किसी वस्तु को खरीदता है तो आप उसी समय बदले में पैसे ले लेते हैं। किन्तु हमारी दुकान से आप चाहे जितना माल ले जाँ, हम बदले में कुछ भी नहीं लेते। क्या किसी सन्त को आपने अपनी चीजों के बदले में कुछ माँगते देखा है? नहीं, अगर सन्त बदले में कुछ माँगने लग जायें तो सारा मामला ही गड़बड़ हो जाएगा। और वही हाल होगा —

गुरु लोभी चेला लालची, दोनों खेले दौव।
दोनों डूबे बापड़ा, बैठे पत्थर की नांव।

यथा देव तथा पूजा

गुरु समझता है, यहाँ भरपूर दक्षिणा मिलेगी। दूसरे घरों में पाँच रुपये मिलते हैं पर यहाँ सात का डौल दिखाई देगा है। दूसरी ओर चेला विचार करता है कि गुरुजी के मेरे जैसे अनेक भक्त हैं। सभी दक्षिणा देंगे तो इनके पास वैसे ही बहुत हो जाएगा अतः दो रुपये ही देना चाहिए।

ऐसी हालत में गुरु और चेला दोनों ही डूबे बिना रह सकते हैं क्या? लोभ रूपी पत्थर की नाव में बैठकर उनमें से एक भी संसार-सागर के किनारे पर नहीं पहुँच सकता। और यह कहावत अक्षरशः सत्य साबित हो जाती है कि लालची गुरु और चेला दोनों ही दाव खेलते हैं, किन्तु इस लोभरूप पत्थर की नाव में बैठे हुए, किनारे पर पहुँचने के प्रयत्न में बेचारे पार नहीं पहुँच पाते, डूब जाते हैं।

वस्तुतः लोभ-वृत्ति प्रत्येक प्राणी के पतन का कारण बनती है, किसी की भी हित-साधना में सहायक नहीं बन सकती। तभी कहा गया है :—

“केषां हि नापदां ह्युत्तिलोभान्धबुद्धिता?”

अति लोभान्ध बुद्धि किनके लिए विपत्ति का कारण नहीं बनती? अर्थात्

बिना किसी अपवाद के यह सभी के लिए आपत्तिघात लाने वाली होती है।

इसीलिये संत तुकाराम जी कहते हैं कि परमार्थ की इस दुकान से माल खरीदो! क्योंकि यहाँ न माल बेचने वाले को पैसा लेना है, और न माल लेने वाले को देना ही है। क्रय और विक्रय, दोनों में ही धन का काम नहीं है।

गुरु-दक्षिणा कैसी ?

पर हाँ, आप यह भी न समझें कि संत आपसे अपने माल के बदले में किसी भी बात की अपेक्षा ही नहीं रखते। संत भी चाहते हैं, पर वह क्या वस्तु है? केवल आपकी उत्तम भावनाएँ! आपकी भावनाएँ दिन-प्रति दिन निर्मल और उच्च बनती जाएँ, सन्तों के लिए बस यही संतोष की बात होती है। उन्हें न वेतन की आकांक्षा रहती है, और न ही गुरु-दक्षिणा की। बिना कुछ लिए निस्वार्थ भाव से प्राणियों की कल्याण कामना रखते हुए वे ज्ञान-दान देते हैं। जिस प्रकार मूर्तिकार पत्थर को हथौड़े मार-मार कर प्रतिमा का रूप देता है उसी प्रकार संत अज्ञानी प्राणी को पुनः-पुनः चेतावनी देकर उरुकी आत्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं।

पत्थर, प्रतिमा और पूजा

समझने के लिए एक उदाहरण आणके सामने रखता हूँ। एक मन्दिर में बड़ी भव्य प्रतिमा थी। प्रतिदिन प्रातः-सायं सैकड़ों भक्त आकर उसके चरणों में फूल, फूल, नैवेद्य आदि चढ़ाया करते थे तथा प्रतिमा के सामने ही खड़े हुए एक खंभे से टिककर बैठते और प्रार्थना किया करते थे। यह सब देखकर खंभे को बड़ा दुख होता था। पर करता क्या? क्रोध से जल-भुनकर रह जाता। आखिर एक दिन दोपहर को जब मन्दिर सुनसान था, खंभा प्रतिमा से बोला —

“यह क्या बात है? आखिर हम दोनों ही खान से तो निकले हैं। फिर भी सैकड़ों व्यक्ति आकर तुम्हारे चरणों में मस्तक झुकाते हैं, चढ़ावा चढ़ाते हैं और तुम्हारी पूजा करते हैं। मेरी ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता, उल्टे मेरी ओर पीट करके मुझसे टिककर बैठते हैं। यह मुझसे सहन नहीं होता।”

खंभे की बात सुनकर प्रतिमा मुस्कराई और दयाई होकर बोली — भाई! तुम्हारा कथन सर्वथा सत्य है। हम दोनों का जन्म स्थान एक ही है और दोनों के शरीर का निर्माण भी एक-सा ही हुआ है। किन्तु आज जो अन्तर तुम हमारे बीच देख रहे हो तथा मेरी पूजा होती देखकर दुख का अनुभव कर रहे हो उसका कारण सिर्फ यही है कि मेरे हितैषी मूर्तिकार ने हथौड़े की असंख्य चोटें मुझ पर की हैं। नाना प्रकार से मुझे तराशा है और मेरे एक-एक अंग को टॉपी मार-मारकर सुधारने का प्रयत्न किया है। मैंने वे सब चोटें हँसते हुए सहन की, कभी विरोध नहीं किया, एक आह तक जबान से नहीं निकाली। बस इसी का परिणाम है कि आज मैं पूजा के योग्य बनी हूँ।”

वस्तुतः जिस प्रकार प्रतिमा मूर्तिंगर के द्वारा गढ़ी जाती है, ठीक उसी प्रकार मानव अपने गुरु के द्वारा गढ़ा जाता है। और तभी वह अपनी आत्मा को शुद्ध बनाता हुआ एक दिन परमात्म-पद को भी प्राप्त कर जगतपूज्य बन सकता है। कहा भी है :—

गुरु कारीगर सारिखा टाँची वस्त्र विचार।
पत्थर से प्रतिमा करे, पूजा लहै अपार॥

बन्धुओ, इसीलिये मैं बार-बार धापको चेतावनी देता हूँ, आग्रह करता हूँ कि इस पारमार्थिक दुकान से आप बिना कुछ मूल्य दिये अमूल्य वस्तुएँ अधिक से अधिक मात्रा में लें। आपकी दुकानों की वस्तुएँ तो जीर्ण होने वाली हैं, सड़ने वाली हैं और नष्ट हो जाने वाली हैं। किन्तु हमारी दुकान में जो पारमार्थिक वस्तुएँ हैं, वे कभी खराब होने वाली नहीं हैं, नष्ट होने वाली या विकृत होने वाली नहीं हैं। अगर आप ये वस्तुएँ अपने पल्ले में बाँध लेंगे तो आपका निश्चय ही कल्याण होगा।

भाग्यहीन को न मिले

वैसे यह सही है कि भाग्य वेत बिना कोई भी व्यक्ति, चाहे वस्तु बिना मोल दिये ही मिल रही हो, प्राप्त नहीं कर सकता —

संचिता सारखे पडे त्याच्या हत्ता। फारसे मागता तरी नये॥३॥

अर्थात् जितना भाग्य में होगा उसके अनुसार ही माल पल्ले पड़ेगा। माँगने से भी अधिक मिलना संभव नहीं है।

आप सुनते हैं और पढ़ते भी हैं कि तीर्थंकर महाराज वर्षादान करते हैं। एक दिन में एक करोड़ व आठ लाख सोनेयों का दान किया जाता है। जिन तीर्थंकरों की सेवा में देव रहते हों उन्हें क्या अभाव? अनन्त पुण्यवानी के अधिकारी तीर्थंकर बिना भेद-भाव के दान करते हैं किन्तु जिनके पल्ले में पुण्य नहीं है, वे दान लेकर निकलते भी हैं तो वह उनके पास नहीं रहता। उनके कर्म ही उस लाभ से उन्हें वंचित कर देते हैं। मराठी में कहावत है —

देव देतो आणि कर्म नेतो।

— देवता देता है, पर कर्म वापिस ले जाता है।

किन्तु इससे मानव को निराश नहीं होना चाहिये वरन् सतत पुरुषार्थरत बने रहना चाहिये। पुरुषार्थी पुरुष धीरे-धीरे अपने भाग्य को भी बदल लेता है। दूसरे शब्दों में —

एवं पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्ध्यति।

बिना प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाग्य फलता-फूलता नहीं है।

उद्योगः पुरुष-लक्षणम्

इसलिये बन्धुओ! भाग्य के भरोसे न बैठकर आपको सतत प्रयत्न करना है। बिना विलम्ब किये हमारी इस दुकान रॉ प्रतिदिन कुछ न कुछ माल पक्के बाँधना है। जितना भी अधिक आप इसे ग्रहण करेंगे, आपकी आत्मा को सुख व शांति का अनुभव होगा। निरन्तर प्रयत्न करने पर असंभव भी संभव बन जाता है। आवश्यकता सिर्फ यही है कि मनुष्य मुसीबतों से हार न माने तथा प्रत्येक बाधाओं से जूझता रहे। किसी कवि ने भी मानव को प्रेरणा दी है :—

बात की बात में विश्वास बदल जाता है,
रात ही रात में इतिहास बदल जाता है।
तू मुसीबतों से न घबरा अरे इन्सान!
धरा की क्या कहें आकाश बदल जाता है।

यह सब कैसे हो सकता है? मनुष्य के निरन्तर श्रम व पुरुषार्थ से। सच्ची लगन और दृढ़ आस्था से। आपको भी साहसपूर्वक आगे बढ़ना है। आठ के अंक से निकलकर नौ के अंक में प्रवेश करना है। तथा किस दुकान से माल लेने में आपको हानि होती है और किस दुकान से माल क्रय करने में लाभ हासिल होता है इसका लेखा-जोखा करते हुए स्वयं ही निर्णय करना है कि कौनसी वस्तुएँ अर्थात् कौनसे साधन आपके साधना-पथ को प्रशस्त बना सकते हैं? अगर आपका निर्णय हमारे पक्ष में होता है, हमारी दुकान का माल आपको अपनी आत्मा के लिये हितकर मालूम होता है तो निश्चय ही आपकी आत्मा एक दिन परमात्मा-पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। तथा प्रश्रय और अनन्त सुख की अधिकारिणी बन सकती है।

• • •

[८]

बहुपुण्य केरा पुँज थी

शास्त्रीय वर्णन में सूर्यासेणी सूत्र के अन्दर सूर्याम देवता का वर्णन चल रहा है। सूर्याम देवता की सेवा में हजारों देव रहते हैं। एक देवता की कृपा जहाँ मुश्किल है, वहाँ हजारों वेंगता सेवा करें, इसका क्या कारण है? कारण है उनके पुण्य।

एक साहूकार के हाथ के नीचे णबीसों गुमास्ते काम करते हैं, तथा अन्य सैकड़ों व्यक्ति भी काम में रहते हैं। उस साहूकार के पास सैकड़ों व्यक्ति क्यों आते हैं? क्योंकि उसके पास पुण्यों का संचय है। कसमात पुण्यवानी की होती है। इसके विषय में कहा गया है —

वश्यतां नयति पूर्वभवात्तं, पुण्यमेव भुवनानि किमन्यत्?"

पुण्य के विषय में अधिक क्या कहें? पूर्व-जन्म के संचित पुण्य ही तीनों लोक को वशवर्ती अथवा आज्ञानुवर्ती बना देते हैं।

पुण्य के प्रभाव से ही मानव-जन्म मिलता है, पुण्य के बल पर ही उच्च कुल में जन्म और पाँचों इन्द्रियों परिपूर्ण मिलती हैं। अन्यथा तो हम देखते ही हैं —

मानव भव पाकर भी कितने मनुज सुखी होते हैं,
विविध व्याधियों के वश होकर अगणित नर रोते हैं।
अंगोपांग विकल हो अथवा पगल होकर अपना —
जीवन हाथ बिताते, कब हो फ़ा मन का सपना।

इस संसार में पुण्यहीनों की कर्मा नहीं है। कोई आँखों से अन्धा है, कोई कानों से बहरा है, कोई जबान से गूँगा है और कोई हाथ या पैर से अपंग है। मानव जीवन पाकर भी अनेक प्रकार वेत दुख और व्याधियों पुण्य के अभाव में ही सताती हैं। इसी से यह ज्ञात होता है कि महान पुण्य कर्मों के उदय से ही मनुष्य जीवन के साथ साथ आर्य क्षेत्र, उच्चकुल, तथा परिपूर्ण इन्द्रियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पुण्य के कारण ही संसार में मान-प्रतिष्ठा, कीर्ति और सन्त समागम भी मिलता है। जिसके द्वारा मनुष्य अपनी बुद्धि और ज्ञान को परिष्कृत करके तथा विवेक को जागृत करके कर्मों की निर्जरा करता हुआ आत्मा के उत्थान का प्रयास कर सकता है।

प्रेरणा का स्रोत सदुपदेश

मानव की आत्म-चेतना की जागृति और विकास में सदुपदेशों का महान प्रभाव होता है। उपदेश के द्वारा पतित से पतित और विमूढ़ आत्माओं में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है, ऐसे अनेक उदाहरण हम देखते हैं। भगवान महावीर के समय में रोहिण्य नामक एक बड़ा भारी चोर था। उसका पिता मरते समय रोहिण्य से वचन ले गया था कि "महावीर का उपदेश कभी नहीं सुनना।" पिता जानता था कि एक बार भी अगर यह उपदेश सुन लेगा तो इस पाप मार्ग को छोड़ देगा।

रोहिण्य ने जीवन में इस बात का पूरा ध्यान रखा। जिस स्थान पर भगवान ठहरते, वह उधर फटकता तक नहीं था। किन्तु एक बार विवश होकर उसे प्रभु के समवशरण के निकट से गुजरना पड़ा। भगवान का प्रवचन चल रहा था अतः उसने अपने दोनों कानों में अंगुलियाँ डाल लीं और भागने लगा।

संयोगवश उसी समय उसके पैर में काँटा चुभ गया। ज्योंही वह कांटा निकालने के लिए झुका, भगवान के तीन शब्द उसके कानों में पड़ ही गये — "देवों की आँख टिमटिमाती नहीं, गले की फूलमाला कुम्हलाती नहीं तथा वे भूमि से ऊँचे रहते हैं।" उपदेश के ये वचन सुन लेने से रोहिण्य को दुख जरूर हुआ किन्तु वह इन बातों को भूला नहीं।

एक बार वह पकड़ा गया और उसी राजा श्रेणिक के सम्मुख लाया गया। पर बार-बार पूछने पर भी उसने अपराध स्वीकार नहीं किया। श्रेणिक का मन्त्री अमर कुमार बड़ा चतुर था। उसने अपराध स्वीकार कराने के लिए प्रपंच रचा। पहले तो रोहिण्य को क्षमा करके मुक्त कर दिया, फिर खूब सत्कार सहित ऐसा भोजन कराया जिससे वह बेभान हो गया। तत्पश्चात् उसे दिव्य वेश पहना कर दिव्य सामग्री से सुसज्जित भवन में सुला दिया। मूर्च्छा टूटने पर चोर ने अपने को मानो दिव्यलोक में पाया। देखा कि अप्सराएँ नृत्य कर रही हैं तथा कह रही हैं — "महाभाग! अपने महान पुण्य के प्रभाव से आप देवलोक में पधारें हैं, कहिए पूर्वभव में आपने क्या सुकृत किये थे?"

रोहिण्य को वास्तव में ही अपने वंश बन जाने का भ्रम हुआ और वह पूर्वजन्म में चोरी आदि की बातें कहने लगा। ही रहा था कि उसे भगवान महावीर के उपदेश की तीनों बातें स्मरण हो आईं। देवताओं के लिए कही गई उन तीनों बातों में से एक भी उसके सामने रहे हुए देवी-देवताओं में न मिलने से वह समझ गया कि यह देवलोक झूठा है। और यह सब अभयकुमार का जाल है। अतः उसने चोरी की बात सत्य कहने के बजाय दान-पुण्य आदि की बातें गढ़कर कह दीं। परिणामस्वरूप उसे मुक्त कर दिया गया।

किन्तु इससे रोहिण्य का जीवन बदल गया। उसने सोचा — "प्रभु के

मात्र तीन वाक्यों से ही मैं मृत्यु-दण्ड से बच गया। तीन वाक्य ही जब इतने कल्याणकारी हैं तो उनका सम्पूर्ण उपदेश कितना मंगलमय और लाभकारी होगा।”

उसी समय रोहिण्य ने चोरी के धपने वंश परम्परागत पेशे को छोड़ दिया और भगवान महावीर की शरण में जाकर दीक्षित हो गया।

ऐसा होता है उपदेश का प्रभाव। उपदेश के द्वारा आत्मा जागृत हो जाती है।

चोर अंगुलिमाल की आत्मा भी एक दिन इसी प्रकार जागृत हुई थी। उसने भगवान बुद्ध को घोर जंगल में से गुजरते हुए देखा तो कड़ककर कहा — “ठहर जा!”

बुद्ध ने शांति से उत्तर दिया — “मैं तो ठहरा हुआ ही हूँ भाई! तुम ठहर जाओ!”

अंगुलिमाल यह देखकर चकराया। कि साधु चलते-चलते कह रहा है — “मैं ठहरा हुआ हूँ!” और मैं जो एक स्थान पर खड़ा हूँ, कहता है ठहर जाओ! अत्यन्त विस्मय में पड़ जाने के कारण उसने क्रुद्ध से उनके शब्दों का अर्थ पूछा।

बुद्ध ने शांति से उत्तर दिया — “बन्धु! मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि मैं तो अपनी आत्मा में ठहरा हुआ हूँ। अर्थात् अपने आत्मगत शुभ भावों में स्थित हूँ। और तुमसे भी यही कह रहा हूँ।”

भगवान बुद्ध की बात सुनकर प्रोत्तेजित अनेकों व्यक्तियों के खून से हाथ रंगने वाले तथा उनकी अँगुलियों की माला बनाकर पहनने वाले क्रूर अंगुलिमाल का हृदय परिवर्तित हो गया। और उसने अपना जघन्य पेशा छोड़कर आत्म-कल्याण के मार्ग को अपना लिया।

सन्त-महात्मा इसी प्रकार अपने तदुपदेशों से अज्ञानी व्यक्तियों की आत्मा को जागृत करते हैं। लम्बे प्रमाद अथवा अज्ञान के कारण अगर उपदेशों का तात्कालिक प्रभाव नहीं भी पड़ता है तब भी उनका बीज शुभ विचारों के जल से निरन्तर अभिसिंचित होता हुआ एक-न-एक दिन गौशाल वृक्ष का रूप धारण कर ही लेता है।

यह सब होता है संसार से उदासीन सन्तों के उपदेशों से और सन्तों का समागम मिलता है अतुल पुण्य के उद्ग्र से। इसलिये अपनी आत्मा का कल्याण चाहने वाले प्राणी को सद्गुण की खोज करके पूर्ण श्रद्धा, अखंड भक्ति और विनय के साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। जीवन में गुरु का स्थान अत्यन्त उच्च, महत्त्वपूर्ण और पूज्य है। हम अपने चर्म-चक्षुओं से इस संसार को तो देखते ही हैं, किन्तु जीवन और जगत का ज्ञान हमें जिन ज्ञान रूपी नेत्रों से होता है, उन ज्ञान-नेत्रों को खोलने वाले गुरु ही होते हैं। कहा भी है —

“अज्ञान - तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया,
चक्षुःरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।”

— अज्ञान के तिमिर से अन्ध बन हुए चक्षुओं को ज्ञानाञ्जन की शलाका से जो उन्मीलित कर देते हैं — वे गुरु सदैव नामस्कार के योग्य हैं।

पुण्य और पाप की करामात

संसार में दो ही चीजें हैं। पुण्य और पाप। पुण्य का संचय होने से मनुष्य को प्रत्येक प्रकार के उत्तम संयोग मिलते हैं। तथा पापों का उदय होने से उत्तम संयोग भी बदलकर दुःखदायी बन जाते हैं। इस विषय में एक गुजराती कवि का कथन है —

जगत माँ पुण्य थी चढ़ती, जगत माँ पाप थी पड़ती।
चहेते पुण्य थी मलतु, चहेते पाप थी टलतुं।
जगत माँ पुण्य थी लीला, जगत माँ पाप थी खीला।
बुद्धयन्धि पुण्य माँ रहेबुं, सदा सुख शास्वत सहेबुं।

कवि बुद्धिसागर जी महाराज का कथन है कि पत्ते में पुण्य है तो दिन ब दिन चढ़ती होती है और पाप का उदय होता है तो चढ़ा भी गिर जाता है।

यादव वंश, जिस वंश का नाम लें में भी लोग डरते थे, जिसमें बलभद्र के अवतार बलराम जी और वासुदेव के अवतार श्रीकृष्ण जी हुए। जिस वंश में तीर्थंकर नेमिनाथ जी जैसे अवतारी पुरुष और रुक्मिणी तथा सत्यभामा जैसी महासतियों हुईं। क्या उस वंश का पुण्य कम था? नहीं, असीम पुण्य था उसके पत्ते में। किन्तु जब पुण्यवानी क्षीण हो गई तो उसी कुल के लड़के द्रुपद्युव को सताने की तैयारी करने लगे। परिणाम यह हुआ कि अंत में द्वारिका नष्ट हो गई।

जिस द्वारिका नगरी का निर्माण देवताओं ने किया था, उसे ही पाप का उदय होने पर देवताओं के द्वारा जल जाना पड़ा। किसी ने कहा है :—

“अत्युग्र पुण्यपापानां द्वैवफलमश्नुते।”

— तीव्रतितीव्र पुण्य एवं पाप का फल यहाँ पर ही मिल जाया करता है।

पुण्य के प्रभाव से हृदय की समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं, बिगड़ते हुए कार्य बन जाते हैं। किन्तु पाप का उदय होने पर बनते हुए कार्य भी बिगड़ जाते हैं और कोई भी तमन्ना पूरी नहीं हो पाती। पुण्यवान को अनायास ही धन-वैभव तथा यश कीर्ति प्राप्त होती है, किन्तु पुण्यहीन को अच्छे कार्य करने पर भी किसी न किसी बहाने निन्दा का पात्र बनना पड़ता है।

कवि ने आगे कहा है “जगत माँ पुण्य थी लीला, जगत माँ पाप थी खीला।” अर्थात् जिसके पास पुण्य का संचय है, वह जहाँ भी जाता है, लीला-लहर

हो जाती है, उसे चारों ओर से आनन्द की प्राप्ति होती है। पर क्षीण पुण्यवाले प्राणी को, वह जहाँ भी जाय निंदा, अप्पश, तिस्स्कार एवं कटु-वचनों के कीले चुभते हैं। उसके लिए प्रत्येक मार्ग कौटो काइन जाता है। पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज ने भी पुण्य और पाप के अन्तर को बड़े सुन्दर ढंग से बताया है। कहा है :—

पुण्य ते आदर पाप अनादर,
पाप जो पत्थर पुण्य ग्राहाजो।
पुण्य थी लोग नभे कर जोड़ने,
ये घर आपका ऊँचे गिराजो।
पाप उदे कहे काहे तू श्वान ज्यों
घर-घर डोलत नेक न लाजो ?
पुण्य तिलोक मिले सुख संपत्ति,
पुण्य ही से मिले अन्न ताजो।

महाराज श्री ने पुण्य और पाप के अन्तर को स्पष्ट समझा दिया है। ज्ञानी, अनुभवी वैराग्य संपन्न एवं प्रौढ़ कवि के शब्दों में चमत्कारिक शक्ति है। आपके कथनानुसार पुण्य क्या है?— इस विषय में कहा है कि कहीं भी जाने पर अगर तुम्हारा आदर व सम्मान होता है, तुम्हें देखकर लोग प्रसन्न हो उठते हैं, आनन्द का वातावरण चारों ओर फैल जाता है तो समझो कि यह सब तुम्हारे पुण्य का प्रताप है। अपने परिवार में, इष्ट-मित्रों के बीच में, संघ, समुदाय और समाज में अपने पुण्य के कारण ही तुम्हें इज्जत प्राप्त होती है।

इसके विपरीत कही पहुँचने पर अगर कोई अनादर करे, वहाँ के व्यक्तियों के द्वारा उपेक्षा और असम्मान का भाव जाहिर किया जाए तो समझना चाहिए कि तुम्हारे पापों का उदय है। ऐसे समय में अन्य की तो बात ही क्या है? सगे भाइयों के द्वारा भी स्नेह प्राप्त नहीं होता। कभी-कभी तो जन्म देने वाली माता भी झिड़क देती है — “चला जा यहाँ से! खाने के लिए आ गया? किस काम का है तू? पत्थर होता तो नीव भरने में काम आता।”

माता के द्वारा भी ऐसे शब्द कणों सुनने पड़ते हैं? सिर्फ इसलिए कि पोते में पुण्य नहीं है। पापों का उदय है। पाप पत्थर के समान है जिनके कारण आत्मा संसार-सागर में डूबी रहती है। और पुण्य जहाज के समान है, जिनका आधार लेकर भव-सागर को पार किया जा सकता है।

पद में आगे और भी स्पष्टीकरण किया गया है कि पुण्य जिसके प्रबल होते हैं, वह जहाँ कहीं भी जाता है लोग हाथ-जोड़े तैयार मिलते हैं। कभी जिन्दगी में जिसे देखा नहीं, केवल नाम और गुण ही सुने उसके मिलने पर भी व्यक्ति सम्मान सहित नमस्कार करते हैं, उच्चासन प्रदान करते हैं, तथा बात-बात में ‘आपकी

कृपा है। अपाकी दया से आनन्द है।' आर्द्रि-आदि प्रिय वाक्य कहकर अतिथि को प्रसन्न करते हैं।

किन्तु जिसके पास पुण्यों का अभाव होता है, उसके द्वार पर आ जाने पर स्वागत-सत्कार तो दूर, मीठे दो शब्द मिलना भी दुर्लभ हो जाता है। उलटे सुनने को मिलता है — 'क्यों झधर-उधर कुत्ते के नाईं भटकते हो? लज्जा नहीं आती क्या?

स्पष्ट है कि आदर-सम्मान यश-कीर्ति सभी पुण्य के योग से ही प्राप्त हो सकते हैं —

“यशः पुण्यैरवाप्यते।”

परिश्रम कम, लाभ अधिक

पुण्यवान् पुरुष थोड़ा कार्य करके भी यश का उपार्जन अधिक कर लेता है। गिरधर कवि ने अपनी एक रचना में इसे उदाहरण सहित स्पष्ट किया है :—

सांई एके गिरिधर्यो, गिरिधर गिरिधार होय,
हनुमान बहु गिरि धरे, गिरिधर कहे न कोय।
गिरिधर कहे न कोय हनु द्रोणागिरि लायो,
ताको किनका टूट पड़यो सो कृपा उठायो।
कहे गिरिधर कविराय, बडेन की ढ़ी बड़ाई,
थोड़े ही यश होय, यशी पुरुषन की सांई।

श्रीकृष्ण ने एक बार कनिष्ठ अंगुलि पर पर्वत उठाया तो संसार उन्हें गिरिधारी कहने लगा और हनुमान अनेकों बार पर्वत उठाकर भी गिरिधारी नहीं कहला सके। आश्चर्य होता है कि बहुत बार पर्वत उठाने पर भी गिरिधारी की पदवी नहीं मिली और एक बार पहाड़ उठाकर भी गिरिधर कहला गए। इसका क्या कारण है? केवल पुण्यवान् का संघर्ष ही तो है। अन्यथा जिन् द्रोणागिरि पर्वत को हनुमानने उठाया और उसके गिरे हुए टुकड़े को श्रीकृष्ण ने उठाया था वे कैसे गिरिधर कहलाये? पूरा पर्वत उठाने वाला गिरिधर नहीं कहला सका और उसी का एक टुकड़ा धारण करने वाला गिरिधर हो गया।

कवि का कथन है कि बड़ों की अर्थात् पुण्यवानों की बड़ाई बहुत जल्दी हो जाती है। थोड़ा कार्य करके भी वे अनेक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। अतः अब करना क्या है, यही हमारे लिए विचारणीय है।।

जीवन का उद्देश्य

पुण्य और पाप के परिणामों को देखते हुए अब हमें यही चाहिए कि हम जीवन को गम्भीरता से समझते हुए अपने मानव-पर्याय को सफल बनाने के प्रयत्न

करें! तथा अपना एक लक्ष्य बनाकर उस ओर चलने का प्रयास करें। यह तो आप समझ ही गए होंगे कि इस दुःखमय संसार में पुण्य के बिना कोई भी सुयोग और कोई भी उत्तम साधन नहीं मिलता, जिसके द्वारा हम आत्म-कल्याण के मार्ग पर चल सकें। कहा भी गया है —

“पुण्यं विना धाति दुरन्त दुःखं; संसारकान्तात्मलभ्यपारम्।”

जो घोर एवं विकट दुखों से परिपूर्ण है तथा जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे संसार रूप जंगल से बिना पुण्य के छुटकारा नहीं हो सकता है।

इसलिये बंधुओ, पुण्य-कर्मों की ओर ध्यान देते हुए आपको साधना-पथ पर बढ़ना है। पुण्य-बल के कारण ही आपके जैनकुल, संत-समागम और शास्त्र-श्रवण का अवसर मिलता है। ऐसे उत्तम संयोग पाकर भी अगर यह मानव-जन्म सार्थक नहीं बनाया जा सके तो इससे अधिक पुण्य-हीनाता और क्या होगी।

प्रश्न उठता है कि जीवन का ध्येय क्या होना चाहिए? अगर हम संसार की वास्तविकता पर विचार करें तो यहाँ उत्तर मिलता है कि जीवन का ध्येय इस जीवन से मुक्ति प्राप्त करना ही है। जीवन क्षणभंगुर है। अभी है और क्षण भर बाद रहेगा या नहीं, यह कोई निश्चिन्ता नहीं कह सकता। अतः प्रत्येक अवस्था में मनुष्य को स्मरण रखना चाहिये —

उच्छ्वासों के मिस से प्रतिपल प्राण भागते जाते,
बादल की-सी छाया काया पाकर क्यों इठलाते?
कौन सदा रख सका इन्हें फिर क्या मैं ही रख लूँगा?
पा, यम का संकेत तनिक सा मैं प्रस्थान करूँगा।

संसार के बड़े-बड़े धनी-मानी, श्रेष्ठ्यवान और कीर्तिमान पुरुष भी यम का दूत आने पर एक पल के लिए भी अपना जीवन अधिक नहीं रख सके। रावण जैसे प्रतापी, भीम और अर्जुन जैसे शूरवीर, सहस्रार्जुन सरीखे धरती को अपने हाथों पर तौलने वाले योद्धा, सभी काल-ककोलित हो गए। तब फिर आज का मानव किस बात पर अहंकार कर सकता है? आत्मा के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु नष्ट होने वाली है। अगर यह ज्ञान प्रत्येक मनुष्य कर लेता है तथा आत्मा के साथ क्या चलने वाला है, यह समझ लेता है तो उसका जीवन स्वयं ही त्याग और साधना की ओर बढ़ चलता है।

हमारा भारतवर्ष भारत-क्षेत्र प्रारम्भ से ही ऋषिमुनियों का और महापुरुषों का देश रहा है। उनका जीवन संसार के लिये आज भी आदर्श बना हुआ है। क्या कारण है इसका? यही कि उनमें त्याग की भावना प्रधान थी। संसार के सभी सुख उपलब्ध होते हुए भी उन्होंने सबको ठोकर मारकर आत्म-कल्याण को अपना उद्देश्य मान लिया।

भगवान् महावीर राजकुमार थे। उनका पास कौन-सा सुख नहीं था? समस्त भौतिक उपलब्धियाँ उन्हें प्राप्त थीं। किन्तु उस समस्त वैभव और सुख को नफरत की टोकर मारकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गए।

बुद्ध भी भगवान् महावीर के समान राजपुत्र थे। धन, धान्य, यौवन, राज्य और भी सुख के समस्त साधन उनके चारों ओर बिखरे हुए थे। किन्तु किसी भी सांसारिक वस्तु और सांसारिक संबंधों का मोह उन्हें बाँध नहीं सका। सबका त्याग करके वे भी मुक्ति की अभिलाषा लिये हुए कल्याण-मार्ग पर अग्रसर हो गए।

ऐसा क्यों? इसलिए कि उन्होंने भली-भाँति जान लिया था — सांसारिक पदार्थों से और भौतिक समृद्धि से कभी सच्चा सुख हासिल नहीं हो सकता। संग्रह और परिग्रह लोभ को बढ़ाते हैं। सारे संसार की समृद्धि भी यदि एकत्र करली जाय, तब भी लोभी को सन्तोष नहीं होता। हमारे शास्त्र कहते हैं —

सुवर्ण रुवस्स उ पव्वया भवे, सिंहा हु केलाससमा असंखया।
नरस्स सुद्धस्स ण तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

—उत्तराध्ययन सूत्र

यदि कैलाश पर्वत के समान सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी हो जायें तो भी मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। क्योंकि इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है।

इसीलिए हम उन महान् आत्माओं की पूजा करते हैं जो इच्छाओं से रहित बने, और जिन्होंने वीतराग होकर अपनी आत्मा का कल्याण किया। अपना सर्वस्व त्यागकर, और अन्त में प्राणिमात्र के कल्याण के लिए, हमारे देश के अनेक महापुरुषों ने अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। हमारा दर्शन और हमारी संस्कृति यही कहती है कि, 'अगर तुम सच्चा सुख चाहते हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास है, सब अन्य को अर्पण करदो, आवश्यकता हो तो शरीर भी अर्पण कर दो।

ऐसे आदर्श उपस्थित करने वाली अनेक आत्माएँ हमारे देश की धरती पर उत्पन्न होती रही हैं। दधिवि ने देवताओं की तथा सत्य और धर्म की रक्षा के लिये अपनी देह की हड्डियाँ ही वज्र बनाने के लिये दे डालीं। राजा शिवि ने एक कबूतर की प्राणरक्षा के लिये अपने हाथ-पैर काटते हुए, समस्त शरीर को ही तुलापर चढ़ा दिया। महादानी कर्ण ने अपनी प्राणरक्षा के लिये अनिवार्य कवच और कुण्डल ब्राह्मण के रूप में आए हुए इन्द्र को दे दिए। गौंधीजी को गोली मार दी गई, ईसामसीह को सूली पर चढ़ाया गया और सुकरात को विष-पान कराया गया।

देश और धर्म के लिए बलिदान होने वालों के नामों की गिनती नहीं की जा सकती। शरीर को भी त्याग कर त्याग का आदर्श उपस्थित करने वाली वे

महान् आत्माएँ थीं। आज भी संसार में ऐसे महापुरुषों की कमी नहीं है जो भोग को छोड़कर त्याग को अपनाते हैं।

बंधुओ, मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि अनन्त जन्मों के पुण्यों के परिणाम स्वरूप हमें जो मानव-पर्याय मिली है, उसे अब व्यर्थ नहीं खोना है। अगर हम अपनी आत्मा के सहज-शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें त्याग-मार्ग पर चलना होगा। अगर हमें उस अव्याबाध और अनन्त सुख की कामना है तो वह भोगों में लिप्त रहकर पाप-कर्मों का बन्धन करते हुए नहीं मिल सकता। अगर सांसारिक भोगों को भोगते हुए ही आत्मा का कल्याण हो सकता होता, तो अनेक अवतारी महापुरुष और तीर्थंकर संसार में उदासीन होकर त्याग के पथ पर क्यों चलते? कहा भी है —

होता यदि संसार सुखों का धाम त्याग क्यों करते,
तीर्थंकर चक्री क्यों जाकर वन।में कहे विचरते?
जाग जाग हे ज्योतिपुञ्ज! अकसर बीता जाता है,
जो क्षण गया, गया सदैव को। फिर न हाथ आता है।

बीता हुआ समय पुनः लौटकर नहीं आता इसलिए कवि ने 'चेतन को चेतावनी दी है कि 'अब तू जाग जा!' कच्ची मिट्टी के घड़े में पानी अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। तनिक से धक्के से ही घड़ा फूट जाता है। इसी प्रकार यह मानव शरीर है तथा आयुष्य इस तन-रूपी कच्चे घड़े में भरे हुए पानी के समान है, जो किसी भी क्षण समाप्त हो सकता है। अतः इसके लिए अभिमान करना तथा इसी की सार सम्भाल में अपना अमूल्य समय नष्ट करना वृथा है। न तो यह यहीं पर स्थायी रहता है, और न आत्मा के साथ ही चलता है। ऊपर से सुन्दर मालूम होते हुए भी अन्दर से केवल अशुचि का भंडार मात्र ही है। कवि सुन्दरदास जी ने शरीर की वस्तुविकता का चित्र खींचते हुए, शरीर पर अत्यन्त ममत्व रखने वालों की भर्त्सना करते हुए कहा है —

जो शरीर माँहि तू अनेक सुख मानी रह्यो,
ताही तू विचार या में कौन बात भली है?
मेद भज्जा मांस राग-राग में रगत भर्यो,
पेट हूँ पिटाही सी में ठौर ठौर भली है।
हाड़न सू भर्यो मुख हाड़न के नैन नाक,
हाथ पाँव सोउ सब हाड़न बँति नली है।
सुन्दर कहत याही देखी जन्म।भूले कोई,
भीतर भंडार भरी ऊपर तो दक्की है।

सारांश यही है कि सप्त धातुओं से निर्मित यह शरीर ऊपर चमड़े से मढ़ा हुआ है, और सुन्दर नजर आता है किन्तु अन्दर तो इसमें सिवाय अशुचि

के कुछ भी नहीं है। इसलिए इसको पुष्ट करने और अहर्निश इसकी सार-सम्वहल करते हुए इसे जीवन का लक्ष्य मान लेना महा अज्ञान का लक्षण है। शरीर को धर्म-साधना का सहायक मात्र मानना चाहिये। कहा भी है —

‘शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।’

— धर्म की साधना करने के लिए शरीर ही माध्यम है।

जिस प्रकार मक्खन से घी निकालने के लिये उसे किसी पात्र में डालकर ही आँव पर रखा जाता है, तथा छाद्य को नष्ट करके शुद्ध घी बनाया जाता है। उसी प्रकार तप की अग्नि पर शरीर-रूपी पात्र में मिथ्यात्व एवं कषाय आदि से अशुद्ध आत्मा को तपाया जाता है, ताकि वह विशुद्ध और निर्मल बन सके। शरीर के अभाव में यह संभव नहीं होता। एक बात और भी ध्यान में रखने की है कि आत्मा को निर्दोष एवं निष्कलुष बनाने के लिये एकमात्र मानव-शरीर ही उपयुक्त है। अर्थात् इस मानव भव में ही आत्मा को मुक्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है, अन्य किसी भी योनि में यह कार्य संभव नहीं होता। इसीलिये तो देवता भी मनुष्य-जन्म पाने के लिये तरसते हैं। कहा भी है

जगत जलधि से पार उतरने का शरीर नौका है,
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है।

बन्धुओ, अगर हमें शाश्वत सुख पाने की कामना है, तो इस मानव-जन्म का सदुपयोग करना होगा। यह ध्यान रखना होगा कि अनन्त पुण्य के संग्रह से जो मनुष्य पर्याप्त मिली है, इसका एक क्षण भी व्यर्थ न चला जाए। आप संत दर्शन करते हैं, संत-समागम करते हैं और उनके उपदेश भी सुनते हैं। किन्तु वे उपदेश आप सचाई से हृदयंगम भी करते हैं या नहीं? वे उपदेश आपको सत्यथ दिखाते हैं या नहीं? इसका निर्णय आपको स्वयं ही करना है।

चौधरी ने महाभारत सुना

किसी गांव में एक महात्मा ने महाभारत की कथा पढ़ी। कथा समाप्त होने पर जब वे गाँव से चलने लगे तो वहाँ के चौधरी से पूछा — “क्यों भाई! कथा में रस आया या नहीं?”

चौधरी ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया — “बड़ा रस आया महाराज! बड़ी अच्छी शिक्षा मिली। पर बहुत देर हो गई; आप अगर कुछ दिन पहले आकर यह कथा सुना देते तो बड़ा अच्छा रहता।”

महात्मा जी ने तनिक आश्चर्य में कहा — “कथा सुनने में देर हुई तो क्या हुआ? इसे तो जब भी सुना जाय तभी लाभ है।”

“नहीं भगवन्, अब क्या लाभ है मुझे? मैं तो कुछ महीने पहले जुए में

सब कुछ हार गया था। कुछ भी दाव पर लगाने को नहीं था। अगर उससे पहले आपने यहाँ कथा पढ़ी होती तो मैं भी चौधराईन को युधिष्ठिर के समान दाव पर लगा देता। बताइये, अब वह लाभ मुझे कैसे मिल सकता है?’

चौधरी जब यह बातें महात्मा जी से कह रहा था, चौधराईन उसके पास ही खड़ी थी। पति के बातें सुनकर वह छोधित हो उठी और बोली — ‘महात्मा जी! मुझे भी कथा सुनने में देर हो गई। अगर आपने कुछ दिन पहले यह कथा बाँची होती तो मैं भी इस राक्षस के साथ क्यों जिन्दगी बर्बाद करती। द्रौपदी के जैसे और भी पति कर लेती तथा सती कहलाने लगती।’

बेचारे महात्मा जी अपने कथा-वाचना का ऐसा सुन्दर परिणाम देखकर चुप-चाप वहीं से चल दिये।

तो भाइयो! आपको उपदेश इस प्रकार नहीं सुनने हैं। बल्कि उपदेशों के द्वारा अपनी आत्म-चेतना को जगाना है। जन्म-जन्मान्तरों से हृदय में घर किये हुए अज्ञान, मिथ्यात्व, मोह और माया आदि के पटलों को हटाना है। तभी हमारी पुण्यवानी का लाभ हम उठा सकेंगे। पूर्वजन्मों में जिन पुण्यों का हमने संचय किया, उनके परिणामस्वरूप तो इस जन्म में जैसा कि मैंने अभी बताया था, आर्यक्षेत्र, उद्यकुल, जैन जाति तथा संत-समागम आदि अनेक सुन्दर सुयोग मिले हैं। किन्तु पुण्य की उस पूँजी को अगर हम इसी जन्म में समाप्त कर देंगे और बढ़ायेंगे नहीं तो आगे काम कैसे चलेगा।

इसलिये, हमें पूर्ण दृढ़ता, आस्था और विश्वास के साथ अपने धर्ममय जीवन को उत्तरोत्तर विकास की ओर ले जाना है ताकि अन्त में, यह कहकर पश्चात्ताप न करना पड़े कि :—

बहु पुण्य केरा पुंज श्री शुभ देह मानव नो मल्यो।
तो ये अरे भवचक्र नो आंठो नहँ एके टल्यो।

● ● ●

करमगति टारि नाँहिं टरे

आज हमें देखना है कि कर्मों की गति कितनी विचित्र है तथा लाख प्रयत्न करने पर भी इसे टाला क्यों नहीं जा सकता?

गहना कर्मणोगति :

कर्म की गति अति ही गहन अर्थात् अगम्य हुआ करती है। संसार में जितने भी प्राणी दिखाई देते हैं, उनमें कोई सुखी है और कोई दुखी। यह सुख और दुख किसके प्रभाव से मिलता है? उत्तर एक ही शब्द से दिया जा सकता है। यानी इसका कारण है 'कर्म'। जीव ने जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वैसा-वैसा फल वह भोगता है। कहा श्री है :-

है संसार यही, अनादि से जीव यही दुख पाते।

कर्म-मदारी जीव-वानरों का हा! नाच नचाते।

कर्म-रूप मदारी वास्तव में ही जीव-रूपी वानरों को नाना प्रकार से नचाया करता है। इसके खेल को कोई बंद नहीं कर सकता तथा खेल में भाग लेने से इन्कार नहीं कर सकता। वशीकरण मन्त्र से बँधा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार मंत्रवादी के इशारे पर गति करता रहता है, उसी प्रकार कर्म-रूप मदारी के इंगित पर जीव कभी जो और कभी हँसता रहता है।

कर्मों का खेल वास्तव में ऐसा होता है। जिस जीव ने जैसे कर्मों का बंधन किया है उन्हें भोगे बिना उसे कदापि छुटकारा नहीं मिल सकता —

“अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।”

-विक्रमचरित्र

— इस आत्मा ने शुभ अथवा अशुभ जैसे भी कर्म किये हैं, उन्हीं के अनुसार शुभ अथवा अशुभ फल इसे अवश्य भोगने पड़ेंगे।

जैसी भावना : वैसी सिद्धि

भावना एक ऐसी चीज है, जिसके द्वारा आप चाहें तो ऊँचाई की ओर अग्रसर हो सकते हैं तथा जिसके कारण ही नीचे की ओर भी उतरते चले जा सकते हैं। संस्कृत में कहा भी है :-

“यादृशी भावना यस्य नैवेद्विर्भवति तादृशी।”

—जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही। सिद्धि प्राप्त होती है।

भगवान बुद्ध का कथन था कि मनुष्य जैसी भावना रखेगा वैसा ही बन जाएगा।

एकबार उनके पास दो व्यक्ति आए। एक ने कहा — “भगवन्! मेरे इस मित्र की अगले जन्म में क्या गति होगी? यह कुत्ते जैसे कार्य और विचार किया करता है।”

दूसरा व्यक्ति बोला — “महात्मन्! मेरा यह दोस्त भी तो कम नहीं है। इसकी करतूतें सब बिल्ली जैसी हैं। क्या यह अगले जन्म में बिल्ली नहीं बन जाएगा?”

बुद्ध ने शांति से उत्तर दिया — “भाइयो! जैसे तुम्हारे संस्कार होंगे वैसा ही फल मिलेगा। जो किसी को कुत्ता समझता है वह स्वयं कुत्ता बनेगा और जो किसी को बिल्ली समझता है वह स्वयं बिल्ली बनेगा।”

अभिप्राय यही है कि भावना से ही कर्म बंध होता है :—

{Fancy may kill or cure

—भावना ही मार सकती है या जिला सकती है।}

भवन बनाना या कुँआ खोदना?

मनुष्य मकान बनाता है। एक-एक ईंट करके एक मंजिल, दूसरी मंजिल, तीसरी और चौथी, इस प्रकार जितनी मंजिलें वह बनाता जाता : ऊँचा चढ़ता जाता है। हम दिल्ली से आए हैं, वहाँ तीस-तीस- या चालीस मंजिल के भी मकान बन रहे हैं। इतना ऊँचा चढ़ना कैसे होगा? परिश्रम और मेहनत के साथ। साथ में भावना भी काम करती है। ऊपर चढ़ने की भावना होगी तभी व्यक्ति चढ़ेगा। बिना भावना के चढ़ना नहीं हो सकता। आप चाहें कि भावना के बिना ही तीस मंजिल तक चढ़ जाएँ तो यह संभव नहीं है।

इसी प्रकार कुँआ खोदने वाला गजदूर भी कार्य करता है। उसके परिश्रम के साथ भी भावना काम करती है। वह जैसे-जैसे खोदता जाता है, नीचे उतरता जाता है।

इसी प्रकार जीवात्मा जिस तरह का काम करती है, उसी तरह का उसे फल मिलता है। उत्तम कार्य करने वाले के शुभ-कर्मों का बंध होता है और उसके कारण शुभ फल की प्राप्ति होती है तथा निम्न कार्य करने वाले के अशुभ कर्मों का बंध होने से उन्हें अशुभ फल भोग्य पड़ते हैं। इसीलिए शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है -

एगया देवलेणसु, णरएसु वि एगया।

एगया आसुं काये, अहाकम्मेहिं गच्छई॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अपने कर्मों के अनुसार यह जीव कभी देवर्ताक में कभी नरक में और कभी असुरकाय में उत्पन्न होता है।

सारांश कहने का यही है कि कर्म-फल भोगे बिना छुटकारा किसी भी प्रकार से नहीं मिल सकता, वही व्यक्ति लाख अग्रेशिश क्यों न करे। कर्मों के आगे तो बड़े-बड़े ज्योतिषी, ऋषि मुनि, आदि भी हार जाते हैं। तथा बड़े-बड़े, पोथी, पत्रे व पंचांग व्यर्थ साबित हो जाते हैं। एक पद्य में गद्दी बताया है :-

कर्म ते टारी नाहिं ठरे।

गुरु श्रेष्ठ सम महामुनि ज्ञानी निख लिख लगन धरे,

दुर्ग मरण, हरण सीता को कान वन राम फिरे।

हूँ घोड़ा दस लाख पालकी, नख लख चँवर दुरे।

हरिचन्द्र से दानी राजा, डोम घा नीर भरे॥

कर्मगति टारी नाहिं ठरे।

यह का अर्थ आप समझ ही गये होंगे। रघुकुल शिरोमणि रामचन्द्रजी की पुण्यवानी क्या कमी दिखाई देती थी? राज्यकुल में जन्म, अतुल वैभव में पालन, पोषण, शिक्षा-दीक्षा सभी उत्तम और फिर जनक जैसे विद्वान व ऐश्वर्यशाली राजा की र से पाणिग्रहण। कहीं कोई भी अभाव नहीं था। राज्याभिषेक के लिए गुरु ब्रह्मा ने उत्तमोत्तम मुहूर्त भी निकाल दिया। किन्तु हुआ क्या? राज्य-प्राप्ति के लिए पर वनवास जाना पड़ा, पिता दशरथ की मृत्यु हुई, सीता का हरण कर लिया गया और उसकी खोज में राम को भटकना पड़ा। यह सब कर्मों का ही फल था।

कर्मगति की विचित्रता के कारण ही राजा हरिश्चंद्र जैसे सत्यवादी और महादानी पुरुष को राज्य का त्याग कर मारे-मारे भ्रमना पड़ा। इतना ही नहीं, पत्नी और पुत्र से भी विलग होकर चाण्डाल के घर पर सेवकवृत्ति करनी पड़ी।

कर्म-विडम्बना यही कहलाती है। इसका शिकार व्यक्ति कोटि प्रयत्न करने पर भी इसके चंगुल से छुटकारा नहीं पा सकता! इसीलिए ज्ञानी पुरुष, सन्त महात्मा एवं ऋषि-मुनि सभी एक स्वर से कहते हैं कि — अशुभ कर्मों के उपार्जन से बचो।

शुभ-कर्म और सिद्धि

मानव अगर अशुभ कर्मों से बचने का तथा शुभकर्मों की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता रहे तो एक दिन वह अवश्य आ सकता है कि सिद्धि उसके चरण

चूमे। किन्तु इसके लिए सतत प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। क्योंकि सिद्धि हासिल करना खेल नहीं है। कई वर्ष ही नहीं — कई जन्मों के पश्चात् भी अगर वह प्राप्त हो जाय तो समझना चाहिए कि सौदा सस्ता पड़ा। गीता में कहा भी है

अनेकजन्मसंसिद्धिः

—कई जन्मों में जाकर आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है।

सिद्धि की प्राप्ति के लिए अनेक जन्मों तक भी थल करना पड़ सकता है तथा घोर से घोर उपसर्ग सहन करने का अवसर आ सकता है। किसी उर्दू भाषा के कवि ने कहा है —

तलाशे-यार में जो ठोकरें खाया नहीं करते।

वे अपनी मंजिले मकसूद को पाया नहीं करते॥

अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के प्रयत्न में जो व्यक्ति कठिनाई को सहन नहीं करते, नाना प्रकार की बाधाओं और विघ्नों का मुकाबला नहीं करते, वे अपनी मंजिल पर पहुँचने के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकते।

इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिए कि वह शुभकर्मों के उपार्जन का प्रयत्न करे। शुभ-कर्म अत्यन्त कठिनाई से बँधते हैं जबकि अशुभ-कर्म अति शीघ्र पूर्वक बँध जाते हैं। आपके मन में प्रश्न उठेगा कि यह कैसे? उसके उत्तर आप स्वयं ही देख लीजिए! अगर झगड़ा करना हो किसी से भी, तो दो शब्द -मेढ़े बोल दो फौरन झगड़ा हो जायगा। किन्तु उस झगड़े को मिटाने के लिए अनेक भारी परिश्रम करना पड़ेगा। शुभ कर्मों के लिए बड़ा जोर लगाना पड़ता है।

संसार किस ओर है?

इस समय सारा संसार अशुभ-कर्मों की ओर प्रवृत्त हो रहा है। राग, द्वेष, विषय-वासना आदि की भावनाओं से अंधा बनकर उन्मार्ग पर चल रहा है। मनुष्य को अंधा बनाने में कई दोष काम करते हैं। एक संस्कृत कवि ने मुख्य रूप से छः प्रकार के अंधों के विषय में बताया है —

कामान्ध - कोपान्ध - मदान्धक्राश्व,

लोभान्ध - मोहान्ध - भवान्धक्राश्व।

भवंति लोके किल षड् विधान्धा,

आन्ध्र्यो हि भद्रं लभते न शेषाः।

अर्थात् इस जगत में छः प्रकार के अंधे होते हैं। कामान्ध, क्रोधान्ध, मदान्ध, मोहान्ध, लोभान्ध और जन्मान्ध। शास्त्रकारों ने कहा है कि इन छहों में से अन्तिम, यानी जो जन्मान्ध होता है वह तो कभी सद्भाष्य से आत्म-कल्याण कर मोक्ष गति

प्राप्त कर भी सकता है, किन्तु काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह में जो अंधे बने रहते हैं वे कभी भी कल्याण का मार्ग ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि वे कर्म से अन्धे होते हैं और इसीलिए अशुभ कर्मों के बंध से बच नहीं सकते।

मनुष्य कामनाओं के वशीभूत होकर जन्म-जन्मांतरों तक अनन्त-अनन्त पीड़ाएँ सहता है। कामनाओं का अथवा तृष्णाओं का जाल ऐसा भयानक होता है जो कि प्राणि को दुखों में फँसाकर क्षत-विक्षत कर देता है तथा उस पर अशुभ-कर्मों का बोझ लादकर छोड़ता है।

कामभोगों की स्थिति

बौद्ध जातक में एक लघुकथा आती है। मिथिला के महाराज नमि एक बार गवाक्ष में खड़े होकर नगर का दृश्यावलोकन कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि एक चील माँस के पिंड को मुँह में दबाए आकाश में मँडरा रही थी और अनेक अन्य पक्षी उस माँसपिंड को लपट झपट रहे थे तथा चील को अपनी चोंचों से घायल कर रहे थे।

सहसा घायल चील के मुँह से माँस का टुकड़ा छूट गया और उसी समय दूसरे पक्षी ने उसे अपनी चोंच में दबा लिया। अब सब पक्षी उस पर टूट पड़े। दूसरे के भी घायल हो जाने पर तीसरे का नम्बर आया और उसकी भी वही स्थिति हुई।

यह दृश्य देखकर नमिराज की अन्तःचेतना कह उठी — “संसारि काम भोगों की भी यही स्थिति है। जो भी उन्हें भोगने को आतुर होता है, वह पीड़ा एवं यंत्रणा से संव्रस्त होकर दीन-हीन बन जाता है। जो इन्हें पकड़े रहता है वह दुःख पाता है और जो उसे छोड़ देता है सुख का अनुभव करता है।

सुख प्राप्त करने के लिए इन विषय-भोगों से बचते हुए सन्मार्ग पर चलना आवश्यक है। उन्मार्ग पर चलने से तकलीफ होगी, विघ्न-बाधाओं के कँटे लगेंगे, कभी धराशायी भी होना पड़ेगा। किन्तु सुमार्ग पर अर्थात् सीधे रास्ते पर चलने से कोई तकलीफ नहीं होगी, और होगी भी तो मन की निर्मलता, साहस और उत्साह से वह सहज और सुखमय महसूस होगी।

कर्मों का भुगतान केवल मानवों के लिए नहीं

बंधुओ, आप यह मत समझ लेना कि कर्म केवल मनुष्यों को ही सताते हैं। कर्म तो प्रत्येक जीव के पीछे लगे रहते हैं। जोकि सुख भी देते हैं और दुख भी। एक ही जाति के घोड़ों में से एक जो किसी राजा-शर्ईस के यहाँ रहता है। आराम से अपने स्थान पर बैठा दाना-पानी खाता है, मालिश करवाता है तथा केवल हवाखोरी के लिए ही ले जाया जाता है। उसे क्या काम करना पड़ता है?

कुछ भी नहीं, कचित ही सवारी का अवसर आता है।

किन्तु किसी तौंगे वाले के पास रहने वाला घोड़ा दिन भर और रात को भी, सवारियों को तथा उनके मनो वजन वाले सामान को ढोता रहता है। उसकी शक्ति से भी अधिक बोझा उस पर लाद जाया जाता है। भले ही पीठ पर घाव हो जायें, उसे विश्रांति नहीं मिलती। इसका कारण क्या है? कर्मों का खेल ही तो है यह। एक घोड़े की कैसी बुरी हालत और दूसरे घोड़े की कैसी आरामदायक स्थिति? मूल कारण इसका यही है कि रईस के यहाँ रहने वाले घोड़े ने कुछ पुण्य का उपार्जन किया था और तौंगे वाले के यहाँ रहनेवाले ने अशुद्ध कर्मों का।

कर्मों की लीला के बारे में क्या कहा जाय? बम्बई के पास लोनावला नामक गाँव है। शाम के वक्त मैं उधर से जंगल की ओर जाया करता था। वहाँ पर एक यूरोपियन का पाला हुआ कुत्ता था, जिसे प्रतिदिन एक आदमी हवाखोरी के लिए लाया करता था। एक दिन मैंने उससे इस विषय में पूछा तो वह बोला — “मैं रोज इस कुत्ते को घुमाने लाता हूँ, नहलाता हूँ, दूध पिलाता हूँ तथा इसकी सेवा किया करता हूँ। इसके लिए ही मुझे तनख्वाह मिलती है।”

अब आप ही विचार करिये, एक कुत्ते की सेवा में आदमी नौकर रखा जाता है, उसे कारों में बिठाकर ले जाया जाता है। किन्तु अन्य अनेक कुत्ते एक-एक टुकड़ा रोटी के लिए सौ सौ बार डण्डे खाते हैं, घर में कदम रखते ही उसे मारकर मना दिया जाता है। यह क्यों? इसीलिए कि अपनी पुण्यवानी के बल पर एक कुत्ते ने सुखी जिन्दगी पाई। केवल करनी में कुछ कसर रह जाने से ही पशु योनि प्राप्त हुई। अन्यथा तो जो प्रमुख अनेकों आदमियों को भी नहीं मिलते, वे सुख वह भोगता है। और दूसरा दर-दर फिफ्ता है।

चाहे कुत्ता हो, घोड़ा हो, या अन्य कोई भी प्राणी हो, जिसके पल्ले में पुण्य होता है, उसके लिए सुख होता है और जिसके पल्ले पुण्य नहीं होता उसे दुःख होता है। केवल मनुष्य या तिर्यक के लिए ही यह बात नहीं है। देवताओं का भी यही हाल है। इसमें आश्चर्य की कोई गत नहीं है —

स हि गगनविहारी कल्मष-ध्वंशकारी,
दश शत करधारी ज्योतिषां मध्यचारी।
विधुरपि विधियोगात् ग्रस्यते ऋणासौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितं ह्यः समर्थः ॥

देवताओं के पीछे भी कर्म लगा हुआ है। चन्द्र और सूर्य ये ज्योतिषी देवों के इन्द्र हैं। गगनविहारी चन्द्र कैसा है? इतना ऊँचा, आकाश में चलने वाला तथा अँधेरे की कालिमा को नष्ट करने की शक्ति रखने वाला। दश शत-कर अर्थात् हजार किरण रूपी हाथ रखने वाला। मनुष्य के दो हाथ होते हैं, उनके द्वारा ही वह अपने आपको गिरने-पड़ने से बचा लेता है। और चन्द्रमा के पास तो हजार हाथ

हैं पर अशुभ कर्मों के उदय होने पर उनमें से एक भी काम नहीं आता।

ज्योतिषी लोग चन्द्र-बल पहले देखते हैं। सूर्य, बृहस्पति, शुक्र, मंगल, बुध आदि तो हैं ही, पर चन्द्र-बल का सबसे अधिक महत्व माना जाता है। संस्कृत में चन्द्र को 'विधु' कहते हैं। पद्य में बताए गये के अनुसार 'विधुरपि' यानी चन्द्र भी कर्मों के कारण राहु से ग्रसित हो जाता है। खग्रास चन्द्रमा को ढक लेता है, छिपा देता है। सारे संसार को शांति प्रदान करने वाला, हजार किरणों वाला और ज्योतिषी में अनन्य महत्व रखने वाला चन्द्र भी कर्मोदय के कारण ग्रसित होता है। इससे यह साबित हो जाता है कि ललाट पर लिखे गये लेख को मिटाने में कोई भी समर्थ नहीं होता।

एक बात और ध्यान में रखने की है कि साहूकार किसी को ऋण देता है। किन्तु उस ऋण को जब कर्जदार लौटाता नहीं है तो वह पत्र भेजता है, आदमी भेजता है, कई बार तकाजा करवाता है। इसके बाद भी जब ऋणी रुपये नहीं लौटाता तब फिर नालिश का नंबर आता है और उस पर भी रुपये न मिले तो? कुड़की करवानी पड़ती है। प्रायः कुड़की कब लाई जाती है? जबकि विवाह शादी का कोई खास अवसर हो या ऐसा ही अन्य प्रसंग हो जब लोक काफी संख्या में इकट्ठे हों।

सैकड़ों और हजारों की कुड़की उसी पर की जाती है जबकि किसी प्रकार भी उससे वसूल हो सकना संभव होता है। धर्थात् उसकी स्थिति अच्छी हो। किसी मंगे भूखे को तो ऋण देने का भी सवाल नहीं होता और उस पर कुड़की करवाने से फिर लाभ ही क्या हो सकता है। तो सामने वाले की स्थिति अच्छी होने पर ही जिस प्रकार उस पर कुड़की की जाती है, उसी प्रकार चन्द्रमा को भी पंचमी, साप्ती या अष्टमी को ग्रहण नहीं लगता। ग्रहण लगता है, जब पूर्ण हो जाता है, उसमें पूरी शक्ति आ जाती है। कर्म भी एक प्रकार का साहूकार है जो पूरी तरह समर्थ होने पर अपना कर्ज वसूल करने के लिए आता है। बड़े-बड़े अवतारी पुरुषों पर भी आपत्ति ऐसे ही समय में आती है। हिन्दी कवि कहते हैं -

रामचंद्र थे बल भद्र,
अयोध्या राज जब पाया, कर्म ने धरायके घेरा।
फिरे वन वन में दुख भारी। यह है! कर्मों की गति न्यारी।
किसी से नाहिं टरे टारी,

मर्यादापुरुषोत्तम और बलभद्र के अन्ताराम को जिस दिन राज्यतिलक होने वाला था, उसी दिन वनवास को जाना पड़ा। कर्मों की कृपा के कारण।

ऋषभदेव भगवान् तीर्थंकर थे। किन्तु बारह महीने तक उन्हें भी अन्न और पानी नहीं मिल सका। जिनकी सेवा में देवता रहते हों, उन्हें भी महीनों अन्न-जल न मिले यह कितने आश्चर्य की बात है? पर कर्मों के आगे आश्चर्य हो तो क्या

और न हो तो भी क्या ?

मृत्यु से पूर्व लेना सम्भव नहीं

अशुभ कर्मों के उदय से संकट आते हैं किन्तु साहसी और दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति उनसे हार नहीं खाते। जान पर खेलकर भी वे अपने धर्म और सत्य की रक्षा करते हैं। महासती चन्दनबाला की माता धारिणी देवी की क्या स्थिति थी ? उनके यहाँ क्या कमी थी ? किन्तु अशुभकर्मों के उदय से राज्य छूटा, राजमहल छोड़कर भागना पड़ा और इतने से भी प्राख्य को संतोष नहीं हुआ, अतः सारथी के मन में उनके प्रति दुर्भावना उत्पन्न हुई। किन्तु उस पतिव्रता ने मर जाना कबूल कर लिया, धर्म छोड़ना नहीं। जीते जी अपना शरीर दूसरे के हाथ में देना, वह मंजूर नहीं कर सकती थी। कहा भी है कि 'माँच वस्तुएँ उन्हें धारण करने वाले के जीवित रहते कोई नहीं ले सकता -

शूर शस्त्र, कृपण धन, पतिव्रता को गात।

केसरी मूँछ, भुजंग मणि, मरियाँ। लगी हाथ॥

सच्चा शूरवीर जब तक जीवित रहता है, तब तक उसके हाथ से कोई शस्त्र नहीं ले सकता। मरने के पश्चात् ही वह उसके हाथ से छूटता है और अन्य के हाथों में आ सकता है।

दूसरा है कृपण का 'धन'। कृपण न खाता है, न भोग करता है, न दान देता है, केवल धन को संचित करके ही रखता जाता है। ठीक भी है। स्वतः उपभोग न करने वाला दूसरों को अपने जीते जी दे भी कैसे सकता है ? सगे लड़के को भी वह तिजोरी की चाबी नहीं देता। उसका भी विश्वास नहीं करता। यह नहीं सोचता कि आखिर वह कब तब सर्प बनकर अपने धन पर बैठा रहेगा ? आखिर तो उसे जाना ही पड़ेगा न ! उसका लड़का आज नहीं तो कल सारे धन का मालिक हो जाएगा। पर फिर भी जीवित रहते तो वह दे ही नहीं सकता अपना धन, चाहे सूर्य पूर्व से पश्चिम में रुगने लग जाय। अगर कोई याचक उसके द्वार पर आ जाय तब तो उसे ऐसा लगता है जैसे यमदूत ही द्वार पर आकर खड़ा हो गया है। ऐसे लोगों को बोध देने के लिए कहा भी जाता है -

साँई समय न चूकिये यथाशक्ति सन्मान,

को जाने को आई है, तेरी पौरि प्रमान।

तेरी पौरि प्रमान समय असमय तकि आवे,

ता को तू जिय खोलि हृदय भरि कंठ लगावै।

कह गिरधर कविराय, सबै या में रमिथि आई,

सीतल जल फलफूल समय जनि नूको साईं।

पद्य का सारांश यही है कि द्वार पर आए हुए याचक को भी निराश मत लौटाओ, उसका तिरस्कार और अपमान मत करो। कौन जाने याचक अथवा

अतिथि के रूप में कौन सन्त-महात्मा अथवा भगवान स्वयं ही तुम्हारे द्वार पर आ जाएँ। इसलिये और कुछ अधिक न बन सके तो शीतल जल और फल-फूल से ही उसका स्वागत करो। ऐसा कवि ने काव्य में कहा है। पर, कंजूस व्यक्ति इस बान का कहाँ ध्यान रखता है? वह तो धन को ही सर्वस्व और अपना भगवान समझता है। तथा जब तक जीवित रहता है, 'चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए' वाली कहावत को चरितार्थ करता रहता है।

पद्य में तीसरी चीज पतिव्रता के शील की आती है। शीलवती स्त्री के सतीत्व को भी उसके जीवित रहते हुए कोई भंग नहीं कर सकता। महारानी धारिणी ने शील की रक्षा के लिए अपनी जबान धींचकर चन्द्र मिनियों में प्राण-त्याग दिये थे। चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी ने अलाउद्दीन के आतंक और कुदृष्टि के कारण जौहरव्रत अपना लिया था। उसके साथ ही सैन्य चौदह हजार सैनियों ने भी अग्निस्नान कर लिया किन्तु अपने शरीरों को अन्य का स्पर्श नहीं होने दिया। तभी तो नारी जाति के लिए कहा जाता है :-

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रक्त नग पगतल में।

पीयूष श्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में॥

वास्तव में ही स्त्री पुरुष की रक्षासे महान शक्ति के रूप में होती है। उसके बल पर ही वह अनेकानेक संकटों का सामना करता हुआ अपने उद्देश्य की ओर बढ़ता है। और तो क्या, मुझे यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती कि मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने वाली एकमात्र नारी ही है। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन भी है :-

"Man have sight, women have insight."

— विक्टर ह्यू गो

मनुष्य को दृष्टि प्राप्त होती है पर नारी को दिव्यदृष्टि।

अपनी इस दिव्यदृष्टि के कारण ही वह छाया की तरह पुरुष की जीवन संगिनी बनकर रहती है तथा समय-समय पर उसे पतन के मार्ग पर जाने से रोकती है। पुत्री, बहन, पत्नी तथा माता के रूप में वह अपनी चहुँमुखी प्रतिभा से मनुष्य का मार्गदर्शन करती है। त्याग, उदारता, प्रेम, सहिष्णुता, सेवा, वीरता और बलिदान का आदर्श उपस्थित करके अपने उत्तमोत्तम गुणों से संसार को अभिभूत करती है। ऐसी महिमामयी नारी के धर्म का उसके प्राण रहते कौन नाष्ट कर सकता है?

पद्य में आगे उल्लेख है केसरीसिंह की मूँछ के बाल का। वनराज सिंह की मूँछ के बाल को उसके जीते जी कोई उखाड़ने की हिम्मत नहीं कर सकता और मणिधारी सर्प के मस्तक की मणि भी बिना उसके निष्प्राण हुए कोई छीन

नहीं सकता। यद्यपि उस मणि को प्राप्त करने की मनुष्य में कितनी उत्कट अभिलाषा होती है। सर्प के काटने पर जिसको फेरफें ही विष समूल नष्ट हो जाता है, ऐसी प्रतिभाशाली वस्तु को कौन लेना नहीं चाहेगा? पर मिले कैसे? विषधर भुजंग की बांभी में हाथ डालने की हिम्मत किसकी हो सकती है?

हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम!

हाँ तो मैं कह रहा था कि शायद प्राणी को अपूर्व दृढ़ता और साहस से अशुभ-कर्मों के उदय होने पर उनका मुकाबला करते हुए शुभ-कर्मों का उपार्जन करना चाहिए। प्रायः देखा यही है कि थोड़ी कठिनाईयों और संकटों का आगमन होते ही मनुष्य जीवन से निराश हो जाता है। अत्यधिक आर्तध्यान के कारण उसकी हिम्मत और साहस नष्ट हो जाते हैं। आशा की कोई भी किरण उसे दिखाई नहीं देती। यह अज्ञानता का लक्षण है। उसे यह नहीं भूलना चाहिये कि अशुभ-कर्मों का उदयकाल समाप्त हो जाने पर पुनः शुभ-कर्मों का भी उदय होता है। अगर पल्ले में वे हैं तो। इसलिए अशुभ के उदय होने पर प्राणी को आर्तध्यान न करते हुए अपने मन को बोध देना चाहिए :-

चेतन रे तू ध्यान आरत काँई धनवै!

सुख न रह्यो तो दुख किम रहसी?

इम कहि चित गुजरावे।

साहूकार शिरोमणि सोही,

हर्ष से कर्ज चुकावे...। चेतन रे तू

जैसा कि पद्य में कहा गया है अशुभ-कर्म एक कर्ज के समान है, जिन्हें चुकाना अवश्य पड़ता है, किन्तु चूक जार्फ पर आत्मा का बोझ हलका हो जाता है। अतः उस कर्ज को चुकाते समय ज्ञानी पुरुष को आर्तध्यान नहीं करना चाहिए। अन्यथा पुराना ऋण चुकाते-चुकाते नया गैर सिर पर हो जाएगा। जो महामानव उपसर्गों और परिषर्तों में समभाव रखते हुए कर्मों की निर्जरा करते जाते हैं, वे ही मुक्ति-धाम के अधिकारी बन सकते हैं।

पद्य में कितने सुन्दर और सत्य भाव हैं कि बाँधे हुए कर्म अपना फल देकर तुरन्त अलग हो जाते हैं अतः उनमें न घबराते हुए सम-भाव रखकर निष्काम निर्जरा करनी चाहिये।

अभी-अभी मैंने बताया ही है कि कर्मों से घबराना कैसा? यह तो देवताओं को भी नहीं छोड़ते फिर मनुष्यों की बिरात्र ही क्या है? आज हम मर्यादापुरुषोत्तम राम, भगवान् ऋषभदेव, सती चन्दनबाला आदि का नाम क्यों ले रहे हैं? इसलिये कि उन्होंने अपने कर्मों का कर्ज हैसते-हैसते चुकाया था। उनके कारण आर्तध्यान या रौद्र-ध्यान करके नये कर्मों का किंचित मात्र भी बन्धन नहीं किया था।

शुभ कर्मों का उपार्जन कैसे हो ?

बन्धुओं, अमी मैंने आपसे कहा है कि अशुभकर्मों का ऋण हैंसते हुए सम-भाव से चुकाओ तथा साथ-साथ शुभकर्मों के उपार्जन का प्रयास करते रहो। अब संक्षेप में हमें यह देखना है कि शुभ-कर्मों का उपार्जन कैसे हो सकता है ?

शुभकर्मों का उपार्जन करने के लिए जीवन को धर्ममय बनाना आवश्यक है। तथा धर्ममय जीवन का प्रारम्भ दान से होता है। दान धर्म का प्रवेश द्वार है। इसमें प्रवेश किये बिना मुक्ति रूपी म्हाल में नहीं पहुँचा जा सकता। तीर्थंकर संयम ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक दान देते हैं। दान से हृदय उदार और निर्मल बनता है जो कि चारित्रिक गुणों का विकास करने के इच्छुक साधक के लिए आवश्यक है। दान के रूप में जो दिया जाता है वह वस्तुतः शुभ कर्मों के रूप में दूसरी ओर संचित होता जाता है। आपके अन्य व्यापारों में तो हानि की भी संभावना रहती है किन्तु दान देकर जो पुण्य कमाया जाता है उसकी कभी हानि नहीं होती। इसलिये मुक्तहस्त से दान देना और जैसे भी बन सके दान देने की भावना प्रत्येक मानव में होनी चाहिये। दान के समान अन्य कोई भी कार्य संसार में नहीं है। जैसा कि कहा जाता है :-

“पृथिव्यां प्रवर्तते हि दानं॥”

इस पृथ्वी पर दान ही सर्वोत्तम कर्म है।

दूसरा कार्य है ‘सेवा’। इस अमूल्य मानव-भव को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति अपने समय को सार्थक नहीं करता, अपना समय अन्य प्राणियों की सेवा में नहीं लगाता वह वास्तव में ही भग्यहीन कहा जा सकता है। सेवा और वैयक्त्य करने से आत्मा निर्मल बनती है तथा अनेकानेक पुण्य कर्मों का संचय होता है।

सेवा का उपयुक्त समय

वासवदत्ता मथुरा की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी और अनुपम सुन्दरी थी। एक दिन उसने अपने गवाक्ष से एक सुन्दर युवा भिक्षु को भिक्षा पात्र लिए उधर से गुजरते देखा। नर्तकी उसे देखकर मोहित हो गई और शीघ्रतापूर्वक सीढ़ियों से उतर कर नीचे आई।

नीचे आकर उसने पुकार - “भन्ते”

भिक्षु ने धीरे गति से समीप आकर अपना भिक्षा पात्र नर्तकी के आगे बढ़ा दिया।

नर्तकी बोली - “आप ऊपर पधारें! मेरा भवन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और स्वयं मैं आपकी हूँ। स्वीकार करें!”

“मैं तुम्हारे पास फिर आऊँगा।”

“कब ?” नर्तकी ने अधीरता से पूछा।

“उपयुक्त समय होने पर।” कहकर भिक्षु चल दिया।

कुछ समय बाद अपने दुराचार से भयंकर रोग का शिकार वासवदत्ता मार्ग पर निराश्रित पड़ी थी। शरीर पर फटे चीयड़े थे और उस पर हुए असंख्य घावों से दुर्गंध निकल रही थी।

एकएक वही भिक्षु उधर से निकला और वासवदत्ता के समीप आकर बोला - “भद्रे! मैं आ गया हूँ।”

“कौन ? भिक्षु उपगुप्त ?” तुम अफ़ आए हो ? मेरे पास अब क्या रखा है ? यौवन, सौन्दर्य और धन, सभी कुछ तो नष्ट हो गया।” नर्तकी ने बड़ी कठिनाई से उसकी ओर देखते हुए कहा।

“मेरे आने का समय तो अभी हुआ है।” कहते हुए भिक्षु उपगुप्त ने नर्तकी के घावों को धोना प्रारम्भ कर दिया।

इसे ही वैयावृत्य कहते हैं। संसार के किसी भी महापुरुष के जीवन को हम देखें, तो पाएँ कि उनके जीवन में पर-सेवा एक मुख्य कर्तव्य बना हुआ रहा है। निस्वार्थ सेवा का व्रत जो व्यक्ति अंगीकार करते हैं वे आत्मकल्याण तो करते ही हैं। साथ ही संसार के सन्मुख शुभ-कर्मों के उपार्जन का अनूठा आदर्श भी उपस्थित कर जाते हैं।

इस प्रकार दान एवं सेवा आदि ऽफ़ द्वारा जहाँ शुभ-कर्मों का बंध होता है, वहाँ शील, तप और भावना के द्वारा कर्मों की निर्जस भी होती जाती है। जिस जीवन में इन सब गुणों का समावेश होता है वही जीवन कर्ममय जीवन कहलाता है। और जब जीवन कर्ममय बन जाता है तो प्राणी पापों से स्वतः ही भयभीत होने लगता है।

पुण्य जीवन का विकास करता हुआ उसे मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करता है तथा पाप इसके विपरीत जीवन को अधःपतन की ओर उन्मुख करता है, अनन्त सुख से दूर ले जाता है। पुण्य का परिणाम सुख है और पाप का परिणाम है दुख। कहा भी है :-

सुचिण्णा कम्मा, सुचिण्णा फला इवन्ति।

दुचिण्णा कम्मा, दुचिण्णा फला इवन्ति॥

शुभ कर्म का फल शुभ है। और अशुभ कर्म का फल अशुभ है।

अशुभ-कर्मों के बंध से अपने आपको बचाने के लिए आवश्यक है कि मन में पाप भावना को न आने दिया जाए। किन्तु छद्मस्थ होने के कारण पाप भावना का मन में आना और पापों का झो जाना असंभव नहीं है। अतः कोई

भी पाप हो जाने पर उसका अविलम्ब निराकरण कर लेना चाहिए।

प्रायश्चित्त कर, हलके बनो!

बंधुओ, पाप चाहे छोटा हो या बड़ा, उसे स्वच्छ मन से प्रकट कर देना चाहिए। पुण्य और पाप दोनों में यह खामियत है कि इन्हें जितना भी छिपाया जाय, उतने ही बढ़ते हैं और जितना भी प्रकाशित किया जाय, उतना ही इनका नाश होता है। इसलिये पुण्य को प्रकाशित नहीं करना चाहिए, तथा पाप को छिपाना नहीं चाहिए।

पाप के बोझ को आप चाहे जितने समय तक अपने ऊपर लादे रहें, अंत में तो इसका फल भुगतना ही पड़ता है। तब फिर क्यों न इस भार से शीघ्र छुटकारा पा लिया जाय? आप जानते हैं कि पापों से छुटकारा कैसे मिलता है? प्रायश्चित्त से। अगर मनुष्य सच्चे मन से अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त करे तो उसके पाप धुल सकते हैं। पर वह प्रायश्चित्त सर्वान्तःकरण से होना चाहिए। क्योंकि पाप प्रायश्चित्त से नष्ट होते हैं। पर वह प्रायश्चित्त के दिखावे से नहीं। लोग व्रत, उपवास तथा अन्य अनेक प्रकार के धर्माचरणों का दिखावा करते हैं। किन्तु उनसे पापों का नाश नहीं होता। उनकी भक्ति, बगुला भक्ति कहलाती है। जैसे -

इक बगुला बैठा तीर, ध्यान चार्न नीर में,
लोग कहे वाको चित्त, बस्यो रघुनिर में।
वाको चित्त मछलियाँ माँय जीव की घात है,
पण हौं, वाजिन्द दगाबाज को नहीं मिले रघुनाथ है।

वास्तव में, यह हृदय सत्य है कि जैसी व्यक्ति कितना भी पूजा-पाठ, व्रत, सामायिक, जप, तप और भक्ति का दिखावा करे, उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसी प्रकार प्रायश्चित्त के आडम्बर से पापों का नाश नहीं होता। उससे लाभ के बदले हानि ही होती है। पापों का नाश करने के लिए तो मनुष्य को अनेक जन्मों तक भी प्रायश्चित्त करना पड़ सकता है और तब कहीं उसके पाप नष्ट हो सकते हैं। पर दिखावा करने वाला व्यक्ति एक जन्म में ही और वह भी दिखावटी प्रायश्चित्त करे तो भला उसके पाप कैसे नष्ट होंगे?

इसलिए बंधुओ! चाहे प्रायश्चित्त किया जाय या धर्म - क्रियाएँ, सच्चे मन और पूर्ण निष्ठा से की जानी चाहिए। तभी अशुभ कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का उपार्जन हो सकता है। और आत्मा को सच्चे सुख और संतोष की अनुभूति हो सकती है। समय हो चुका है किन्तु धन्त में मैं आपसे एक और आवश्यक बात कहना चाहता हूँ।

सोने की हो या लोहे की, फिर भी बेड़ी

आप अनुभव कर सकते हैं कि किसी भी प्राणी के पैरों में चाहे लोहे की बेड़ियों बनाकर पहनाई जायें या सोने की उसे एकसी तकलीफ होगी, एकसा ही बन्धन महसूस होगा। पाप और पुण्य भी इसी प्रकार लोहे की और सोने की बेड़ियों के समान हैं और ये दोनों ही मनुष्य को मुक्ति-धाम में जाने से रोकती हैं।

आप यह सुनकर चक्कर में पड़ जाँगि कि अभी-अभी तो गुरुदेव अशुभ-कर्मों से बचते हुए शुभ-कर्मों के उपार्जन का राग आलाप रहे थे और अब यह फरमाने लगे! कि अशुभ और शुभ दोनों ही बन्धन रूप हैं।

यह सत्य है बन्धुओं, वास्तविकता यही है कि आत्मा को मुक्तावस्था प्राप्त कराने के लिये तो इन दोनों ही बंधनों का त्याग करना होगा। अशुभ से बचने के लिये शुभ आवश्यक है किन्तु मुक्त होने के लिए शुभ भी त्याज्य है। उदाहरणस्वरूप पैर में लगे हुए एक छोटे से अशुभ-कर्म रूपी काँटे को शुभ-कर्म रूपी दूसरे तीक्ष्ण काँटे से निकालना पड़ता है किन्तु पैर में लगा हुआ काँटा निकल जाने के पश्चात् उस दूसरे काँटे को भी सहगीर पकड़े नहीं रहता, अविलम्ब फेंक देता है और अपनी राह पर बढ़ जाता है। अथवा :-

अत्यन्त गहरी और चौड़े पाट की नदी को पार करने के लिये यात्री नाव का सहारा लेता है और उसकी सहायता से अगले किनारे पर पहुँच जाता है। किन्तु उसके पश्चात् क्या वह उस नाव में बैठा ही रहता है? नहीं, किनारा आते ही कूदकर अपने गन्तव्य की ओर चल देता है। इस उदाहरण से भी अशुभ और शुभ के विषय में समझना चाहिए। पाप रूपी नदी को पुण्य रूपी नाव से पार तो कर लिया, किन्तु उस पुण्य रूपी नाव को भी पकड़े नहीं रखा जा सकता। अपने घर अर्थात् आत्मा के असली स्थान मुक्ति-महल में पहुँचने के लिये तो नाव को ही छोड़ना भी होगा। श्री भगवती सूत्र में भी कहा भी है :-

“पुण्य पापक्षयो मोक्षः”

पुण्य और पाप दोनों का ही क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। अर्थात् दोनों का क्षय होना ही मोक्ष है।

आशा है आप वास्तविकता को समझ गए होंगे। पर यह समझकर कि पुण्य का उपार्जन भी मुक्ति में बाधक है, शुभ कर्मों के उपार्जन का प्रयत्न नहीं छोड़ेंगे। अन्यथा अशुभ-कर्मों का बोझ आपकी आत्मा से उतरना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव हो जाएगा। हमें मानव-जन्म मिला है, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं। इस जन्म को हमें व्यर्थ नहीं खोना है। यह नहीं भूलना है कि जीवन एक तीर के समान है जो छोड़ देने के बाद पुनः वापिस नहीं आता। किसी शायर ने कहा भी है :

जिन्दगी एक तीर है जाने न पाए प्रायगाँ।

पहले निशाना देख लो बाद में खेंखें करो कमाँ॥

जीवन तभी सफल हो सकता है, जब कि इस जन्म-मरण के भयानक चक्र से छूट कर अक्षय सुख और असीम शांति को प्राप्त कर लिया जाय। अगर मानव इस ओर नहीं चला तो जीवन व्यर्थ चला जाएगा। प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन के एक-एक पल का सदुपयोग करना चाहिये। कर्मगति की विचित्रता को समझते हुए साहस और समभाव से प्रत्येक स्थिति का सामना करना चाहिए। साथ ही जो भूल हो गई हों उनके लिए शुद्ध भाव से प्रायश्चित्त करके शेष जीवन में दृढ़ संकल्प सहित मुक्ति की साधना में संलग्न हो जाना चाहिये। तभी मानव-पर्याय का मिलना सार्थक हो सकेगा और अव्याबाध सुख की प्राप्ति का हमारा उद्देश्य पूर्ण होगा।

● ● ●

[१०]

जाणो पेलें रे पार

हमारे महापुरुषों ने संसार को सगार माना है। जन्म जन्मान्तरों से आत्मा इस सागर में डूबती उतराती चली आ रही है। अतः मुमुक्षु प्राणी इसे पार करने का, इसके अगले किनारे पहुंचने का प्रयत्न करता है। साधारणतया नदी और तालाब आदि को पार करने के लिए यात्री जिराफ प्रकार नाव का सहारा लेता है, उसी प्रकार संसार-सागर को पार करने की इच्छा रखने वाला साधक धर्म रूपी जहाज का आश्रय ग्रहण करता है। किन्तु अगर उसकी पुण्यवाणी प्रबल हो तभी उसका जहाज भव-सागर के तूफानों और भंवरो में सामना करता हुआ आगे बढ़ सकता है।

पुण्यवानी का साथ कब तक?

दो दिन से हमारे यहाँ पुण्य-दशा का वर्णन चल रहा है। पुण्य के बल पर मनुष्य को किस प्रकार शुभ संयोग और सभी प्रकार के उत्तमोत्तम साधन उपलब्ध हो जाते हैं तथा गलत कार्य जो करे तो सही हो जाता है, यही सब हमने समझा था। किन्तु अब हमें यह देखना है कि पुण्य का साथ रहता कब तक है? तब तक ही, जब तक कि उनका उदय हो। पुण्य बल क्षीण होने पर हरिश्चन्द्र जैसे राजा को भी चांडाल के घर सेवक बनना पड़ा और अयोध्या के उत्तराधिकारी राम को वन-वन भटकना पड़ा। कहने का अभिप्राय यह कि, पुण्य-दशा स्थायी नहीं होती। उसके समाप्त होते ही सभी सुयोग्य, सभी साधन और संक्षेप में सभी सांसारिक सुख पानी के बुलबुले के समान विलीन हो जाते हैं। पूज्यपाद श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने अपने भजन में पुण्य-दशा का वर्णन बड़े ही सरल और सुन्दर ढंग से किया है। उन्होंने कहा है -

“बाजीगर जो बाज मचावै वे धाई,
डुम डुम को सुन शब्द खलक जुड़ जाई
होय तमाशो बन्द सभी भग जगै,
बाजीगर निज ठाम अकेलो जावे।
सुन सगुणा रे तुम धर्म-ध्यान निर करलो,
तुम त्यागो पंच प्रमाद; भवोदधि तरलो!

महाराज श्री ने पुण्यबल को एक बाजीगर के दृष्टांत से समझाया है। किसी भी नगर में बाजीगर आता है और अपनी कला दिखाने से पहले डमरू बजाता

है। डम-डम का शब्द सुनकर मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो जाती है और बड़ी रुचि से बाजीगर का खेल देखती है।

किन्तु उसका खेल, अथवा तमाशा जब खत्म हो जाता है, मिनिटों में जनता तितर-बितर हो जाती है। एक भी व्योक्त वहाँ दिखाई नहीं देता और बाजीगर जिस प्रकार अकेला आता है उसी प्रकार अकेला धपने स्थान पर लौटता है।

इसी प्रकार, जब तक पुण्य मनुष्यों के पास होते हैं, तब तक सभी उससे अपनत्व दिखाते हैं। और उसका साथ देते हैं। किन्तु पुण्य-बल समाप्त होते ही कोई बात नहीं पूछता और कोई भी सहायक नहीं बनता। यह बात केवल इस पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों के लिए ही नहीं है। देवताओं के लिए भी है। भगवत् गीता में स्पष्ट उल्लेख है।

“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।”

जब देवताओं के पुण्य क्षीण हो जाते हैं। तो उनको भी अपने समस्त सुखों का त्याग करके मृत्यु लोक में आना पड़ता है। सारी सुख-सामग्री और अतुल ऐश्वर्य का त्याग करना पड़ता है। इसीलिए महापुरुष हमें चेतावनी देते हैं कि जब देवताओं को भी पुण्य-बलक्षीण होने पर अपनी सिद्धि-सिद्धि को छोड़ना होता है तो फिर मनुष्यों को तो बिसात ही क्या है? उनके साथ पुण्य कब तक रहेगा?

किं कर्तव्यम्?

पुण्योदय होने पर समस्त प्रकार के सुखों का अनुभव हो, और उसके अभाव में विपदाओं के पर्वत मस्तक पर टूट पड़ने को हो तो ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये यह श्री तिलोकरूषी जी महाराज अपने पद्य में आगे बताते हैं -

सुन सुगुणारे तुम धर्म-ध्यान नित करलो!

तुम त्यागो पंज प्रमाद भवोदधि तर लो!

कितनी सत्य, स्पष्ट और सुन्दर सौख्य है? कहा है - हे गुणज्ञ बंधु!, तुम पांचों प्रमादों का त्याग करो और धर्म का आराधन करते रहो। इससे तुम्हारी आत्मा पाप और पुण्य, दोनों से ऊपर उठ जायेगी। पापों के परिणामस्वरूप होने वाले दुःखों और यातनाओं का भय नहीं रहेगा तथा पुण्य-बल के क्षीण होने की फिक्र नहीं होगी। पाँच प्रमादों का परित्याग करके धर्म-रूपी जहाज का आश्रय लेकर तुम भवोदधि को पार कर लोगे, उस किनारे पर पहुँच जाओगे!

इस प्रकार संसार में केवल धर्म ही ऐसा आधार अथवा आश्रय है जिसकी सहायता से मुमुक्षु प्राणी जन्म-मरण के नाग-पाश से अपनी आत्मा को मुक्त कर सकता है तथा शाश्वत सुख को प्राप्त करने में समर्थ बनता है। इसलिए धर्म को ग्रहण करना, अर्थात् जीवन को धर्म-मय बनाना ही मनुष्य का प्रथम और अनिवार्य

कर्तव्य है।

त्यागो पंच प्रमाद...

धर्माश्रयन करना आत्मार्थी के लिए आवश्यक है, यह तो आपने समझ ही लिया। किन्तु उसका आश्रयन कैसे किया जाय? अब यह जानना है। पूज्यपाद कवि श्री तिलोकाश्रयि जी महाराज ने इस भी अपने पद्य में समझाया है। वह इस प्रकार कि धर्माश्रयन के लिए सर्वप्रथम पंच प्रमादों का त्याग किया जाय। पाँच प्रमाद कौन कौन से हैं? यह एक श्लोक द्वारा बताया गया है -

“मज्जं विसयं कम्माया, निहा विक्कहा यं पंचमी भणिया।

एए पंच पमाया, जीवं पाडंति संसारे।”

- मद, (अहंकार) विषय, कषाय, निद्रा, तथा विकथा, ये पाँचों प्रमाद जीव को संसार में भटकाते हैं।

अहंकार

अहंकार की भावना मानव के जीवन को पतन की ओर ले जाती है। जब तक मनुष्य के हृदय में यह बनी रहती है, तब तक वह कोटि प्रयत्न करने पर भी आत्मोन्नति नहीं कर सकता। जीवन की संपूर्ण साधना को गर्व मिट्टी में मिला देता है। आत्मा के उत्थान में जो बाधक कारण होते हैं, उनमें सबसे मुख्य कारण अभिमान ही है।

बाहुबलि के विषय में आप जानते ही हैं, घोर तपस्या करने पर भी उन्हें केवल एक ही कारण से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकी थी। कौन सा था वह कारण? एक था मात्र 'अभिमान'। अभिमान का सूक्ष्म सा अंश ही उनके और कैवल्य के बीच में महाकाय पर्वत बनकर खड़ा हो गया। उसका त्याग करते ही उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो गयी।

शास्त्रकारों ने अहंकार को आठ फलवाले विषधर भुजंग के समान बतलाया है। अर्थात् अभिमान आठ प्रकार का होता है। जाति का, लाभ का, कुल का, ऐश्वर्य का, बल का, रूप का, तप का तथा ज्ञान का अहंकार मनुष्य करता है। ये सभी अथवा इनमें से कोई भी एक मद मनुष्य को ज्ञानहीन और विवेकशून्य बनाकर छोड़ता है।

जाति के मद ने चिरकाल से ही विनाश का ताण्डव नृत्य किया है। हमारा इतिहास बताता है कि जाति के मद में अन्धे होकर अगणित हिन्दू और मुसलमानों ने एक दुसरे को इस धरती पर से उठाया है, मरिच के घाट उतारा है।

ऐश्वर्य और लाभ का मद भी मानव को कितना हृदयहीन बना देता है, यह हमारे महायुद्धों से स्पष्ट हो गया है जो कि इस पृथ्वी पर हुए हैं। ऐसे भयंकर

नरसंहार को तो एक आदमखोर व्यक्ति भी घृणा से देखता है।

इतने मनुष्यों को खाया कैसे होगा ?

एक विद्वान प्रोफेसर मौलिनोस्की की अफ्रीका के एक नरमखी से मुलाकात हो गयी।

बेचारा अपढ़ और आधुनिक सभ्यता तथा रीति-रिवाजों से अनजान आदमखोर प्रोफेसर साहब से पूछ बैठा -

“क्यों जी! पिछले महायुद्ध की एक बात मैं अभी तक नहीं समझ पाया। तुम लोगों ने इतने आदमी युद्ध में एक साथ मार डाले, पर उन सबको खाया कैसे होगा ?”

प्रोफेसर ने उत्तर दिया - “उन्हे खाने के लिए थोड़े ही मांस था ?”

सुनकर आदमखोर बड़ा चकित हुआ। साथ ही अत्यंत घृणा से बोला - जंगलखोर आदमी आदमखोर से किस कदर क्रांति होता है कि बिना वजह आदमियों को मारता है।”

आशा है इस उदाहरण से आप समझ गए होंगे कि मनुष्यों को मारकर खा जाने वाल नरमखी व्यक्ति भी बिना वजह आदमियों के नरसंहार को कितना खराब और घृणित मानता है। किन्तु शक्ति के मद में चूर व्यक्ति इतनी सी बात को भी नहीं समझ पाता।

धन का लोभ और उसे प्राप्त करने पर अहंकार की वृद्धि के कारण मानव को उचित अनुचित का भान नहीं रहता। किन्तु उसके अहंकार में कितना सत्य है यह वह नहीं समझ पाता। इसे समझाने के लिए एक और उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

कितने प्राणियों का पालन-पोषण करता हूँ

वीर शिवाजी सामन्तगढ़ का किला बनवा रहे थे। एक दिन वे अपने गुरु ‘समर्थ’ के साथ उसका निरीक्षण करने आये।

वहाँ पर अनेकों मजदूरों को काम करते हुए देखकर शिवाजी के मन में अहंकार का भाव आया कि मैं कितने प्राणियों का पालन करता हूँ। सद्गुरु समर्थ शिष्य की इस भावना को समझ गये और बोले - “वाह शिवा! तुम्हारे कारण कितने जीवों को पालन हो रहा है।”

शिवाजी गुरु के व्यंग को नहीं समझे और अपने आपको धन्य मानकर कह उठे - “यह सब आपके आशीर्वाद का ही फल है।”

इतने में ही पास में पड़ी एक शिन्ना को देखकर गुरु समर्थ बोले - “यह

बीच में क्यों पड़ी है?"

"सरता बन जाने पर तुड़वा दिया जाएगा।" उत्तर मिला।

श्री समर्थ ने कहा - "नहीं, इस काम को भी अभी करवा लो! कोई भी कार्य जो रह जाता है फिर हो ही नहीं पाता।"

तुरन्त ही काशीगर बुलाए गये और शिला तोड़ी जाने लगी। उसके टूटने पर सबने देखा कि शिला के अन्दर पानी से भरा हुआ एक गड्ढा निकला जिसमें एक जीवित मेंढक बैठा हुआ था।

उसे देखकर सद्गुरु बोले - "गृह शिवा! धन्य हो तुम! इस शिला में पानी रखकर तुमने इस मेंढक के पालन का भी प्रबन्ध कर रखा है।"

गुरु के शब्द सुनते ही शिवाजी को अपने अहंकार का मान हो गया। उन्होंने उसी क्षण गुरुजी के चरणों में मन्त्रक झुकाकर अपने दोष के लिए क्षमा याचना की।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव गर्व किस बात का करता है? धन, वैभव, सौंदर्य, शक्ति आदि सब क्या उसवेत साथ सदा रहने वाले हैं? नहीं, केवल पुण्योदय है तब तक ही तो। फिर इन अस्थायी चीजों का अहंकार किसलिए? कहा भी गया है -

न मृत्यूर्निहतो-जीव! गंघं कुर्वन् न लज्जसे?

— पार्श्वनाथ चरित्र

अरे आत्मन्! मृत्यु का विनाश नहीं हुआ, ऐसी स्थिति में परलोक का विचार नहीं करके अहंकार करते हुए तुझे लज्जा का अनुभव क्यों नहीं होता।

कषाय

इन्द्रियों के विषय भी प्रमाद हैं। ज्ञेय-चित्तन मनुष्य के पतन और विनाश का कारण है। जब तक मनुष्य केवल इन्द्रियों का ही स्मरण करता है, तब तक उसके लिए आत्म-उत्थान की आशा करना व्यर्थ है। यदि वह अपने जीवन को पुण्यमय, शांतिमय और उत्तम बनाना चाहता है तो उसे विषय-विकार का त्याग करना चाहिए जबतक हृदय में विषय विकार-रूपी अशुद्धता है, मानव आत्म कल्याण का पथ ग्रहण नहीं कर सकता।

विषयों में तीव्र आकर्षण होता है जो व्यक्ति को अपनी ओर खींचकर पतन की ओर उन्मुख कर देता है। इन्द्रिय-सुख-भोगासक्त व्यक्ति को सच्चे सुख ही प्रतीत होते हैं। जबकी वास्तविकता यह है कि वे सुख नहीं केवल सुखाभास ही हैं। मनुष्य की चित्तवृत्ति जब तक उनमें रमण करती रहती है, वह शुद्धता की ओर नहीं बढ़ सकती। आत्मस्वरूप का चिंतन नहीं कर सकती तथा आत्मा को संसार

मुक्त कराने अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकती। मनुष्य जब तक विषय-विकारों में आसक्त रहता है, यह भूल जाता है कि संसार के क्षणिक सुख उसे चिरकाल तक घोर दुःख देंगे तथा दुर्गति का कारण बनेंगे —

‘सहं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा।

कामे य पत्येमाणा अकामा ऋति दुग्ई॥

शब्द रूप रसादि के भोग शून्यरूप हैं, विष हैं। आशीविष के समान हैं। इनकी अभिलाषा करने वालों को अनिच्छा से दुर्गति में जाना पड़ता है।

इसीलिए महापुरुष जो संसार से मुक्त होरु के लिए व्याकुल रहते हैं। विषय-विकारों को विषधर सर्प के समान समझकर दूर भागने की चेष्टा करते हैं।

शुभ मंगल सावधान!

नारायण नामक एक बालक बचपन से ही संसार से विरक्त सा रहता था। उसका अधिक समय भजन, पूजन, ज्ञान, ध्यान एवं तप में बीतता था। नारायण की माँ अपने पुत्र का ब्याह कर पुत्र-वधू का मुँह देखने के लिए उतावली थी। अतः बारह वर्ष की अवस्था में ही उसने पुत्र का ब्याह रचा दिया।

किशोर नारायण बड़ी धूम-धाम और ऋाजे-गाजे सहित बरात के साथ खाना हुआ। तथा विवाह के लिए अपने श्वसुर गृह के द्वार पर पहुँचा।

जिस समय विवाह-मण्डप में मंगलाष्टक शुरु हुए, ब्राह्मणों ने कहा - ‘शुभ मंगल, सावधान’।

नारायण ने मन ही मन इसका अर्थ लगाया - ‘संसार की दुःखदायिनी बेडी तुम्हारे पैरों में पड़नेवाली है अतः सावधान हो जाओ।’

नारायण तत्काल उठकर वहाँ से भाग गया। वही नारायण वर्षों की कठोर तपस्या के बल पर पहले ‘रामदास’ कहलाया और फिर ‘समर्थ’ बन गया। सद्गुरु ‘समर्थ’ जो शिवाजी के गुरु थे।

इस प्रकार महान् आत्माएँ विषयों से दूर भागती हैं तथा उनसे विमुख होकर अपनी आत्मा के कल्याण में जुट जाती हैं। विषयों से विमुख होना ही आत्मोन्नति तथा आत्म-शुद्धि का प्रथम चरण कहलाता है। कहा भी है -

विषयेष्वति संरागो मानसो मल उच्छेदे।

तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥

विषयों में अत्यन्त राग ही मन का मूल है और विषयों से वैराग्य होने को ही निर्मलता कहते हैं।

कषाय

तीसरा प्रमाद कषाय को माना गया है। कषायों के द्वारा आत्मा का जितना अहित होता है, उतना अन्य किसी भी शत्रु के द्वारा नहीं होता है। कषाय कर्म-बन्ध के सबसे प्रबल कारण हैं और यही आत्मा को समस्त योनियों में भटकते हैं। जिनकी आत्माओं में कषायों की अग्नि शोधक होती रहती है, अर्थात् कषायों के कारण जिनकी आत्मा मलिन है उन आत्माओं में सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का आविर्भाव नहीं होता। कषायों की तीव्रता के कारण ही आत्मा अधःपतन की गहरी खाई में गिरती जाती है। तथा आत्मोत्थान की कल्पना कभी साकार नहीं बन पाती। मन में कषायों के प्रवेश करते ही अन्य स्मस्त सदगुण एक-एक करके बाहर निकल जाते हैं। क्योंकि दुर्गुणों का तथा सदगुणों का कभी मेल नहीं होता। शास्त्रों में बताया भी है -

कोहो पीड़ पणासेइ, माणो रिणय-नासणो
माया मित्ताणि नासेई लोभो म्मच्च-विणासणो ॥

-दशवैकालिक सूत्र

- क्रोध प्रीति का नाश करता है। भान विनय का, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ तो हृदय के समस्त सदगुणों को ही नष्ट कर देता है।

क्रोध का आवेश तो अल्प समय के लिए होता है, किन्तु उससे वैर का जब जन्म होता है तो वह बहुत लम्बे समय तक और कभी कभी तो जीवन के अन्त तक रहता है। इसके अलावा भी हमारा इतिहास साक्षी है कि वैर अनेक जन्मों तक भी शान्त नहीं होता। त्रिष्टु वासुदेव के भव में भगवान महावीर के जीव ने शय्यापालक के कानों में गस्म गस्म शीशा डलवाया था। परिणामस्वरूप उसी जीव ने गोपालक के रूप में भगवान महावीर के कानों में कीलें ठोके।

इसी प्रकार कमठ संन्यासी दश भवों तक निरन्तर भगवान पार्श्वनाथ को उपसर्ग देता रहा। महात्मा गांधी ने भी क्रोध की भर्त्सना करते हुए एक स्थान पर लिखा है -

“क्रोध वह प्रचंड अग्नि है, जिसे मनुष्य अगर वश में नहीं कर लेता तो स्वयं को जला डालता है। और वश में कर जने पर उसे बुझा देता है।”

मैं स्वीकार नहीं करता

एक ब्राह्मण गौतम बुद्ध से दीक्षा लेकर भिक्षु बन गया। उसका एक संबंधी इससे अत्यन्त कुपित हुआ और आकर बुद्ध को गालियाँ देने लगा। बहुत देर तक गालियाँ देने के पश्चात् जब वह थककर चुप हो गया तो तथागत ने पूछा -

“क्यों भाई! तुम्हारे यहाँ अतिथि आते भी हैं कभी?”

“क्यों नहीं आते?” उत्तर मिला।

“तुम उनका आदर सत्कार करते हो?”

अतिथि का सत्कार कौन मुख नहीं करता?”

“मान लो, तुम्हारी दी हुई वस्तुएँ अतिथि स्वीकार न करे तो कहाँ जायेंगी?”

मन्नाया हुआ व्यक्ति बोला - “जायेंगी कहाँ? अतिथि नहीं लेगा तो क्या मेरे ही पास रहेंगी।”

“तो भाई! तुम्हारी दी हुई गलियों में स्वीकार नहीं करता।” बुद्ध ने परम शांति से कहा।

ब्राह्मण तथागत की यह बात सुनकर अत्यंत लज्जित हुआ और चुपचाप वहाँ से चला गया।

महापुरुष इसी प्रकार क्रोध ग्नि आग से अपने आपको तथा दूसरों को भी जलने से बचा लेते हैं। अन्यथा सर्वसाधारण व्यक्ति तो अपना सर्वनाश कर लेता है। गीता में भी बताया गया है - -

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

-क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से स्मृति भ्रंत हो जाती है। स्मृति भ्रंति से बुद्धि का नाश हो जाता है, और बुद्धि नष्ट होने पर प्राणी स्वयं नष्ट हो जाता है।

निद्रा

तीसरा प्रमाद अधिक निद्रा लेना है। वह भी मानव के लिए त्याज्य है। अधिक निद्रा लेने का परिणाम है धर्माश्रय, ज्ञान-ध्यान आदि में कमी होना। स्वाभाविक ही है कि जो व्यक्ति प्रातःकाल में देर तक सोता रहेगा वह ब्राह्ममुहूर्त में किये जाने वाले स्वाध्याय, ध्यान, प्रार्थना तथा पठन-पाठन आदि से वंचित रहेगा। यद्यपि यह सत्य है कि -

ब्रह्मचर्यतेर्ग्राम्य-सुख-निस्पृहचेतसः।

निद्रा संतोषदृप्तस्य स्वकालं नातिवर्तते॥

- जो मनुष्य सदाचारी है, विषय भोग से निस्पृह है, उसको समय पर निद्रा आए बिना नहीं रहती।

किन्तु दिन भर के शक्ति क्षय की पूर्ति तथा नवीन स्फूर्ति-ग्रहण के उद्देश्य की पूर्ति के अलावा जो व्यक्ति अधिक समय तक सोता है वह नाना प्रकार के शारीरिक व मानसिक विकारों का शिकार बनता है। किसी ने ठीक ही कहा है -

“निद्रा व्याधिग्रस्त की माता, भोगों की प्रिम्पला और आलस्य की कन्या है।”

कबीर ने भी अपने एक पद्य में बड़े सुंदर ढंग से बताया है कि किसे

सोना चाहिये और किसे जागना चाहिये? उन्होंने कहा है -

सोता साथ जगाईये, करै नाम ज्ञा जाप।

यह तीनों सोते भले, साकत, सिंह औ सांप॥

वास्तव में ही विषधर प्राणी अधिक समय तक सोते रहे तो अच्छा किन्तु संत, महात्मा और साधक को तो अल्प-नेद्रा लेकर ही जाग उठना चाहिये। ताकि वे अपने समय का सदुपयोग कर सकें तथा शांतिचित्त से धर्माश्रयन कर सकें।

प्रमाद मनुष्य के जीवन का सर्वांग बड़ा शत्रु है। जो व्यक्ति इसका शिकार हो जाता है वह जीवन में कदापि उन्नति नहीं कर सकता। नींद इसका प्रथम लक्षण है। यजुर्वेद में कहा है -

भूत्यै जागरणम्; भूत्यै स्वप्नम्।

- जागना (ज्ञान) ऐश्वर्यप्रद है तथा सोना दरिद्रता का मूल है।

अतः प्रत्येक मनुष्य को प्रमाद के द्वारा होने वाली हानियों को समझकर इस दोष से अपने आपको दूर रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

विकथा :

पाँचवां प्रमाद है विकथा करना। जिन बातों में कोई सार नहीं होता ऐसी बे सिर-पैर की तथा इधर-उधर की बातों करके व्यर्थ में ही कर्मों का बन्धन करना मनुष्य की अज्ञानता का लक्षण है।

कुछ व्यक्तियों की आदत होती है कि वे बिना प्रयोजन के ही स्त्रियों के सौन्दर्य, स्वभाव, चालढाल आदि के बारे में, देश और विदेश की भूतकाल या वर्तमानकाल की घटनाओं के विषय में, राज्य की अथवा सरकार की व्यवस्था, नियमादि के विषय में तथा यह सब न होने पर और कुछ नहीं तो सरस और नीरस भोजन सामग्री आदि के विषय में ही गलाप किया करते हैं। ऐसी निरर्थक बातें करते समय वे भूल जाते हैं कि इससे कर्म-बन्धन तो होता ही है, साथ ही उनका बहुत सा अमूल्य समय भी व्यर्थ चला जाता है।

बन्धुओ, यह मत भूलो कि कहे हुए शब्द और बीता हुआ समय, ये पुनः लौट-कर नहीं आ सकते। समय को तो संसार में सबसे शक्तिशाली अर्थात् परमात्मा से भी अधिक बलशाली माना जाता है। क्योंकि भक्ति साधना और पूजा आदि से भगवान को बुलाया जा सकता है पर बीते हुए समय को तो कोटि-प्रयत्न करके भी वापिस नहीं लौटाया जा सकता। भगवान महावीर ने इसीलिये गौतम स्वामी से बार-बार कहा -

‘समयं गोयम! मा पमायए’

- हे गौतम! समय मात्र का भी प्रसाद मत करो।

भगवान की यह चेतावनी केवल गौतम स्वामी के लिये ही नहीं थी। मनुष्य मात्र के लिए है कि अपने जीवन के अनमोल क्षणों को बर्बाद न करके उन्हें आत्मोत्थान में लगाओ। अन्यथा समय किसी को परवाह न करते हुए चलता जाएगा और हमें ही अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ेगा कि कैसे सुनहरे समय को हमने विकथाओं में बर्बाद कर दिया। पश्चात्ताप ग्रस्त किसी व्यक्ति के उद्गार भी हैं।

इस पहर जो भी मिला फिर वो उस पहर न मिला।

यानी जो शाम मिला था वे फिर सहर न मिला।

इसलिये भाईयो! अहंकार, विषय, काष्ण्य, निद्रा एवं विकथा रूप प्रमाद को हमें अपने जीवन से निकालना है। क्योंकि इनके होते हुए हम कभी भी आत्मोत्थान के अपने ध्येय में सफल नहीं हो सकते।

संतो का सद्प्रयत्न

बंधुओ, संत-महात्माओं की बड़ी कृपा है कि वे अपने समीप आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को सत्पथ बताते हैं। उनका उपाश, उनकी सहज में की हुई बातचीत तथा उनका जीवन ही मानव के लिये प्रेरणाप्रद बन जाता है। महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत तुकाराम जी करते हैं :-

काय सांगु आता, संतांचे उपकार,

भग निरंतर जाग लेती॥१॥

काय छावे त्यासी व्हावे उतापई

ठेवितों हा पायीं जेव थोडा॥२॥

संतो के उपकार का मैं क्या वर्णन करूँ? मैं मोहरूपी नींद में पड़ा हूँ। कहते हैं सोते सोते तो अनन्त जन्म बीत गए। न जाने कितनी बार जन्म और मरण को प्राप्त हुए हो, पर अब न जाने कितने पुण्यों के संयोग से मानव-पर्याय मिली है, बुद्धि और विवेक प्राप्त हुआ है, संतो के समागम का अवसर मिल सका है, अगर इतने शुभ संयोग मिलने पर भी तुम नहीं जागे तो फिर कब जागोगे?

हिंदी भाषा के अन्य कवि ने भी कहा है --

‘इस मोह नींद में तुम्हे, सोना न चाहिये!

सोना न चाहिये तुम्हे, सोना न चाहिये!

जाना है, तुम्हे दूर, विकट पंथ अवेक्ष्ता,

रास्ते में कांटे शूल को बोना न चाहिये।

कवि ने मनुष्य को चेतावनी दी है। कि इस मोह-रूपी निद्रा में अब तुम्हे सोना नहीं चाहिये। तुम्हारा लक्ष्य स्थान जो कि ‘मोक्ष-धाम’ है बहुत ही दूर है, और पथ बड़ा बौहड़ है। इसे पार करना ही प्रथम तो बड़ा कठिन है और अगर तुमने अपने कुकृत्यों द्वारा अशुभ कर्म-रूपी कांटे और भी इसमें बिखेर दिए तो

फिर यह किस प्रकार तय किया जा सकेगा?

हमें भी साधु बनाएँ क्या?

बंधुओ, प्रवचन सुनते-सुनते और संत महात्माओं की चेतावनियों से घबराकर कोई भाई यही कह देगा कि, 'महाराज, आपने तो सिर में सख मल ली और साधु हो गए, अब हमें भी यही करने को कह रहे हैं क्या? हम भी साधु बन जाएँ अगर सभी साधु बन गए तो फिर भिक्षा कौन देगा?

उत्तर में हमारा यही कहना है कि आपको भिक्षाचारी की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। साधु बनना इतना सहज नहीं है कि प्रत्येक साधु बन सके -

शैले-शैले न माणिक्यं, मूर्त्तिकं न गजे गजे।

साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य नहीं होता और प्रत्येक हाथी के मस्तक में मोती नहीं निकलता, सर्वत्र साधु नहीं मिलते और सब वनों में चन्दन नहीं होता।

कहने का अभिप्राय यही है कि ऐसे व्यक्ति विरले ही होते हैं जो अपनी विषय वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, भोग-विलास जिन्हें सर्वनाश के समान दिखाई देता है और सांसारिक सुख मृशुवत् भयंकर लगते हैं। इन्द्रिय-जनित सुख की कामनाओं के ऐसे विजेता ही संसार से विरक्त होकर साधु-वृत्ति को अपना सकते हैं।

आत्मसाधना के मार्ग पर वीर और दृढ़ता से संपन्न व्यक्ति ही चल सकते हैं। कायर व्यक्तियों के कदम इस पथ पर नहीं बढ़ते। हमारे शास्त्रों में कहा भी है -

जहा दुक्खं भरेउं जे, होइ वग्गस्स कोत्थलो।

तहा दुक्खं कोउं जे, कीवेणं समणत्तणं॥

-- उत्तराध्ययन सूत्र १९-४१

जिस प्रकार कपड़े की थैली को हवा से भरना कठिन है, उसी प्रकार कायरता से संयम पालना कठिन है।

कहने को तो आप लोग कह देते हैं कि - साधु जीवन बड़े आनंद का है। न पैसा कमाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है और न ही कोई फिक्र रहती है। स्वादिष्ट भोजन और आवश्यकतानुसार वस्त्र आदि सभी चीजें इच्छा होते ही प्राप्त की जा सकती हैं। ऊपर से लोग आ-आकर चरणों में मस्तक झुकाते हैं।

मेरे भाई! - अगर ऐसा ही है! अर्थात् साधु-जीवन इतना आनन्दमय है

तो फिर देरी किस बात की? आ जाओ, और बनो साधु! पर क्या संभव है ऐसा? आज अगर जोर देकर कहूँ कि सबको साधु बनना है तो शायद कल यहाँ पर एक भी श्रोता दिखाई नहीं देगा। हम संत ही अर्हते होंगे।

संसार असार है

एक संत के पास चार व्यक्ति आए। संत ने उनसे अपने-अपने अनुभवों के विषय में पूछा -

एक व्यक्ति बोला - "महाराज! संसार का प्रत्येक व्यक्ति मक्कार है। और किसी न किसी तरह से अपना स्वार्थ-सिद्ध करने में ही लगा हुआ है।"

दूसरा बोला - "क्या बताऊँ! आज दुनियाँ में इतनी अप्रामाणिकता बढ़ गयी है कि किसी का भी विश्वास नहीं किया जा सकता।"

अब तीसरे का नम्बर आया। उसने कहा - "संसार में सब संबंधी मतलब के सगे हैं। जहाँ स्वार्थ सिद्ध होने की संभावना नहीं होती, कोई बात भी नहीं पूछता।"

तीसरे की बात समाप्त होते ही चौथा बोल पड़ा - "भगवन्! इस संसार में सुख-शांति तो कहीं है ही नहीं, चारों लफ दुख, दरिद्रता और चिन्ताओं का ही साम्राज्य है।"

संत ने चारों व्यक्तियों की बातें शान्ति से सुनी और फिर कहा - "अगर संसार ऐसा है तो भाई, तुम सब संन्यास ही क्यों नहीं ले लेते हो? ऐसी दुनियाँ में रहने से क्या है?।" पर संत आगे क्या कहते हैं यह सुनने के लिए चारों में से एक भी व्यक्ति वहीं नहीं था।

तो बंधुओ! आप सबका यही हात्र है। आप संसार को दुखमय और साधुजीवन को सुखमय कहते हो, किन्तु अगर इस सुखमय जीवन को अपनाने का आपसे कह दिया जाय तो बगले झोंकने लग जाते हो। साधु-जीवन वास्तव में तो लोहे के चने धबाने जैसा है, यह ऐसी बसौटी है, जिस पर साधक के संयम, साहस, धैर्य, सहनशीलता, शान्ति और संतोष आदि की सच्ची परख होती है।

अधिक क्या कहा जाय? संत जीवन संयम का मूर्त रूप है। मन और इंद्रियों पर संयम रखने के साथ ही साधु को अपने हाथों तथा पैरों पर भी संयम रखना पड़ता है। शास्त्रों में भी कहा है - 'इत्थसंजए, पायसंजए'। संत जीवन की प्रत्येक क्रिया संयम को लक्ष्य में रखकर ही की जाती है। वे जिस प्रकार त्याग, तपस्या, साधना आदि संयम को लक्ष्य में रखकर करते हैं, उसी प्रकार उनका आहार करना, बोलना, मौन रखना और चरना-फिरना भी संयम की रक्षा करते हुए ही किया जाता है। और यह सब साध्याश्रम मनुष्यों के बल-बूते का काम नहीं है।

इसलिये, हम आपको साधु ऋषि बन जाने के लिए नहीं कहते। हम यह कहते हैं कि - चाहे आप गृहस्थाश्रम में रहो, पर जल में कमलवत् रहो। संसार में आसक्त मत रहो। आत्मा के असली स्वरूप को मत भूलो। अपने विवेक और श्रद्धा को जागृत और दृढ़ रखो। ईश-स्मरण करो।

अभी तो लोगों को नाम-स्मरण करने को कहा जाय तो बहाने बनाते हैं कि - 'काम बहुत रहता है, समय ही नहीं मिलता।' जब दस मिनट आत्मचिंतन करने की भी आपको फुरसत नहीं मिलती तो साधु बनकर सारा जीवन ही साधना और भक्ति में बिताना क्या आपके लिए संभव है? नहीं, पर ऐसे काम क्योंकर चलेगा? इस तरह तो अनेक जन्म बीता गये और यह मानव-जीवन भी बीता जा रहा है। तथा इस प्रकार आत्मा जन्म और मरण के चक्र में पिसती जा रही है। आत्मा का गंतव्यस्थान यह संसार नहीं है, वरन् मोक्ष धाम है जो कि कवि के शब्दों में 'बहुत दूर.....' है।

मंजिल दूर है

आप कोस दो कोस जाते हैं तब भी साथ में रुपये-पैसे, खाद्य-सामग्री, पहनने के वस्त्र और वर्षा ऋतु हो तो बरसाती और छाते वगैरह लेकर चलते हैं। शीत ऋतु में ऊनी कोट, स्वेटर और रजाई-गद्दे भी साथ में बाँधते हैं। किन्तु आत्मा को कहाँ जाना है? इसकी मंजिल कहाँ है? इसका ध्यान है आपको? और फिर रास्ता इसका कैसा है? एक मारवाड़ी भजन में कहा भी है -

उलट नदी के मार्ग चालणो, जाणो पेले रे पार।

आगल नहीं है हाट बाणिया, संबल लीजो रे लार।

भूलो मन भंवरा काँई भये, भ्रमियो दिवस ने रात।

माया रो लोभी प्राणियो, मरं दुर्गति जात.....।

भूलो मन.....।

बात वही की वही है, चाहे हिन्दी में कही जाय, मराठी में कही जाय, संस्कृत में कही जाय अथवा मारवाड़ी में कह दी जाय। जीवात्मा अनन्त काल से मोह-माया में फंसा है, और प्रमाद की नींद में सोया हुआ है। उसे जगाने का ही यह प्रयत्न है। जो व्यक्ति मोह में अन्धा हो जाता है वह, जो काम करना चाहिये, उसे नहीं करता और जिस काम को नहीं करना चाहिये वह कर बैठता है। ऐसा करने से उसके उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो सकती है?

और फिर आत्मा को संसार-मुक्त करने का उद्देश्य तथा उसके लिये किया जाने वाला प्रयत्न तो अत्यन्त कठिन है। कठिन ही नहीं, अगर यह भी कहा जाये कि पानी के प्रवाह के सामने चट्टान है, तो भी अतिशयोक्ति नहीं है। आप जानते ही हैं, जब सामने की हवा होती है आपको पैदल चलने में या साइकिल पर चलने में भी कठिनाई महसूस होती है। तब फिर उमड़ती हुई तेज प्रवाह वाली

नदी के सामने चलना तो कितना कठिन और असम्भव-प्रायः ही होता जाता है। इस पर भी चलना केवल दो-चार कदम ही नहीं, वरन् अगले किनारे और कवि के शब्दों में पेले पार पहुँचना है।

आगल नहीं है हाट बाणिया.....सम्बल लीजो रे लार!

कितनी भाव-भरी बात है। मुक्ति-पथ के पथिक को कवि केवल मार्ग की कठिनाइयाँ ही नहीं बता रहा है। वह यह भी बता रहा है कि इस लम्बी मंजिल वाले बीहड़ मार्ग में कहीं दुकान या छुट नहीं है जिस पर तुम्हारे थकान से चूर हुए शरीर को विश्राम और कुछ उदरपूर्ति के लिए सामान मिल जाय। अतः तुम पहले ही चतुर्दश पूर्वक रास्ते के लिए सम्बल ले लो। अर्थात् खर्ची अपने साथ ले चलो।

वह खर्ची क्या है? शुभ कर्मों का प्रंचय, पुण्यों का उपार्जन। शुभ कर्मों का सम्बल ग्रहण करके ही मुमुक्षु साधना-पथ को तय कर सकता है। महाभारत में कहा गया है -

शुभेन कर्मणा सौख्यं, दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र, नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

- वेदव्यास

- शुभ कर्म करने से सुख और पाप-कर्म करने से दुख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता।

इसलिए बंधुओ! पुण्यों का उपार्जन करो, वही तुम्हारे साथ जायेगा। भक्ति करो वह साथ जाएगी, सेवा करो साथ जाएगी, नाम-स्मरण साथ जाएगा। आप देश, जाति और धर्म की सेवा करो, संघ की सेवा करो। धन-संपत्ति, शारीरिक सुख, मान-बड़ाई आदि की आकांक्षा न रखते हुए अहंकार से रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धन के द्वारा संपूर्ण प्राणियों के हित में रत होकर उन्हें सुख पहुँचाने की चेष्टा करना सच्ची सेवा कहलाती है। सेवा ही वास्तविक संन्यास है। संन्यासी अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है किन्तु सेवा-व्रतधारी पुरुष परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। सेवा किये बिना कोई मानव महामानव नहीं बन सकता। सेवा के परिणामस्वरूप ही अनेकानेक पुण्यों का उपार्जन होता है, जो कि मुक्ति-रूपी मंजिल के यात्री का संबल बनता है।

इस मंजिल के राही को तीन कठिनाइयों से मुकाबला करना पड़ता है। प्रथम है मंजिल की अत्यधिक दूरी, दूसरी रास्ते की विकटता, और तीसरी एकाकी होना। आपको थोड़ा सा भी रास्ता तय करना हो तो सहयात्री की इच्छा करते हैं। क्योंकि साथी होने से मार्ग सुगमता से कट जाता है और कठिन मार्ग पर

पर्वत आदि की उँचाई पर सभी एक-दूसरे के सहायक भी बन जाते हैं। पर मुक्ति की ओर जाने वाले दुस्तर पथ पर अकेले ही चलना पड़ता है, न कोई साथी ही उस समय काम आता है और न रास्ते में कोई अन्य सुविधा ही प्राप्त हो सकती है।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हमें साथ में खर्ची तो रखनी ही है, इस बात का भी पूरा खयाल रखना है कि कहीं हमारे कुकृत्यों से पथ में शूल न बिखर जायें। चोरी करना, झूठ बोलना, मदिरापान करना, मौस भक्षण करना तथा झूठी गवाही और झूठे कलंक आदि लगाना ही मार्ग में शूल बिखेरना है। अतः इनसे प्रत्येक व्यक्ति को बचना आवश्यक है।

साधु भूखा भाव का

संत तुकाराम जी कहते हैं - 'मुझे संतों ने जगाया, मुझ पर महान उपकार किया। उसके लिये मैं उन्हें क्या दूँ।'

संतों के लिए सोना, चांदी और रुपया-पैसा मिट्टी के समान है। उन्होंने तो इन सबको पहले ही छोड़ दिया है। और जिस चीज को छोड़ दिया उसकी वे स्वप्न में भी आकांक्षा नहीं करते। उनकी सबसे बड़ी शक्ति त्याग है। त्याग का महत्व अवर्णनीय है। त्याग के बिना मुक्ति की अभिलाषा कभी पूर्ण नहीं हो सकती। आज तक कर्म से, धन से, अथवा संतान से किसी व्यक्ति ने अमृत-रूप मोक्ष प्राप्त नहीं किया है। उसे अगर किसी ने प्राप्त किया तो एकमात्र त्याग से ही। कहा भी है -

द्वे पदे बन्ध मोक्षाय निर्गमति ममेति च।

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्गमति विमुच्यते॥

बन्धन और मोक्ष के दो ही आश्रय हैं - ममता और ममता-शून्यता। ममता से प्राणी बन्धन में पड़ जाता है और ममतारहित होने पर मुक्त हो जाता है।

आशा है आप समझ ही गए होंगे। श्लोक का भावार्थ यही है कि मनुष्य जब तक सांसारिक पदार्थों तथा सांसारिक संबंधों में ममता रखता है अर्थात् आसक्ति रखता है, तब तक वह संसार से मुक्त नहीं हो पाता है।

संत ऐसे ही त्यागी होते हैं; तथा दूसरों को भी त्याग का उपदेश देते हैं। वे भौतिक पदार्थों के समान क्रोध, मान, माया तथा लोभादि विकारों को भी त्याज्य मानते हैं।

स्वामी दयानंद सरस्वती को अनूप शहर में किसी व्यक्ति ने पान में विष दे दिया। जब लोगों को यह ज्ञात हुआ तो उनमें क्रोध की आग भड़क उठी। उन्होंने अपराधी को पकड़कर वहाँ के तहसीलदार सैय्यद मुहम्मद जो कि स्वामी के भक्त थे, उनके समक्ष उपस्थित किया।

तहसीलदार ने स्वामी जी से पूछा, “आप बताईये, इसे कौनसा कठोरतम दण्ड दिया जाय ?”

स्वामी दयानन्द जी कुछ गंभीर होकर बोले - “इसे छोड़ दो, मैं संसार के प्राणियों को कैद कराने नहीं, मुक्त कराने आया हूँ।”

क्रोध व बदले की भावना के त्याग का वैकैतना सुंदर उदाहरण है? आधुनिक काल में कितने व्यक्ति ऐसे मिलते हैं? आज जो ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता है। धन-पैसे के मामले में मनुष्य एक कृत्रिम के खून का प्यासा बन जाता है। थोड़े से पैसों के लोभ में पड़कर भी मनुष्य किसी के जीवन-दीप को बुझाने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों से पूछने की इच्छा होती है -

नाग-सी फुंकार लेकर आप आये हैं,
दीप के निर्वाण का संदेश लाये हैं।
पर बुझाने से प्रथम यह तो कहो अब तक आपने
कितने बुझे दीपक जलाये हैं?

बंधुओ, किसी का बुरा करना सरल है, कठिन है किसी का भला करना। आपको संतों के उपदेश से अपनी आत्मा को निर्मल और विकार रहित बनाने का प्रयत्न करना है। यही संत आपसे चाहते हैं। बिना आपके धन माल के भूखे नहीं हैं, वे भूखे हैं भाव के। उन्हें कोई भी और जड़ावा नहीं चाहिए। केवल आपकी शुद्ध भावना चाहिये।

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाय।

आपकी भावना को देखकर ही हमें संज्ञोष होता है। सच्ची भक्ति से तो भगवान भी वश में हो जाते हैं तो संतों को प्रसन्न करना क्या बड़ी बात है?

भगवान कहाँ रहते हैं?

एक बार श्रीकृष्ण से नारद ने पूछ लिया - भगवन्! आप कहाँ रहते हैं? कैसा प्रश्न पूछा, सीधा ही। वास्तव में इस कला में तो आप लोग बहुत होशियार होते हैं! तो नारद ने कृष्ण से उनके निवासस्थान के विषय में पूछा। और कृष्ण ने उत्तर दिया -

‘मद् भक्ताः यत्र गावन्ति, तत्र किंश्रुमि नारद!’

अर्थात् मेरे भक्त लोग जहाँ मुझे याद करते हैं, मैं वहीं रहता हूँ।

भगवान पूजा में!

एक बार नारदऋषि घूमते-घामते द्वारिका में आ पहुँचे। कृष्ण भगवान को खोजते हुए वे सीधे महल के अंदर तक चले गये। क्योंकि उनके लिए कहीं भी

आने जाने में कोई रोक-टोक नहीं थी। पर महल के अन्दर भी जब कृष्ण उन्हें दिखाई नहीं दिये तो उन्होंने रुक्मिणी से पूछा लिया - "नटवर कहाँ हैं?"

रुक्मिणी ने उत्तर दिया - "पूजा कर रहे हैं।"

सुनकर नारदजी चकित हुए। सन्नने लगे - त्रिमुक्ता के संत, साधु, ऋषि, मुनि, सिद्ध, योगी, त्यागी और भोगी सभी जिसे भगवान मानकर पूजते हैं, वे खुद किनकी पूजा करते हैं?

उत्सुकता के मारे वे कृष्ण के पूजा घर में ही जा धमके पर वहाँ जाकर उन्होंने क्या देखा? यही कि कृष्ण भगवान अपने भक्तों की मूर्तियों के सन्मुख ध्यानावस्थित बैठे हुए हैं।

ऐसा होता है सच्ची भक्ति का प्रभाव। जो कि भगवान को भी अपने सामने झुका लेता है।

संत आपसे कुछ नहीं चाहते, वे केवल आपके हृदय की शुद्धता और निर्मलता चाहते हैं, भक्तों का भगवान के लिए प्रेम चाहते हैं। इसीलिये वे आपके विवेक को जगते हैं, आपकी आत्मा जो अनन्त काल से प्रमाद रूपी नींद में सोई पड़ी है, उसे प्रबुद्ध करना चाहते हैं।

इसलिये आत्मार्थी बंधुओ, आपका सजग होकर अपनी मंजिल की ओर बढ़ना है, तथा अनंत काल से जिस भव-सागर में आत्मा गोते लगा रही है उसे पार कर अगले किनारे पर पहुँचना है। मारवार्द्ध कवि की आत्मा जिस प्रकार व्याकुलतापूर्वक कह रही है -

जाणो पेले रे पार.....।

इसी प्रकार की छटपटाहट आपको भी इस भव-सागर से पार होने के लिए रखनी है तभी आप परमात्मपद की प्राप्ति कर सकेंगे। ईश प्राप्ति कैसे हो सकती है एक उदाहरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है।

प्रभु प्राप्ति का उपाय

एक साधक ने अपने गुरु से कहा - भगवन्! मुझे साधना करते करते इतना समय हो गया पर अभी तक ईश प्राप्ति नहीं हुई। कृपया इसका सही उपाय बताइये। गुरु उस समय मौन रहे, कुछ नहीं बोले।

एक दिन वे दोनों ही नदी में स्नान करने के लिए गए। जब शिष्य ने पानी में डुबकी लगाई, गुरु ने उसे ऊपर से धर दबाया। शिष्य बहुत छटपटाया और बाहर निकलने पर बोला - गुरुदेव! ऐसा क्यों किया आपने?"

मुसकरते हुए गुरु बोले - यह बताने के लिए की जैसी छटपटाहट और आतुरता तुम्हें पानी से निकलने की थी, वैसी ही विकलता जब इस भवसागर से

बाहर निकलकर प्रभु से मिलने के लिए होगी तब प्रभु प्राप्ति हो सकेगी।

शिष्य की आँखें खुल गयीं। और श्रद्धा से उसने अपने गुरु को नमस्कार किया।

संत इसी प्रकार साधकों को बोध देते हैं। नाना प्रकार से समझाते हैं कि प्रमाद को त्यागो, विकार रहित बनो, संसार में रहकर भी इसमें लिप्त मत होओ, सुकृत करो, सेवा और सहिष्णुता को अपनाओ, तथा सदगुणों का संचय कर पुण्योपाजन करो। यही तुम्हारे मुक्ति-पथ का पञ्चम्य बनेगा। यह वह खर्ची होगी, जिसका संबल लेकर तुम अपने गंतव्य तक पहुँच सकोगे।

संतों के उपदेश का यही महत्व और विशेषता है। अगर मानव उसे हृदयंगम कर ले, अपनी बुद्धि द्वारा उसे ग्रहण कर सके तो निश्चय ही आत्मकल्याण के पथ पर बढ़ सकता है। दूसरे शब्दों में उपाश अमृत-तुल्य है। अगर उसका सही उपयोग किया जाय तो वह अज्ञान, मोह, भया और प्रमाद के गहन अन्धकार में भटकती हुई आत्मा को उससे निकाल कर ज्ञान के अद्वितीय ज्योतिर्मय लोक में ले आता है। ज्ञान का महत्व अवर्णनीय है। कहा भी है -

“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते।”

- भगवद्गीता

- ज्ञान रूप दिव्य अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है।

इसलिये बंधुओ, अगर अपने कर्मों का क्षय करते हुए आपको मुक्ति मंजिल प्राप्त करनी है, तो अपने ज्ञान और विवेक को जागृत करो, आत्मशक्ति को बढ़ाओ और संत-समागम से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर दृढ़ श्रद्धा एवम् साहसपूर्वक साधना-पथ पर बढ़ो। मंजिल स्वयं आपके निकट आकर रहेगी।

• • •

[११]

यादशी भावना यस्य

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

श्री रायप्रसेनी सूत्र में सूर्याम देवता अमलकप्पा नगर में विराजते हुए भगवान महावीर प्रभु की तरफ अवधिज्ञान से देखता हुए उनके दर्शन कर रहे हैं। दर्शन करना, शुभ भावना लाना पुण्योपार्जन का मार्ग है।

भाव का महत्त्व

भाव का महत्त्व संसार में बहुत अधिक माना जाता है। आप व्यवसायी हैं। किसी भी चीज का भाव आते ही 'दो-पैसे' कमाने की धुन में लग जाते हैं। भाव आए बिना असली और ऊँचे माल की भी कीमत नहीं होती, किन्तु भाव आजाए तो रस्ती भी मैंहगे दामों पर निकल जाता है।

मैं प्रायः व्यापारी लोगों से सुनता हूँ, कपास का व्यापार करने वाले कहते हैं - भाव आ जाने पर चाहे लाल पत्ती हो या काली पत्ती, कोई नहीं देखता। आप अच्छी तरह जानते होंगे कि काली पत्ती क्या, और लाल पत्ती क्या? काली पत्ती का भाव कम रहता है और लाल पत्ती जिसमें कोई दोष नहीं होता, भाव अधिक रहता है यही न? मैं जानता नहीं केवल आप लोगों से सुनता हूँ। तो काली पत्ती, लाल पत्ती जैसी कब चलती है? भाव आ जाने पर।

सुना है, अहमदनगर में एक बड़ी किआने की दुकान है - खूबचन्द्र मुलतानचन्द्र की। उनकी दुकान में एक बार एक थैला ऐसा आ गया, जिसमें सड़ी सुपासियाँ थी। ध्यान में रखिये! एक थैला सड़ी सुपासियों का माल के साथ आ गया। दुकान के मालिकों ने उसे देखा और सोचा - यह सड़ी है, नहीं चलेगी। उसे एक ओर रख दिया।

किन्तु कुछ दिनों बाद सुपारी का भाव आ गया और वह सड़ी सुपारी भी अच्छे भाव में चली गई। इससे मालूम होता है कि भाव का बड़ा महत्त्व है। भाव ही नुकसान देता है और भाव ही नफा कराता है।

भाव और आत्मा

जिस प्रकार बाह्यपदार्थों के नफे और नुकसान का संबंध भाव से है, उसी प्रकार आत्मा के नफे और नुकसान का संबंध भी भाव से ही है। भाव आने

पर आप जिस प्रकार बाह्य पदार्थों से धन कमा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार शुभ-भाव आने पर आत्मा भी पुण्योपार्जन कर लेती है, अर्थात् पुण्य कमा लेती है।

पारमार्थिक दृष्टि से दान, शील और तप, यह माल है। यह माल पास में रहेगा, और अगर भावना आ गई अर्थात् भाव आ गया तो फिर बेड़ा पार ही समझो। कहा भी है :-

“दान-शील-तपः संयुद् भार्गव भजते फलम्॥”

- मुक्ति मुक्तावली

भावना पूर्वक किया जाने वाला दान, शील और तप ही अपना श्रेष्ठ फल प्रदान करता है।

बिना भावना के किसी ने दान दिया, शील पाला और तप भी किया, तो भी वह उसमें कोई लाभ हासिल नहीं कर सकता। क्योंकि भावना के बिना ये सब कार्य केवल दिखावा बन कर रह जाते हैं।

स्वर्ग और नर्क

किसी नगर में एक वैरागी रहता था। उसके पड़ोस में एक वेश्या का मकान था। दोनों के बीच में केवल एक दीवार का ही अन्तर था। गणिका अपने शरीर का व्यापार करती थी, और वैरागी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए लोगों को दान, शील तथा तपादि का महत्त्व समझाते हुए ग्रन्थें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता था। दोनों के व्यावहारिक जीवन में रात और दिन का अन्तर था।

किन्तु वेश्या यद्यपि शरीर का व्यापार करती थी पर उसकी भावना में यह था कि मैं कितना धृणित कार्य करती हूँ, और यह वैरागी धन्य है जो ऐसे हीन कार्यों से अलिप्त रहकर धर्म - साधना कर रहा है तथा लोगों को भी सत्पथ दिखा रहा है। वह धर्म की प्रतिमूर्ति उस वैरागी के दर्शन की भी आकांक्षा रखती थी।

दूसरी ओर वैरागी ब्रह्मचर्य तप की आराधना करता, जनता को धर्म का महत्त्व समझाता तथा अनेक धर्म-क्रियाएँ करता हुआ भी गणिका के जीवन को सुखमय मानता था। तथा छुप-छुप कर उसके रूप-रंग व साज-सज्जा को निहारा करता था।

एक दिन मौका पाकर उसने वेश्या को पुकारा। वेश्या प्रसन्न हुई कि आज मुझे ऐसे धर्मात्मा पुरुष से बात करने का सुभवसर मिला। तब तुरन्त उसके समीप आ खड़ी हुई।

वैरागी का मन मलिन था और वह उसके सौन्दर्य से अपने नेत्रों को तृप्त करना चाहता था। किन्तु प्रत्यक्ष में उसने गणिका को समझाया - “यद्यपि तुम

शरीर का व्यापार करती हो, पर तुम्हें ईश्वर का भी ध्यान रखना चाहिये। अपने पास आने वाले को स्पष्ट समझा देना चाहिये कि तुम पैसे की भूखी हो। जब तक पैसा मिलेगा उससे सम्बन्ध रखोगी और पैसे के समाप्त होते ही धक्के देकर निकाल दोगी। साथ ही अपने पैसे को सत्कार्य में लगाओ और मन को ईश्वर की भक्ति में तन्मय करो।”

वैरागी की जबान से इन उपदेशों को सुनकर वेश्या अत्यन्त प्रसन्न हुई और उसने अपने आपको बदल लिया। उस समय के बाद से ही उसने अपने पास आने वालों को समझाना प्रारम्भ किया - “भाई! यहाँ क्यों आते हो? अपने पत्नी के अलावा किसी भी अन्य स्त्री का संसर्ग करना पाप है, आदि आदि।” अपने प्रयत्न के परिणामस्वरूप उस गणिका ने अनेक व्यक्तियों के चरित्र को सुधारा और अन्त समय में शुभ परिणति होने के कारण स्वर्ग प्राप्त किया।

किन्तु वैरागी, जो कि धर्म-क्रियाएँ और धर्मोपदेश करता था, ब्रह्मचर्य का पालन करता था, अपनी मलिन भावनाओं के कारण नरक में गया।

यह चमत्कार था भावनाओं का। भावनाओं के कारण ही दोनों के कार्यकलाप भिन्न होने पर गति भी भिन्न हुई। उनकी गतियाँ उनकी क्रियाओं के अनुसार नहीं, वरन् भावनाओं के अनुसार हुई थीं। भावनाओं की शक्ति कितनी जबर्दस्त होती है इस विषय में हमारे शास्त्र कहते हैं -

“यः समग्रं क्षणार्धेन विवेका मोक्षमेव च।”

योगसार

- मनोबल अथवा भावनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि जिस आधे क्षण में भावनाओं की निकृष्टता के कारण सातवीं नरक का बंध पड़ सकता है, उसी आधे क्षण में कर्मों का सर्वनाश करके मोक्ष की प्राप्ति भी की जा सकती है।

केवल भावनाएँ ही काफी नहीं हैं क्या?

बन्धुओं! अनेक व्यक्ति कहते हैं तथा आपके मन में भी ऐसे विचार आ सकते हैं कि अगर भावना में इतनी शक्ति है तो दान देने, शील पालने और तप करने में क्या लाभ है? केवल भावना ही काफी नहीं है क्या? भावना से हो तो सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

ऐसी बात नहीं है। दान-शील और तप के साथ-साथ ही भावनाएँ अत्युत्तम होनी चाहिए। दान, शील और तप ये तीन प्रकार के माल हैं। यह माल अगर आपके पास रहा तो कभी भाव के आतं ही आप निहाल हो जाएँगे। आप मेरी बात समझ तो रहे हैं न? आपकी ही भाषा है यह! वैसे भाव-ताव की बात आप जरा जल्दी समझते हैं इसीलिए मैं आपको आपकी भाषा में समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

तो मेरे कहने का आशय है कि वृक्षान में अगर माल होता है तभी भाव आने पर लाभ उठाया जा सकता है। अगर वह आपके पास नहीं रहा तो फिर भाव आया भी तो किस काम का? सोने का भाव बढ़ा, पर अगर सोना है ही नहीं तो सोने का भाव आया हुआ किस काम का? जिस वस्तु का भाव आता है, वह वस्तु आपके पास हो तभी तो भाव से लाभ उठाया जा सकता है।

दान, शील और तप का भावना सौदेत आराधन करने से तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन होता है। तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन करने में बीस बातें कारण होती हैं। वे सभी बातें 'ज्ञाताधर्म कथासूत्र' के मन्त्रिनाथ भगवान् विषयक अध्ययन में बताई गई हैं। उन बीस कारणों में दान, शील और तप भी आते हैं। यही वह अमूल्य माल है जो भाव के आते ही नफा देता है। दोनों ही एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि माल हो और भाव न हो, या भाव हो और माल न हो तो किसी भी एक से कुछ लाभ उठाया नहीं जा सकता।

भावना की शक्ति

भावना की शक्ति बड़ी जबर्दस्त होती है। आप दान देंगे, शील पालेंगे तथा तप भी करेंगे, किन्तु हृदय में भावना नहीं होगी तो ये सब कार्य ऊपरी और दिखावे के बन जायेंगे। तथा इन कार्यों में कोई ताकत नहीं रहेगी।

आप जानते ही हैं कि माता अपने बालक को दूध पिलाती है, उस दूध में जितनी शक्ति होती है, उतनी ऊपरी वृष्ण में नहीं होती। ऊपर के दूध और माता के दूध में बड़ा अन्तर होता है। वह क्यों? इसलिए, कि माता का दूध भावनापूर्वक पिलाया जाता है, उसके हृदय में अपने बालक के लिए असीम प्यार होता है, वात्सल्य की भावना होती है इसीलिए दूध बच्चे के लिए अमृत बन जाता है।

दूसरा दृष्टान्त आप पानी का ले सकते हैं। वर्षा के पानी में जो ताकत है वह कुएं और तालाब के पानी में नहीं। वर्षा का पानी खेतों में गिर जाय तो किसान भाई कहते हैं कि फिर महीने भर पानी की आवश्यकता नहीं रहती, अगर न भी बरसे तो। क्योंकि वर्षा का पानी महीने भर तक टिक जाता है। उसमें बहुत सरसाई रहती है। कुएं का पानी बहुत चले तो सात दिन तक चल सकता है। तत्पश्चात् तो पानी देना ही पड़ता है, ऐसा मैं सुनता हूँ। पानी तो सभी हैं। कुएँ का भी, तालाब का भी और वर्षा का भी पानी, पानी ही होता है। पर उनमें अन्तर कितना है?

ऐसा ही अन्तर भावनापूर्वक दान, शील और तप का आराधन करने में, तथा इन्हीं क्रियाओं को भावना रहित केवल दिखावे के तौर पर करने में है। मुस्लिम मजहब में भी कहा है —

नमाज तुम हम सभी जो पढ़ते, अगर इतना है फर्क जो धरते।
कोई दिलों से कोई दिखाने, खुदा की बातें खुदा ही जाने।
खुदा की कुर्रत को कौन जाने ? खुदा की बातें खुदा ही जाने।

जिस प्रकार हमारे यहाँ सामायिक ई, प्रतिक्रमण है, वैष्णव समाज में संध्या वंदन आदि हैं इसी प्रकार मुस्लिम समाज में नमाज है। भावना सब जगह एक सी है। सभी भगवान की ओर लौ लगाते हैं। फर्क केवल भाषा में है, भाव में नहीं।

नमाज पढ़ने वाले कहते हैं — 'ॐ खुदा! मैं गुनहगार हूँ, मेरे गुनाह माफ करो।' संध्या करने वाले भावना भाते हैं — "मेरे दिल के व्यवहार में जो भी हिंसा हुई है, मेरे द्वारा किसी प्राणी का दिल दुखाया गया है तो भगवान् मुझे क्षमा करो!" हम लोग प्रतिक्रमण में 'मिच्छामि-दुःकडं' लेते हैं, वह भी अपराधों की माफी मांगना ही है। बस, नाम सब धलगत रखते हैं। कोई अपनी प्रार्थना को प्रार्थना कहता है, कोई संध्या और कोई नमाज, पर यह प्रयत्न पापों से छूटने के लिए ही हैं। सच्चे हृदय से और अन्तःकरण की सम्पूर्ण भावना से प्रार्थना करने वाला व्यक्ति दिखावा नहीं करता वह अज्ञो इष्ट के लिए उद्यत रहता है। चाहे वह हिन्दू हो, ईसाई हो, वैष्णव हो या मुसलमान हो।

मैं यहूदी, हिन्दू, और मुसलमान भी हूँ।

मुहम्मद सैयद एक बड़े पहुँचे हुए फकीर थे। सम्पूर्ण पश्चिम का उन्होंने त्याग कर दिया था और केवल खुदा की इबादत में ही अपना समय व्यतीत करते थे। वे सदा एक भजन गाया करते थे, जिसका भाव था—

"मैं सच्चे सन्त भक्त फुरकान का शिष्य हूँ। मैं यहूदी भी हूँ, हिन्दू भी हूँ और मुसलमान भी हूँ। मन्दिर और मसजिद में लोग एक ही परमात्मा की उपासना करते हैं। जो काबे में संगे — असवद है वही दैः में बुत है।"

सैयद की इन बातों के कारण अनेक व्यक्ति उसके दोस्त थे और अनेक दुश्मन। दाराशिकोह इनका भक्त था, किन्तु औरंगजेब कट्टर दुश्मन। औरंगजेब दारा का भी शत्रु था। अतः वह सैयद साहब से विद्वता था। एक बार उसने इन्हें पकड़वा मंगवाया। धर्मान्ध मुल्ला जो कि औरंगजेब के पक्षपाती थे, उन्होंने सैयद साहब को धर्म-द्रोही घोषित कर दिया तथा सूली की सजा सुना दी।

किन्तु सच्चे संत मुहम्मद सैयद अपनी सजा की बात सुनकर आनन्द में उछल पड़े और असीम उत्साह के साथ सूली पर चढ़ते हुए बोले — "ओह! आज का दिन मेरे लिये बड़े सौभाग्य का है। जो शरीर अपने खुदा से मिलने में अब तक बाधक था, वह इस सूली की बदौलत छूट रहा है। मेरे दोस्त! आज तू सूली के रूप में आया है। परन्तु किसी भी रूप में क्यों न आए, मैं तुझे पहचानता हूँ।"

सच्चे भक्त ऐसे ही होते हैं। वे प्रार्थना में अन्तर नहीं मानते, चाहे वह किसी भी भाषा में क्यों न हो, वे भगवान में अन्तर नहीं मानते चाहे उनका नाम कुछ भी हो। वे कहते हैं :—

राम कहो रहमान कहो कोउ, कान्ह कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेवरी।
निजपद रमे राम सो कहिये, रहीम हारे रहिमान री।
कर्षे करम कान्ह सो कहिये, महादेव निर्वाण री।
परमे रूप पारस सो कहिये, ब्रह्म जिन्हें सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आप आनन्दधन, कृतनमय निष्कर्म री।

कितना सुन्दर पद्य है? कवि आनन्दधन जी कहते हैं — अपने इष्ट को चाहे राम कहो, रहीम कहो, कृष्ण, महादेव, पार्श्वनाथ या ब्रह्मा कहो, कोई अन्तर नहीं है। आत्म-स्वरूप में रमण करे, वह राम है, रहीम अर्थात् प्राणियों पर दया करे वह रहमान है, कर्मों को काटने का प्रयत्न करे वह कृष्ण है, संसार मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करे वह महादेव, आत्म-रूप को स्पर्श करे वह पार्श्वनाथ, और आत्मा की ही पहचान करे वह ब्रह्म है। अर्थात् आत्मा ही भगवत्-स्वरूप, चैतन्यमय और कर्म रहित है चाहे वह किसी भी नामधारी देह में क्यों न रहे और उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय।

आवश्यकता केवल यही है कि ईश-चिन्तन, भजन, प्रार्थना, पूजा, सेवा, परोपकार, दान, शील-पालन, तथा तपादि द्रष्टाएँ अन्तःकरण की निर्मल भावनाओं के साथ की जायँ। महाराज क्या कहेंगे? इसलिये नहीं, या समाज के व्यक्ति क्या कहेंगे? इसलिये भी नहीं। महाराज या सम्राट् की दृष्टि में धर्मात्मा दिखाई देने की भावना से जो किया जाएगा वह दिखावा होगा, उसका कोई मूल्य नहीं होगा, किन्तु अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाने के लिए दिखावे से बचते हुए जो व्यक्ति भावना-पूर्वक थोड़ा भी कुछ करेगा उससे भी वह अधिक लाभ उठा सकेगा।

जूठे बेरों ने मुक्ति दिलाई

आप सब जानते ही होंगे कि रामचन्द्र जी जब सीता की खोज में वन-वन भटक रहे थे, संयोगवशात् एक दिन शबरी वेट यहाँ जा पहुँचे। शबरी भीलनी थी। भगवान को देखकर उसकी खुशी का पार न रहा। तथा बावली-सी होकर वह राम के आतिथ्य का प्रयत्न करने लगी। पर आतिथ्य करने के लिये वहाँ क्या था? केवल बेरों की एक टोकरी, कुटिया में रखी थी। हर्षातिरेक में वह उसी को उठा लाई। और —

प्रभु के निकट ही बैठकर वह भीलनी भोली भली,
देने लगी वह बेर चुन-चुन प्रेम-अमृत की डली।
भिलनी खिलाने लग गयी, भगवान खाने लग गए।

इस योग से भव-रोग सारे भीक्तों के भग गए।
लेती प्रथम चरख बेर मीठा, राम को देती तभी।
'लक्ष्मण ! रसीले बेर यह' भगवान यों कहते जभी।

भक्ति के आवेश में शबरी को यह भी भान न रहा कि मैं अपने जूटे बेर भगवान को खिला रही हूँ। बेर जूटे थे, किन्तु भावना कितनी उत्कृष्ट थी? उस भावना के परिणामस्वरूप ही उसके कर्मों का नाश हुआ। भगवान को लगाया हुआ जूटे बेरों का भोग ही उसके भव-रोगों के नाश का हेतु बन गया—ऐसा रामायण में बताया गया है।

यह चमत्कार है भावना का! निस्वार्थ भाव से किये गए नगण्य से आतिथ्य के द्वारा ही शबरी ने असीम लाभ हासिल किये। कर्म इसी प्रकार फल की आकांक्षा रखे बिना ही किया जाना चाहिये। कहा भी है —

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म पाप्मानोति पूरुषः ॥

—भगवत् गीता

—फल की इच्छा छोड़कर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करो। जो फल की अभिलाषा छोड़कर कर्म करते हैं उन्हें अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

निस्वार्थ भाव से किए गए कर्म ही शुभ-फल प्रदान करते हैं। इसलिये बंधुओं, अपना कर्तव्य करते रहो। उसका फल क्या मिलेगा इसकी कल्पना मत करो! तुम्हारे पास सोना है तो उसकी कीमती भाव आते ही अवश्य आएगी। वह निरर्थक नहीं जा सकता। आवश्यकता है तप, त्याग आदि समस्त शुभ-आचरणों को फल रहित और अनासक्त भाव से करने की।

नास्ति त्याग-समं सुखम्

त्याग के जैसा जीवन में और कोई सुख नहीं है। वस्तुओं का संयोग होने पर भी स्व-इच्छा से उन्हें त्याग देना, उनसे मुँह मोड़ लेना ही सचा त्याग कहलाता है तथा अपूर्व सुख का कारण बनता है। वस्तु के प्राप्त न होने पर, उसके विनष्ट हो जाने पर अपने आपको लसका छोड़ने वाला या त्यागी समझ लेना गलत है। त्याग उसे कहते हैं, जब इच्छा पूर्वक प्राप्त पदार्थों को छोड़ा जाय। किसी मजबूरी से पदार्थों का छूट जाना, त्याग करना नहीं कहलाता।

उदाहरण स्वरूप, एक व्यक्ति अशुभ-कर्म के उदय से बीमार पड़ा है। बीमारी के कारण उसने आठ दिन तक कुछ खाया-पिया नहीं तो क्या उसकी 'अटाई' हो गई? क्या आप उसके आठ दिन के न खाने को आठ दिन की तपस्या मान लेंगे? नहीं।

वास्तविकता तो यह है कि उस व्यक्ति की खाने की इच्छा थी पर खाया

नहीं गया, इसलिए उसने नहीं खाया। त्याग करने की इच्छा से उसने खाना नहीं छोड़ा। अतः वह तप नहीं कहला सकता। तप किसे कहते हैं?

इच्छा निर्गन्धस्तपः

— तत्त्वार्थसूत्र

इच्छा का त्याग करना ही तपस्या है!

व्यक्ति के शरीर में किसी प्रकार की बीमारी नहीं है, घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं है, क्लेश का कोई कारण नहीं है। ऐसी स्थिति में इच्छा पूर्वक उपवास करना तप है। वह तप नहीं है जो जिस दिन खाने के लिए नहीं मिला, रोजा रख लिया।

हमारी माताएँ और बहिनें आए गेदेन झगड़ पड़ती हैं, कभी अपनी सास से, कभी बहू से और कभी जितानी या देवसानी से। फिर क्या होता है? पूरे दिन क्रा, या कभी-कभी तो दो-दो, तीन-तीन दिन का भी अनाहार। पर क्या वह तप की तपस्या में आ सकता है? क्रोध से भूखा रहना या बीमारी से भूखा रहना तप नहीं है, त्याग भी नहीं है। इच्छापूर्वक भोजन का त्याग करके उस समय को चिंतन-मनन में बिताना तथा धर्मचरण करना ही सच्ची तपस्या कहला सकती है। तथा त्याग की श्रेणी में उसे लिया जा सकता है। ऐसे त्याग से ही आत्मा विशुद्ध और निष्कलंक बन सकती है। ब्रह्म भी है :—

“त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्”

—मालवीयश्रुति

समस्त प्राणियों के मुक्ति का उत्तम साधन प्राप्त-भोगों का त्याग कर देना ही है।

पृथिव्यां प्रवरं हि दानम्

त्याग के समान ही दान की भी महत्ता है। सच्चा दान भी वही कहलाता है जो इच्छा से दिया जाता है। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये दिया जाने वाला पैसा, किसी अन्य को नीचा दिखाने के लिए दिया जाने वाला धन या व्यापार के सिल-सिले में दी जाने वाली रिश्वत ज्ञान नहीं कहला सकती। इसी प्रकार अगर धन को चोर ले जाय या माल के रूप में अन्य किसी प्रकार से नष्ट हो जाय, उसे आप दान खाते में लिख दें तो वह भी दान नहीं कहलायेगा।

सेठ जी का खाता

एक सेठ थे। उनके परिवार में देखल उनकी पत्नी और लड़की थी। लड़की का नाम लाली बाई था। एक मात्र संतान होने के कारण उन्हें पुत्री से अत्यन्त प्रेम था। किन्तु दुर्भाग्यवश लाली बाई इस वर्ष भी होते न होते ही इस लोक से चली गई।

सेठ सेठानी अत्यन्त दुखी हुए। पर भाग्य पर किसका जोर चलता है? धीरे-धीरे सेठजी तो अपनी स्वामाविक स्थिति में आ गए, किन्तु सेठानी पुत्री के वियोग में विवहल बनी रही। उसका दिमाग अर्धविक्षिप्त-सा हो गया था।

एक ठग ने जब सेठजी के घर की स्थिति और सेठानी की विक्षिप्ता के विषय में जाना तो उस अवसर का लाभ उठाने की योजना बनाई। तथा एक दिन सेठजी की अनुपस्थिति में उनकी हवेली पर आ घमका।

अन्दर आकर उसने सेठानी को उनके नाम से संबोधन करते हुए पुकारा। सेठानी कुछ चकित हुई। यह विचार कर कि यह व्यक्ति मेरा नाम कैसे जानता है? फिर भी उसने स्नेह-पूर्वक कहा — “आओ भाई, बैठो! तुम कौन हो?”

ठग बोला — “मैं सन्देशवाहक हूँ। एकस्थान से दूसरे स्थान पर समाचार ले जाता हूँ।” यह सुनकर सेठानी बड़ी उत्सुकता पूर्वक बोली — “तुम समाचार पहुँचाने वाले हो तो मेरी लाली बाई का कोई समाचार ले आते।” ठग बोला — “माता जी! वही तो लेकर आया हूँ आपकी लाली बाई बड़े आनन्दपूर्वक हैं।”

खुशी के मारे सेठानी रो पड़ी और विवहलतापूर्वक बोली — “मेरी बेटे ने और क्या क्या समाचार भेजे हैं? मुझे सब कहो।” ठग ने अब उपयुक्त अवसर देखा और कह दिया —

“लाली बाई आपको बहुत ही याद करती है। आना चाहती है, पर वहाँ वाले आने नहीं देते। इसलिये उसने समाचार भेजा है कि कोई आने-जाने वाला हो तो मेरे गहने भेज देना।”

सेठानी मोह में पागल सी तो हो गयी थी। बोली — “अब मैं किसे ढूँढ़ने जाऊँ? भाई! तुम समाचार लाये तो गहने भी उसको तुम्हीं पहुँचा देना।”

‘नेकी और बूझ बूझ?’ ठग को और चाहिये भी क्या था? सेठानी से गहने लिये और रफूचकर हो गया।

इधर जब सेठ जी घर आये तो सेठानी जी ने तुरन्त ही बड़ी प्रसन्नता पूर्वक कहा — “आज तो लाली बाई के समाचार आए थे।” सेठजी हैरान हो गए। पूछा — “वह तो मर चुकी है, अब उसके समाचार कहीं आएँगे?”

सेठानी — “नहीं, नहीं! वह बड़े आनन्द में है। उसने अपने गहने मँगवाए थे।” अब सेठजी के कान खड़े हुए। बोले — “गहने दे दिये क्या तुमने?”

“वाह! लड़की ने गहने मँगवाये थे तो देती नहीं क्या? समाचार लाने वाले के साथ ही भेज दिये।”

“बहुत अच्छा किया! सेठजी ने मस्ताक पीटते हुए कहा। और पूछा — “यह तो बताओ कि वह किधर गया और कितनी देर पहले गया?”

“थोड़ी देर पहले ही इस सीधी सड़क की तरफ गया है।” सेठानी कुछ उदास होकर बोली।

सेठजी पूरी बात सुने बिना ही गहने ले जाने वाले को ढूँढ़ने के लिये बाहर गये। पर प्रयत्न निष्फल हुआ, ठग मिला नहीं, और वे दौड़-भाग से क्लान्त होकर वापिस लौट आए।

गहनों की चोरी का दुख सेठजी को बहुत हुआ किन्तु घर में धन की क्या कमी थी? अतः धैर्यपूर्वक बोले — “कोई हर्ज नहीं, जो धन गया वह लाली बाई के लेखे।”

बन्धुओं, क्या सेठ का सोचना सत्य था? ठग के द्वारा ले जाया धन क्या लालीबाई के लेखे लग गया? ठग भाग गया था, अगर पकड़ में आ जाता तो सेठजी उसे वापिस ले लेते या नहीं?

आप अब समझ ही गए होंगे कि ठगबाजी से गया हुआ धन दान-खाते में नहीं जा सकता। इसी प्रकार व्यापार-वन्धे में घाटा लगने पर, और आसामियों में डूब जाने वाला धन भी दान-खाते में लिख दिया जाय तो वह दान नहीं कहला सकता। दान केवल तभी कहलाता है, जब पैसे को या पदार्थ को इच्छा से दिया जाय। प्रसन्नतापूर्वक उसका त्याग किया जाय। त्याग और दान दोनों का सम्बन्ध है। इसके विषय में सत्य ही कहा है :

“त्याग से पाप का मूल धन चुकता है और दान से पाप का ब्याज।”

— विनोबा भावे

इसलिये मानव को स्व-इच्छा और त्याग की भावना से दान देना चाहिये, तप करना चाहिये तथा अन्य जो भी क्रियाएँ की जायें अनासक्त भाव से ही करना चाहिये। उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि साँसारिक पदार्थों में मनुष्य कितनी भी आसक्ति क्यों न रखे एक दिन तो वे सब छूट ही जाएँगी। इसीलिए पूज्यपाद श्री अमी ऋषि जी महाराज ने संसार में अनुरक्त प्रत्येक अज्ञानी प्राणी को चेतावनी दी है :—

धिर ना रहेंगे यो गरुन ना रहेगी,
मदपूर ना रहेगी देर धूर में भिन्नायगो।
धन न रहेगो ना रहेगो तन निरुप पन,
यौवन ये तेरी छिन एक में बिनायगो।
करजे भलाई भाई, छोड़ी छल छंद मंद
सज्जन ये देह तेरी आग में भिनायगो।
कहे अमीऋषि चल्थो जायगो अकेलो
तब तेरे हितवारो कोऊ संग में ना जायगो।

कितनी सुन्दर शिक्षा है? अति सरल भाषा में यही बताया है कि भोले प्राणी! तू जिस धन, यौवन और शरीर का लेकर गर्व करता है वे सब अस्थिर हैं। एक दिन सभी विलीन हो जाएँगे। तथा जिन सम्बन्धियों, हितैषियों को अपना मानकर उनके लिये तू अनेक प्रकार के पाप करता है, वे ही तेरी इस देह को अग्नि में समर्पित कर देंगे। तेरे साथ इनमें से कोई नहीं जाएगा तुझे अकेले ही अपनी महायात्रा पर बढ़ना होगा।

यह अटल सत्य है कि पुण्य-और पाप के अलावा आत्मा का साथी और कोई नहीं होता। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को संसार में रहकर भी अनासक्त भावना रखनी चाहिए। तथा शुभ-क्रियाओं के साथ करना चाहिये, क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भावना के अनुसार ही मिलता है। कहा भी है :—

‘भावना भवन्महिनी’

— चाणक्य नीति

— धर्म-ध्यान से परिपूर्ण भावना जन्म-मरण का अन्त करने वाली होती है।

• • •

[१२]

कटुकवचन मत बोल रे

धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों!

श्री रायप्रसेनी सूत्र में सूर्यामदेवता भगवान महावीर की स्तुति पूर्ण भावना के साथ करते हैं। वे केवल स्तुति ही नहीं करते, अपने आभियोगिक (चाकर) देवता को आज्ञा देते हैं — “देवानुप्रिय! भगवान महावीर प्रभु जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में आमलकप्पा नगरी में विराज रहे हैं, उनवेत् दर्शन करने जाओ।”

मधुर सम्बोधन ‘देवानुप्रिय’

शास्त्रों में स्थान-स्थान पर श्रेणिक राजा या कृष्ण वासुदेव आदि का जहाँ वर्णन आता है, उनकी भाषा का पता चलता है। वे अपने सेवकों को भी किसी प्रकार का हुक्म प्रदान करते थे तो उससे पूर्व ‘देवानुप्रिय’ संबोधन से पुकारते थे।

‘देवानुप्रिय’ का अर्थ है — हे देवताओं के प्रिय! महत्त्व शब्दों का नहीं है, शब्दों के पीछे रही हुई मधुर भावना का है। वाणी की मधुरता में असीम शक्ति होती है। मीठी जवान से जो काम निकल सकता है, कड़वी जवान से कमी नहीं निकलता। मनुष्य के नेत्रों में स्नेह झलकता हो, उसकी आकृति में सौम्यता हो, और संबोधन में मधुरता हो तो क्रूर से क्रूर पुरुष भी नम्र बन जाता है, उसका हृदय भी पिघल जाता है। ‘दशवैकालिक-सूत्र’ के सातवें अध्ययन में भी संबोधन का बड़ा महत्त्व बताया गया है। लिखा है :-

तदेव काणं काणिति पंडगं पंडगिति वा।

वाहियं वा वि रोगिति, तेणं चोरिति नो वए॥

— दशवैकालिक सूत्र

मनुष्य को चाहिये कि वह काने कत काना, नपुंसक को नपुंसक, बहरे को बहरा, व्याधिग्रस्त को रोगी तथा चौर्य कर्म करने वाले को भी चोर कहकर न पुकारे।

यद्यपि काने व्यक्ति को काना कहना असत्य नहीं है किन्तु अप्रिय है। काना कहकर पुकारते ही उसके हृदय को दुःख त्रिणा और लगेगा कि मेरा उपहास किया जा रहा है। काना कहने की बजाय अगऽ ‘भाई, सूरदास’ कह दिया जाय तो व्यक्ति को उतना दुःख नहीं होता।

इसी प्रकार बहरे को बहरा और नृसक को नपुंसक या हिजड़ा कह दिया जाय तो उसे अत्यन्त दुख होता है तथा श्रमता का अनुभव होता है। कोई व्यक्ति रोगी है, व्याधिग्रस्त है, बीमार है, जन्म से ही उसे प्रतिदिन औषधियाँ पीनी पड़ती हैं। किन्तु उसे भी रोगला कह दिया जाय तो कितना दुख होता है। वह सोचने लगता है — 'क्या मैं जानबूझ कर बीमार पड़ा हूँ? अपने पाप-कर्मों के उदय को मैं क्या करूँ? कितना आर्त-ध्यान पैदा होता है उसके हृदय में? कई व्यक्ति तो रोगी के लिये कटु सम्बोधन ही नहीं, वरन् यह भी कह देते हैं — 'मरे न माचो छोड़े।' कितनी कड़वी बात है कि न मरता है, और न माचा ही छोड़ता है। कहाँ तक सेवा करें? ऐसे शब्द बीमार को कितने कठोर लग सकते हैं। कमजोर दिलवाले का तो हार्टफेल ही हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहने का अभिप्राय यही है कि कटुवचनों से और कटु संबोधनों से कभी-कभी बड़ा अनर्थ भी हो सकता है।

व्यक्ति कितना भी बुरा क्यों न हो, उसे बुरा संबोधन कभी प्रिय नहीं लगता। चोर चोरी करता है, और कभी-कभी तो प्राणियों का वध भी कर देता है, किन्तु उसे भी अगर चोर कहकर पुकारा जाय तो उसे रम्य नहीं लगता। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं कि तुम उसे चोर मत कहो। अपनी जबान को गन्दी मत करो! चोर अपने किये की सजा स्वयं भोगेगा। उसके कारण तुम अपने लिये कर्मोंका बन्धन मत करो। कटु-वचनों को बोलकर जहाँ व्यक्ति निबिड़कर्मों का बंध कर लेता है वहाँ मधुर वचनों का प्रयोग करते हुए अपनी आत्मा को इतनी निर्मल और विशुद्ध बना सकता है कि अंत-समय में मुक्ति का अधिवसरी बन सके।

इसीलिये महापुरुष न तो स्वयं ही। किसी को कटु या मर्म-घाती शब्द कहते हैं और न ही ऐसे व्यक्तियों की, जो कटु-भाषी होते हैं, संगति करते हैं। वे उपदेश भी यही देते हैं कि कपटी और कटुभाषी व्यक्तियों की संगति से बचो। उनका कथन है :—

वचन मधुर रखे दिल में कपट भाव,
तासे कर प्रीत मन-भेद न उच्चार रे।
बोलत कटुक मन मांही है सरल भाव,
ताका सुण बोल मा क्रोध मन धार रे।
अन्तर कपट और वचन कटु होय,
ऐसी जन होय तावति संगति निवार रे।,
अमीरिख कहै मन सरल मधु वेण,
ताकी हित सीख भव-भव सुखकार रे॥१॥

कवि के कथन का आशय यही है कि मनुष्य पर संगति का असर हुए बिना नहीं रहता। बुरे व्यक्तियों के संसर्ग में रहकर व्यक्ति अपने आपको कितना भी बचाए, कुछ न कुछ बुराई उसमें आ ही जाएगी। जैसे :—

काजर की कोठरी में किसी हूँ स्याना जाय,
एक लीक काजर की इनागि है पै लागि है।

व्यक्ति कितना भी होशियार क्यों न हो, अगर वह काजल की कोठरी में जाएगा तो थोड़ी बहुत कालोंच उसके वस्त्र या शरीर पर लगे बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार संगति का भी कुछ न कुछ असर मनुष्य के मन पर हुए बिना नहीं रहता। अतः मन में कपट रखने वाले तथा कटुक वचनों का उच्चारण करने वाले से सम्पर्क रखना ठीक नहीं।

पंडितरत्न श्री अमीरुद्दीन जी महाराज ने एक पद्य में ही तीन बातें कही हैं। प्रथम तो यह है कि मन में कपट भ्रूषकर मधुर बोलने वाले व्यक्ति से अपने मन का भेद नहीं कहना चाहिये। दूसरे — मन में सरलता रखते हुए कोई व्यक्ति हित की भावना से अगर कठोर वचन कहे तो क्रोध नहीं करना चाहिये। पर तीसरी शिक्षा उनकी यह है कि जो व्यक्ति मन में कपट रखे और जबान से भी कड़वे वचन बोले उसकी तो संगति ही न करे। क्योंकि संगति का असर हुए बिना नहीं रहता।

मधुर वचन है औषधि

मधुर वचन बोलने वाले व्यक्ति का मन अत्यन्त कोमल और करुण रस से भरा रहता है। परिणाम यह होता है कि उसकी वाणी, दृष्टि और कार्यों में भी मधुरता रहती है। ऐसा व्यक्ति किसी के मन को दुखाने की इच्छा नहीं करता। उसके हाथ किसी को कष्ट देने के लिए नहीं उठते, और उसकी जबान किसी का दिल तोड़ने के लिए नहीं खुलती।

मीठे वचन महान शोक से संतप्त प्राणी को भी धैर्य प्रदान करते हैं तथा काफी अंशों तक वह अपने दुख को भूल जाता है। रोगी व्यक्ति के लिये तो मधुर वचन औषधि का काम करते हैं। यह प्राणः देखते हैं कि डॉक्टर-वैद्य अगर मधुर भाषी होते हैं तो रोगी के हृदय को बरछा दाढ़स और सन्तोष पहुँचा सकते हैं। मरीज की आधी बीमारी तो डॉक्टर या ईश्वर के मीठे वचनों से ही दूर हो जाती है तथा उसका हृदय स्वस्थ होने की आशा से भर जाता है।

इसीलिये बुद्धिमान पुरुष सदा ऐसी वाणी बोलते हैं, जिससे किसी को दुख न पहुँचे, वह तिरस्कार का अनुभव न करे और हीनत्व की भावना से न भर जाय। उनके मन में सदा यही भावना रहती है कि :

प्रियवाक्य-प्रदानेन, सर्वे हृष्यन्ति जंतवः।

तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचनेऽऽदरिद्रता ?

— प्रिय वचन बोलने से सभी प्राणियों को संतोष होता है तो फिर कैसे

ही वचन क्यों नहीं बोलने चाहिये? मीठे वचन बोलने में क्या नुकसान है। उससे कौन सी दरिद्रता आने वाली है?

मीठे वचनों का बड़ा चमत्कारिक असर होता है। मनुष्य तो जया पशु-पक्षी भी मधुर-वचनों से वश में हो जाते हैं। अनेक बार तो बिगड़ते हुए कार्य बन जाते हैं तथा घोर कलह भी शांत हो जाता है। क्रोध की अग्नि पर मधुर-वाणी और स्नेह-मयी दृष्टि शीतल जल का काम करती है। चंडकौशिक सर्प ने भगवान महावीर के पैर को उस लिया था किन्तु श्मश्रु की स्नेहामृत पूर्ण दृष्टि ने उसे सदा के लिये क्रोध-रहित बना दिया। इतना परिवर्तन ला दिया कि उस विषधर प्राणी ने जीवन भर के लिये किसी को काटना उग्रेड दिया तथा लोगों के फेंके हुए ईंटों और पत्थरों की चोटों को सम-भाव से सहन किया। चींटियों ने उसके सारे शरीर को चलनी के समान छेद युक्त बना दिया किन्तु उस प्राणी ने उफ तक नहीं की, एक भी चींटी की जान लेने का विचार उसकी हृदय में नहीं आया।

यह था केवल मधुरता का परिणाम। वचनों का उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये, इस विषय में हमारे धर्म-शास्त्र अनेक प्रकार से शिक्षाएँ देते हैं। किन्तु उन सबका मूल केवल यही है कि मानव सत्त्व मृदु-वचनों का प्रयोग करे, तभी वह अनेकानेक पुण्य-कर्मा का बंध करता हुआ अंत में उच्चगति प्राप्त कर सकता है। भगवान महावीर का कथन है :-

अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चस्सओ पडिणीयं च भासं।

ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो।

— दशवैकालिक सूत्र

जो साधु-पुरुष किसी की भी प्रत्यक्ष या परोक्ष में निन्दा नहीं करता, तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली, निश्चयकारी और अप्रियभाषा नहीं बोलता वह पूज्य बनता है।

वास्तव में ही अगर हम इतिहास को उलटें तो ज्ञात होता है कि जितने भी महापुरुष संसार में हुए हैं वे अपनी नाम्रता, परोपकारिता और प्रिय-भाषिता के कारण ही महापुरुष कहलाए हैं।

मुक्ति का मार्ग कौनसा?

संत मेक्वेरियस बड़े त्यागी और तपस्वी संत थे। एक बार एक व्यक्ति ने उनके पास आकर कहा — “भगवन, मुझे मुक्ति का बिलकुल सीधा और सरल मार्ग बताइये!” संत ने कहा — “अच्छी बात है, तुम पहले कब्रिस्तान में जाओ और समस्त कबरों को खूब गालियाँ देकर आओ!” व्यक्ति संत की इस आज्ञा से चकित हुआ किन्तु बिना इस विषय में कोई प्रश्न किये उसने आज्ञा का पालन किया।

अगले दिन जब वह मेकेरियस के पास आया उन्होंने पूछा - 'क्यों भाई! तुमने कल कब्रिस्तान में जाकर कब्रों को गालियाँ दीं?'"

"जी, हाँ! मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया।" तब संत ने पूछा — "तो किसी कब्र ने तेरी गाली के जबाब में कहा?" किसी ने कुछ भी नहीं कहा भगवन्! संत मुस्कराए और बोले — "वत्स! कब्रों ने ही तुझे मुक्ति का मार्ग बता दिया है। तू संसार में मानापमान से अलिप्त रह, किसी की गालियाँ और दुर्वचन सुनकर भी प्रत्युत्तर में कटु वचन मत बोल! यही मुक्ति का सचा मार्ग है।"

कटु-वचन सुनने वाले के हृदय को तीर की तरह वेध देते हैं। शस्त्र का आघात तो समय पाकर ठीक हो जाता है किन्तु वचन का आघात दीर्घकाल तक भी मन को सताता रहता है। इसीलिए कबीर ने कहा है —

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।

श्रवण द्वार से संचरे, सालें सकल शरीर॥

कड़वे वचनों से सामाजिक वातावरण अप्रिय बनता है और पारिवारिक वातावरण भी विषैला बन जाता है। वचनों का ही प्रभाव होता है कि बाप बेटे में कलह, पति-पत्नी में अनबन और भाई-भाई में घर वैमनस्य पैदा हो जाता है। द्रौपदी के इस कथन ने — 'अन्धे के लड़के अन्धे ही होते हैं।' महाभारत का युद्ध खड़ा कर दिया।

क्रोधी व्यक्ति अपने घर में ही अशांति का वातावरण बना लेता है। खाने बैठा और रसोई में से थाली उठाकर फेंक दी, क्योंकि साग में नमक कम हो गया। वाह, इतनी सी बात? अगर नमक मांग लेता तो उसकी हंटी हो जाती? और पत्नी को तथा उसके सारे घराने को गालियाँ देने से क्या वह ऊँचा उठ गया? घर में नौकर है, पर बात-बात में उसे बुरा-भला कहने और झिड़कने से क्या मालिक महापुरुष बन गया? दरवाजे पर भिखारी आया उसे अनेक अपशब्द कहकर तथा आँखें निकालकर भगा दिया तो क्या स्वयं व्यक्ति की आत्मा कुछ ऊँची उठ गई? नहीं, कटुवचन कहकर कभी कोई महान् नहीं बन सकता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य को अपनी जवान पर अंकुश रखना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि मैं क्या कह रहा हूँ और इसका प्रभाव क्या होगा। बोलने बोलने में ही बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। मान लीजिये, 'किसी की माता आई है। पुत्र मां को देखकर अगर कहे कि मेरी माताजी आई हैं।' तो मां को सुनकर कितनी प्रसन्नता होगी, उसका हृदय कितने गौरव का अनुभव करेगा? किन्तु अगर वही पुत्र कहदे — 'कि मेरे बाप की औषत है। तो माता का हृदय क्या कहेगा? उसे कितना दुःख महसूस होगा? बात बड़ी है। सत्य भी है, किन्तु अप्रिय तो है। अप्रिय सत्य भी मानव को नहीं बोलना चाहिए। मनुस्मृति में कहा भी है —

“ सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । ”

सत्य बोलो, प्रिय बोलो किन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो।

सत्य भी अगर अप्रिय होता है तो उससे मन को ठेस पहुँचती है। एक मिखारी को आप उत्तमोत्तम पदार्थ खिलाएँ किन्तु खिलाने के बाद अगर उसे कह दें — ‘क्यों रे! जिन्दगी में कभी खाए थे ऐसे पकवान?’ तो क्या होगा? भले ही मिखारी भीख माँगकर खाता है, और वास्तव में ही उसने अपने जिन्दगी में वैसे पकवान नहीं खाए, पर आपके इस तरह कहने में उसे बड़ी चोट पहुँचेगी और उसकी स्वादिष्ट भोजन पाने की खुशी का लोप हो जाएगा।

दूर क्यों जायें, आप अपने घर में भी अगर प्रिय और ऊँची भाषा बोलेंगे तो आपके घर का वातावरण मधुर बना रहेगा। तथा आपका सब सम्मान करेंगे पर अगर आपके मुँह से कड़वी बातें निकलनी प्रारम्भ हो जाएँगी तो घर वाले भी सुनने को तैयार नहीं होंगे।

क्रोध हमारी बहनों को भी बहुत आता है। वे लड़ेंगी अपनी सास से और गुर्रसा उतारेंगी बच्चों को घमाघम पीटकर। या देवरानी और जिदानी से लड़ पड़ेंगी और सत को सोना हराम करेंगी श्रीमानजी का। बेचारे थके-माँदे पति फिर अपनी तकदीर को कोसते रहेंगे। अथवा कर्कशा स्त्री से पीछा छुड़ाने का उपाय सोचेंगे। एक दृष्टांत है।

पंडितजी मोटे क्यों कर हुए?

किसी गांव में दो पंडित रहते थे। दोनों विद्वान और होशियार थे, किन्तु निर्धनता के कारण बड़े दुखी थे। कहते हैं कि --

पंडिते निर्धनत्वं, ण्नपति कृपणत्वं

अर्थात् पंडितों में निर्धनता पाई जाती है और धनवानों में कृपणता।

तो दोनों पंडित दरिद्रता से परेशान होकर विचार करने लगे— यहाँ गुजारा नहीं होता, कहीं परदेश जाना चाहिए। विचार पक्का हो गया और दोनों एक दिन वहीं से चल दिये। घर पर दोनों की पत्नियाँ थीं पर स्वभाव में एक दूसरे से बिलकुल भिन्न थीं।

एक की पत्नी अत्यन्त नम्र, मधुर-भाषी और पतिव्रता थी पर दूसरे पंडित की स्त्री कर्कशा और झगड़ालू थी। इस प्रकार एक का जीवन शांतिमय था और दूसरे का अशांतिमय। किन्तु दरिद्रता का निवास दोनों के यहाँ एक साथ था, अतः दोनों शुभ-मुहूर्त देखकर खाना हो ही गए।

चलते चलते वे लोग एक राजा के राज्य में पहुँचे। राजा विद्वान पंडितों को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उन्हें अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा। राजा

ने सोचा कि मेरे दरबार की विद्वानों से शोभा बढ़ जायगी। क्योंकि कहा जाता है —

लाख मूर्ख तजि राखिए, इका पंडित बुधधाम।

सर शोभा इक हंस सों, लाख काक केहि काम॥

अर्थात् जिस प्रकार एक लाख कौओं के होने से भी सरोवर शोभा नहीं पाता, जितना शोभायमान वह एक हंस के होने से ही हो जाता है। उसी प्रकार लाख मूर्खों के होने से शोभा नहीं बढ़ती वरन् एक पंडित और बुद्धिमान के कारण शोभा बढ़ जाती है। अतः लाख मूर्खों को खंडकर भी एक पंडित को रखना अच्छा है।

राजा ने यही विचार कर अपने कर्मचारियों को दोनों पंडितों के लिए समस्त सुविधाओं का प्रबंध करने के लिए तथा भोजनादि का उत्तम प्रबंध करने के लिए आदेश दे दिया। पंडित आनन्दपूर्वक रहने लगे, किन्तु राजा से उनकी मुलाकात पुनः जल्दी नहीं हो पाई।

दो दिन, चार दिन, महीने, दो महीने। इसी प्रकार छः महीने व्यतीत होने के पश्चात् एक दिन वे राजा से मिले। राजा ने देखा कि एक पंडित तो पूर्व की अपेक्षा दुर्बल हो गया है, और दूसरा हट-पुट। आश्चर्यपूर्वक राजाने पूछा - क्या आप लोगों को यहाँ कोई कष्ट है? नहीं राजन! आपके यहाँ हमें किस प्रकार का कष्ट? कोई तकलीफ नहीं है। पंडितों ने उत्तर दिया।

फिर आप लोगों के शरीरों में ऐसा परिवर्तन क्यों हुआ कि आपमें से एक तो दुर्बल हैं और दूसरे स्वस्थ?

राजा की बात सुनकर स्वस्थ और पुष्ट हो जाने वाले पंडित ने कहा - “महाराज! मेरे हट-पुट हो जाने के दो कारण हैं। एक तो आपके यहाँ भोजनादि का उत्तम प्रबंध है दूसरे यहाँ मुझे दुःख नहीं है। मेरे घर पर मेरी पत्नी कर्कशा और झगड़ालू है। एक दिन भी शांति से नहीं रहने देती थी मुझे रोज उसकी गालियाँ सुननी पड़ती थीं। अब आप समझ ही गए होंगे कि प्रथम तो आर्थिक अभाव के कारण और दूसरे स्त्री के दुःख से घबराकर मैंने घर छोड़ दिया था। विद्वानों का कथन भी है :-

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या जाऽप्रियवादिनी।

अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्॥

पंचतंत्र

जिसके घर में माता न हो और पत्नी अप्रियभाषिणी हो उसे वनवासी हो जाना चाहिये, क्योंकि उसके लिये वन और घर बराबर है।

तो महाराज! घर पर झगड़े के बिना एक दिन भी नहीं निकलता था

और यहाँ उस दुख से मुझे मुक्ति मिल गई है। इसलिये मैं अधिक मोटा ताजा हो गया हूँ।

अब राजा ने अपनी प्रश्नवाचक इष्टि दुर्बल हो जाने वाले पंडित की ओर डाली। पंडित ने उसका आशय समझकर कहा :-

“महाराज! यहाँ तो मुझे भी किसी बात की तकलीफ और कोई कष्ट नहीं है, किन्तु मुझे अपनी पत्नी की स्मृति सताया करती है। मेरी पत्नी अत्यन्त सुशील और मधुर-भाषिणी है। उसके द्वारा जो सम्मान, प्रिय वचन और इन सबसे प्राप्त सुख मुझे मिलता था वह यहाँ नहीं है -

“नित्यं मधुरवक्त्री च राम रमा न रमा रमा।”

जो स्त्री निरन्तर मधुरवाणी बोलती है, वही साक्षात् लक्ष्मी रूप है। केवल धन-संपत्तिरूप लक्ष्मी को ही लक्ष्मी मत समझो।

इसी कारण से मैं दुबला हो गया हूँ महाराज! और कोई बात नहीं है।”

बंधुओ! आप भी समझ गए होंगे कि मधुर वचनों में कितनी शक्ति होती है। तीन योग माने जाते हैं। एक मनोयोग, दूसरा वचन योग और तीसरा काययोग। इन तीनों योगों में वचन योग बीच में है। वचन योग मन के भावों को भी समझता है तथा काय से भी कार्य करा लेता है। यह दोनों ओर चलता है, इसलिये इस पर अंकुश रखा जाना अत्यंत आवश्यक है।

वचनों की कड़वाहट से ही वैर और विरोध का श्री गणेश होता है। वर्षों के स्नेह-सम्बन्ध को भी कटु-वचन क्षणमात्र में तोड़ डालते हैं। एक दोहे में कहा है :-

दूध फटा घी कहाँ गया, मन फटा गई प्रीति।

मोती फटा कीमत गई, तीनों की एक ही रीति॥

कहते हैं - समझ में नहीं आता कि दूध फटते ही घी कहाँ चला जाता है? अर्थात् दूध फट जाने पर घी नष्ट हो जाता है। दूसरे प्रगाढ़ स्नेह जो वर्षों से चला आता है, वह भी कठोर वचनों के कारण मन के फटते ही विलीन हो जाता है। इसी प्रकार मोती के टूट जाने पर उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। कवि का कथन है कि तीनों की एक ही रीति है।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषों को कटु-भाषा से सदैव बचना चाहिये। यह केवल आप श्रावकों के लिये ही नहीं है वरन् हम साधु-साधवियों के लिए भी है। पाँच महाव्रत में दूसरा महाव्रत है - “सत्य व्रतो” पाँच समिति में दूसरी समिति है - ‘कर्कश, कठोर, क्रोधयुक्त, मानयुक्त, एवं राग आदि दोषों से युक्त भाषा नहीं बोलना। इन्हीं सब दोषों को टालने के लिये ‘भाषा-समिति’ बनाई है। इनके अलावा तीन

गुप्तियों में भी 'वचन गुप्ति' आती है। इस प्रकार हमारे यहाँ बोलने पर तीन-तीन प्रतिबंध लगाए गए हैं। अप्रिय, कठोर और भर्त्सकी भाषा का हमारे लिये पूर्ण निषेध है।

सारांश मेरे कहने का यही है कि मानव-मात्र को मधुर शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। इससे घर में, परिवार में, समाज में वैर-विरोध पैदा नहीं होता। बुद्धिमानों का यही प्रयत्न रहता है कि वे स्वयं अपने मधुर वचनों से आपसी व्यवहार को सुन्दर बनाए रखें तथा दूसरों को भी इसी प्रकार की शिक्षा देते रहें। उनका सभी से यही कहना होता है :-

मत दीजो चतुर नर गाली। पियों समता रस की प्याली रे॥

ये कटुक वाक्य मत बोलो, क्यों वैर भासाओ खाली रे॥

सरल भाषा में कही गई कितनी सुन्दर बात है? हम सब चाहते तो यह हैं कि सब मनुष्य हमारी बात मानें, हमारा आदर-सम्मान करें और हमसे प्रभावित हों, किन्तु क्या चाहने मात्र से ही आकांक्षा पूरी हो जाएगी? नहीं, इसके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा और इसी का तरीका कवि ने बताया है कि "तुम कटु-वचन मत बोलो, सदैव समता रूपी अमृत का पान करते रहो ताकि जवान से भी मधुर-रस ही प्रवाहित हो। कड़वे वचनों से कोई लाभ होसक नहीं होता। केवल वैर ही बढ़ता है।

जिह्वा किसलिये मिली है

संत सुकरत का कथन :-

"ईश्वर ने हमें दो कान दिये हैं और जो आँखें, पर जिह्वा एक ही दी है। वह इसलिये कि हम बहुत अधिक सुनें, बहुत अधिक देखें, लेकिन बोले कम-बहुत कम।"

एक जापानी कहावत भी है -

"जिह्वा केवल तीन इंच लम्बी होती है। किन्तु वह छः फुट लम्बे आदमी का कत्ल करवा सकती है।"

कहावत सर्वथा सत्य है। जिह्वा का आघात तो तलवार के आघात से भी भयानक होता है। क्योंकि तलवार केवल शरीर पर चोट करती है किन्तु जीभ मन पर गहरी चोट पहुँचाती है, और वह जल्दी से ठीक भी नहीं होती।

जिह्वा में ही मृदुता रूपी अमृत विद्यमान रह सकता है और जिह्वा में ही कटुता रूपी विष। जिसकी जिह्वा में यह अमृत होता है, वह लाखों को अपना बना लेता है, तथा कटुता रूप-विष होने पर अपना को भी बेगाना बना कर छोड़ता है। अपने वचनों से ही मनुष्य सम्मान का पात्र बनता है और अपने वचनों से

ही अपमानित होता है। कविवर रहीम ने इसीलिये कहा है -

रहिमन जिह्वा बाझरी, कहि गई सरग पाताल।

आपु तो कह भीरु गई, जूती खात कपाल॥

सुनकर आपको हैंसी आणी, पर बात सत्य है। वास्तव में ही यह जीभ चाहे जो कहकर स्वयं तो दांतों की पहरेदारी में इस मुँह रूपी किले में छिप कर बैठ जाती है, किन्तु उसकी बातों देव परिणामस्वरूप बेचारा सिर जूतियाँ खाना शुरू करता है और इस अनिष्टकारी तथा कोमलांगी सुन्दरी को कोसता रहता है।

इसलिये मेरे भाइयों! अगर अपने उत्तमांग, इस मस्तक की सुरक्षा चाहते हो तो जिह्वा को वश में रखो। मीठा बोलने में तुम्हारी हेटी नहीं होगी! अभी-अभी मैंने बताया ही है कि 'सूर्याभ देवता' भी अपने आभियोगिक - वाकर देवता को 'देवानुप्रिय' कहकर सम्बोधन करते हैं। तो हमारे लिए किसी को प्रिय और मीठे शब्दों से सम्बोधन करने में कौनसी शर्म की बात है? अपने से छोटों को भी अगर हम प्रिय सम्बोधन से पुकारते हैं तो वह हमारे गौरव को बढ़ाता ही है, घटाता नहीं। प्रत्येक महापुरुष वाणी की मधुरता से ही महापुरुष कहलाता है। जबान से कड़वे-वचन रूपी पत्थर बरसाने वाले को आज तक किसी ने महापुरुष नहीं कहा।

आशा है आप वचनों के महत्त्व को समझ गये होंगे और यह भी समझ गये होंगे कि अनेकानेक पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त वाणी का दुरुपयोग न करके किस प्रकार उससे नवीन शुभ-कर्मों का बन्धन किया जा सकता है, और अन्त में उच्च गति को पाया जा सकता है। अगर आपको भी अपनी आत्मा को निरन्तर विशुद्ध बनाते हुए जन्म-मरण से मुक्त होने की अभिलाषा है तो सर्वप्रथम अपनी वाणीपर अंकुश रखना सीखें तथा मधुरगमभी बनने का प्रयत्न करें।

● ● ●

[१३]

यही सयानो काम !

धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों!

श्री 'रायप्रसेनी सूत्र' में सूर्याम देवता आपने आभियोगिक देवताओं को आदेश देते हैं - "भगवान् महावीर की सेवा में पहुँचो और सेवा में पहुँचकर सविधि वन्दन करो!" 'सूर्याभिवेदता' वन्दना करने की विधि भी बताते हैं। यह हितकारी शिक्षा कहलाती है।

वन्दना करना विनय है। विनय से स्था सुख प्राप्त होता है। विनय के द्वारा शत्रु भी मित्र बन जाते हैं फिर अन्य ज़ातों का तो कहना ही क्या है। हमारे शास्त्रों में विनय का महत्त्व बड़ा भारी बताया गया है। कहा है -

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं पग्गो से पुक्खो।

जेण किंति सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥

विनय धर्म का मूल है और मोक्ष उसका सर्वोत्तम फल है। विनय से कीर्ति बढ़ती है तथा प्रशस्त श्रुत-ज्ञान का लाभ हासिल होता है।

जिस प्रकार मूल के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार जिस व्यक्ति की आत्मा में विनय गुण नहीं होता वहाँ धर्म नहीं टिकता। विनय ही धर्म-रूपी वृक्ष का पोषण करता है तथा उसे हरा-भरा रखता है। उसके अभाव में धर्म-वृक्ष सुख जाता है तथा शनैः-शनैः उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

विनय के अभाव में

प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध और उन्नत बनाना चाहता है, ज्ञानवान् और बुद्धिमान् बनना चाहता है। किन्तु विनय के अभाव में यह सब केवल इच्छा मात्र ही रह जाता है, उसकी आकांक्षा पूरी नहीं होती। बुद्धि को निखारना और सम्यक्ज्ञान हासिल करना विनय के अभाव में कदापि सम्भव नहीं है।

आप प्रायः देखते ही हैं कि एक लोढ़ा पानी लेने के लिये भी आपको नदी या तालाब में झुकना पड़ता है। झुके बिना लोढ़ा नहीं भरा जा सकता। ध्यान में रखिये, कि पानी मुफ्त का है, उसका कोई मूल्य नहीं। किन्तु उस मूल्यहीन वस्तु को भी जब बिना झुके प्राप्त नहीं किया जा सकता तो फिर आत्म-कल्याण

जैसी अपूर्व वस्तु बिना विनय के अभाव में कैसे प्राप्त की जा सकती है? अर्थात् विनय के अभाव में आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। आपके हृदय में यह जानने की जिज्ञासा होगी कि यह कैसे? आत्मा के उद्धार का विनय से क्या सम्बन्ध है?

पर वास्तव में यह सत्य है कि विनय के अभाव में आत्मा को कभी मुक्ति हासिल नहीं होती। वह इसलिए कि विनय के कारण बुद्धि परिष्कृत होती है और जिसकी बुद्धि परिष्कृत होती है तथा विकसित होती है वह व्यक्ति अपने गुरु अथवा आचार्य से नम्रतापूर्वक सम्प्रज्ञान प्राप्त कर सकता है। सम्यक्ज्ञान प्राप्त होनेपर सम्यक् चारित्र का मनुष्य पालन करता है और उसके कारण नवीन कर्मों का बंध होना रुक जाता है। जब नवीन कर्मों का बंध होना रुक जाता है तो दृढ़ तपोबल हासिल होता है और उससे पूर्व कर्मों की निर्जरा होती चली जाती है। पूर्व कर्मों का क्षय होने पर आत्मा कर्म-रहित अर्थात् अयोगी दशा को प्राप्त होती है। उस समय मन, वचन और शरीर के समस्त व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं। तथा ऐसी स्थिति प्राप्त होने पर भव-परम्परा नष्ट हो जाती है। आत्मा को पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसान पड़ता।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि विनय ही एक ऐसा मार्ग है जो हमें शनैःशनैः मुक्तिरूपी मंजिल तक पहुँचा देता है। यह ऐसा महान् गुण है जिसके कारण मनुष्य झुकता है किन्तु वह संसार से दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। अतः मुक्ति के इच्छुक प्राणी को सर्वप्रथम विनय गुण को अपनाना चाहिये। विनय होने पर ही वह सम्यक्ज्ञान हासिल कर सकेगा तथा सम्यक् चारित्र का पालन करके आत्मा को संसार-मुक्त बना सकेगा। सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के अभाव में मनुष्य चाहे साधु बन जाए, कितना भी जप-तप गण्यों न करे, पंचाग्नि में शरीर को तपा डाले पर मोक्ष को हासिल नहीं कर सकता। यही बात पूज्यपाद श्री अमीत्रावि जी महाराज ने अपने एक पद्य में बताई है :-

केले सिर पैर लौ मुंडावे केश बारंबार,
केले पंचकेशी -जख जटा ही बढावे हैं॥
केले वही दिगंबर वसन तजि फिरे केले,
नाना रंग भेख केले भसमी रमावे है।
केले जोग आसन समाधि गद्दी बैठे केले,
पंचाग्नि चौरासी गाँहि देह को तपावे है।
अमीरिख करी क्यों ना देखे कष्ट नाना भांति।
जीव दया ज्ञान बिना मोक्ष नहीं पावे है।

अर्थात् कितने ही व्यक्ति बारंबार केश-लुञ्चन करते हैं, कितने ही नाखून और जटा बढ़ा लेते हैं, कितने ही व्यक्ति वस्त्र-त्याग कर दिगम्बर बन जाते हैं तथा कितने ही नाना रंग के वस्त्र पहन कर शरीरों में भस्म रमा लेते हैं। अनेक

• [१५१]

व्यक्ति योगासन करते हैं तथा समाधि लेकर बैठते हैं और इनके अलावा बहुत से व्यक्ति पंचाग्नि में देह को भी झुलसा डालते हैं। किन्तु कवि का कथन है कि भले ही नाना प्रकार के कष्ट उठा लिये जायें, जीव अहिंसा और सम्यक्ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

तो सम्यक्ज्ञान जो कि मुक्ति का मूल है -

“ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते।”

ज्ञान से ही सभी प्रकार की स्थितियों से छुटकारा मिला करता है।

यह विनय के अभाव में प्राप्त नहीं हो सकता। हृदय में विद्यमान रहने पर आत्मा का क्रमशः उत्थान होता है। एकमात्र विनय-गुण युक्त आत्मा विभिन्न श्रेणियों में से गुजरता हुआ मुक्ति-रूपी मंजिल तक पहुँचता है। अतः आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को सर्व-प्रथम अपने हृदय में विनय गुण की स्थापना करनी चाहिए।

हमारे बालक और विनय गुण

अभी दो-तीन दिन पहले बालक-बालिकाओं का धार्मिक शिक्षण देने के लिए खुशालपुरा में एक धार्मिक स्कूल स्थापित करना, इस विषय का संकेत किया गया था। आज वह संकेत कार्य रूप में परिणत होता हुआ दिखाई दे रहा है। अर्थात् यहाँ के स्थानीय श्री संघ ने उस ओर प्रयत्न किया है। प्रसन्नता की यही बात है कि स्कूल के लिये समाज के व्यक्तियों ने गद्दाशक्ति दान देकर अपनी उदारता और रुचि का परिचय दिया है।

बंधुओं, आपको भली-भाँति समझना चाहिए कि धार्मिक शिक्षण के लिए दिया हुआ आपका यह पैसा आपको अनेक गुना लाभ प्रदान करेगा। क्योंकि इस धन से आपके बालक विनय की महत्ता समझेंगे, अनेक उत्तम संस्कारों को अपनाएँगे तथा अपने जीवन को धर्म-मय बनाएँगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि अपने बालकों को और समाज के इन भावी कर्णधारों को जब आप पुनः संस्कारी और धर्मात्मा पाएँगे, तब क्या आपको आँतरिक खुशी और संतोष प्राप्त नहीं होगा? क्या आप अपने आज के दिए हुये धन को अनेक गुना सार्थक नहीं समझेंगे? किसी ने सत्य ही कहा है :-

वत्कर्मकरणेनान्तः संतोषं लभते नरः। वस्तुतस्तद् धनं मन्ये, न धनं धनमुच्यते॥

जिस कार्य के करने से मनुष्य के अन्तःकरण को संतोष होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नहीं कहा जाता।

यही बात आपके लिये है। स्कूल खोलने के लिए आज जो कार्य और प्रयत्न आप कर रहे हैं, इससे जितना आत्मिक संतोष आपको मिलेगा उतना रूपया, पैसे, सोना और चांदी के रूप में धन इकट्ठा करने से नहीं मिलेगा।

अगर आपके इन सद्प्रयत्नों से आपके बालक विनयी, संस्कारी और धार्मिक बन जाएँ तो आपके कुल का गौरव तो बढ़ेगा ही, साथ ही समाज की स्थिति सुधरेगी, संघ की स्थिति मजबूत होगी तथा देश की कीर्ति बढ़ेगी। आप जानते हैं कि हमारा भारतवर्ष, संसार के अन्य समस्त देशों के द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। वह क्यों? इसलिए कि इस देश में महान् ऋषि-मुनियों का, धर्म के मर्म को समझने वाले बड़े-बड़े आचार्यों का, धुरंधर विद्वानों का तथा 'कालिदास' जैसे अनेक महाकवियों का जन्म हुआ है। हमारा जैन-दर्शन आज भी संसार के समस्त देशों द्वारा मान्य है तथा समास्त धर्मों से ऊँचा माना जाता है। हमारे देश के आचारविचार और सादगी की सभी सराहना करते हैं। यह सब कैसे होता है? एक-एक व्यक्ति के सदाचारी बनने से तथा एक-एक व्यक्ति के सुसंस्कारी बनने से।

इसलिये मैं कहता हूँ कि आप अपने एक-एक बच्चे को धार्मिक और सदाचारी बनाइये, समाज अपने आप उन्नत हो जाएगा। और जब समाज उन्नत होगा तो देश का गौरव स्वयं ही बढ़ेगा। बचक अज्ञानी होते हैं पर कच्चे घड़े के समान होते हैं। इनको जिस साँचे में ढाला जायेगा वैसे ही ढल जायेंगे। इनके भोले हृदयों में जैसे संस्कार आप डालेंगे वैसे ही डल जायेंगे। इसके अलावा बाल्यावस्था में जो संस्कार हृदय में जम जाते हैं, वह सदा बने रहते हैं, मिटते नहीं। इसीलिये बालकों के लिये धार्मिक स्कूल की अनिवार्य जरूरत है, ताकि अभी से इनके संस्कार उत्तम बनें तथा इनकी रुचि धर्म की ओर बढ़ सके।

सर्वश्रेष्ठ दान

दान की भावना एक अत्युत्तम भावना है। यही धर्म का मुख्य द्वार है। अपनी संचित सम्पत्ति में से व्यक्ति अगर उसका कुछ अंश दान में दे देवे तो उसे कोई नुकसान नहीं होता। कबीर का कथन है -

चिड़ी चोंच भर ढरे गई, नदी न घटियो नीर।

देता दौलत ना गटे, कह गए दास कबीर॥

नदी में जल सतत प्रवाहित होता रहता है। वह असीम जल बहा लाती है तथा सागर की ओर ले जाती है। उस जल-राशि में से अगर चिड़िया अपनी चोंच से कुछ बूँद जल ले जाय तो जल में कमी नहीं आती। उसी प्रकार अगर अपनी सम्पत्ति में से व्यक्ति थोड़ा-बहुत दान में दे देता है तो सम्पत्ति में भी कोई कमी नहीं होती। दूसरे दान देने का अर्थ पैसा फेंकना ही नहीं है वरन् शुभ कर्मों के बीज बोना है। जितना दिया जाएगा उससे अनेक गुना अधिक उसे दूसरे और अधिक अच्छे रूप में प्राप्त हो जाएगा। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को जितना भी और जैसे भी बन सके दान देना चाहिए तथा इस उत्तम भाव को हृदय में सदैव बनाए रखना चाहिए।

दान कई प्रकार के हैं किन्तु उनमें से सर्वश्रेष्ठ विद्या दान है। जैसे आपने

किसी को वस्त्र दान दिया तो वह वस्त्र छः महीने, या दो वर्ष में तो फट ही जायगा। उससे अधिक नहीं चलेगा। इसी प्रकार धन्न-दान दिया, अर्थात् भूखे को भोजन कराया तो सुबह भोजन कराने पर शाम को पुनः उसका पेट खाली हो जायगा। विद्या-दान एक ऐसा दान है, जिसे आपने दिया और ग्रहण करने वाले ने सम्यक् रूप से ग्रहण किया तो उसकी आत्मा की भूख केवल इसी जन्म के लिए नहीं अपितु जन्म-जन्मांतरों के लिए मिट जायगी।

आप इसी विद्या-दान में सहायक बनने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह हर्ष की बात है। साथ ही सही अर्थों में विद्या-दान दिलाने जा रहे हैं। वैसे बालक इन धार्मिक स्कूलों के अलावा सरकारी स्कूलों और कॉलेजों में भी विद्या प्राप्त करते हैं किन्तु वह शिक्षा, शिक्षा कैसे कहला सकती है जो व्यक्ति को केवल धन कमाने में समर्थ बनाती है। मान लिया कि वह शिक्षा प्राप्त करके आपका पुत्र वकील, इंजीनियर, डॉक्टर या बैरिस्टर आदि कोई उच्च डिग्री प्राप्त नागरिक बन जाएगा और प्रचुर मात्रा में धन कमा लेगा। किन्तु वह धन सांसारिक सुखों की उपलब्धि के अलावा उसे और क्या दिला सकेगा? सांसारिक भोगोपभोग की वस्तुएँ नष्ट होने वाली हैं और बहुत चली तो इस जन्म के अन्त तक साथ देंगी। पर उससे आत्मा का क्या बनने वाला है? उसको तो रंच-मात्र भी लाभ नहीं हो सकेगा। उल्टे अधिक धन प्राप्त करके व्यक्ति उसके कारण अधिक पापों का ही उपार्जन करेगा और आत्मा को अधिक संकट में डाल लेगा।

ज्ञानात् मोक्षः

इसलिये मनुष्य को ऐसा ज्ञान हासिल करना चाहिये जिससे वह लौकिक और लोकोत्तर, सभी प्रकार की निधियों को प्राप्त कर सके। सच्चा ज्ञान वही है, जिसको प्राप्त करके मनुष्य अपने अविवेक का नाश करे, कर्तव्य और अकर्तव्य को समझे, आत्मा के सच्चे स्वरूप को जाने तथा इसकी अनन्त शक्ति पर विश्वास करे। जो व्यक्ति सही अर्थों में विद्या प्राप्त करता है अर्थात् सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह अपने मन, वचन और शरीर के अनिष्ट व्यापारों को रोककर अपनी आत्मा को उत्तरोत्तर निर्मल बनाता है। घोर उपसर्ग परीषद आने पर भी अपने सत्संकल्प से नहीं डिगता तथा संसार में रहकर भी संसार से अलिप्त जल में कमलवत् रहता है। उसका जीवन तप और तप्राग की भावना से परिपूर्ण तथा सदाचार की समुज्ज्वल प्रतिमा बनता है। वह अपना प्रत्येक कदम अत्यन्त सावधानी से सोच-विचार कर रखता है। उसका अन्तःकरण इस संसार को बन्दीगृह मानता है तथा प्रतिपल इससे छुटकारा पाने की भावना रखता है। परिणामस्वरूप :-

“बोधे बोधे सच्चिदानन्दभासः।”

— तत्वामृत

अर्थात् निरंतर ज्ञानाभ्यास करने से आत्मा का वह आदर्श स्वरूप प्रतीत

होता है, जोकि "सत्, चित् और आनन्द" रूप है।

भगवत् गीता में भी बताया है -

"ज्ञानं लब्ध्वा परं शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।"

सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति कर लेने पर यह आत्मा अजर-अमर शांति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है।

तो बन्धुओ! आप इस धार्मिक विद्यालय की स्थापना करके अपने बालकों में ऐसे ही सच्चे ज्ञान का बीज वफा करने में सहायक बनें। और इसके लिए दिया हुआ आपका दान सार्थक होगा। अगर आपके बालकों में ऐसे संस्कारयुक्त ज्ञान का बीज जम गया तो वे अनेक सद्गुणों का भण्डार बनकर शनैः-शनैः अक्षय सुख की प्राप्ति करेंगे। हितोपदेश में कहा गया है -

विद्या ददाति विनम्रं, विनयाद् याति पात्रताम्।

पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या विनय देती है, विनय से योग्यता मिलती है, योग्यता से धन, धन से धर्म और धर्म से अक्षय सुख प्राप्त होता है।

आवश्यकता केवल यह है कि विद्या को सही अर्थों में ग्रहण किया जाय, तथा उसे सही उपयोग में लिया जाय। केवल अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने और तर्कवर्तिक करने में ही विद्या का उपयोग करना अज्ञानता है। अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मानना कभी-कभी बड़ा अनिष्टकारी बन जाता है। एक उदाहरण से आप इसे भलीभांति समझ सकेंगे।

अर्थ-ज्ञान से अनर्थ

एक नदी में लकड़ी का एक तख्ता बह रहा था। उस पर चार मेंढक बैठे हुए थे। तख्ता पहले किनारे पड़ पड़ा था किन्तु पानी का बहाव बढ़ जाने से वह अचानक ही बह चला था। चारों मेंढक तख्ते के बहने से बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि इससे पहले उन्होंने कभी इस प्रकार की जल-यात्रा नहीं की थी।

थोड़ी देर तैरने का आनन्द लेने के पश्चात् एक मेंढक बोला - "यह तख्ता बड़ा अजीब है, जिन्दों के सम्मान चलता है। मैंने पहले कभी ऐसा तख्ता नहीं देखा।"

पहले की बात सुनकर दूसरा मेंढक बोला - "नहीं मित्र! यह तख्ता तो अन्य तख्तों के जैसा ही है। यह न्वयं नहीं चल रहा है, वरन् नदी हमें और इसको समुद्र की ओर ले जा रही है।"

अब तीसरा मेंढक अपने ज्ञान का उपयोग करने लगा। बोला - "तुम दोनों अज्ञानी हो! अरे न तो तख्ता चल रहा है और न ही नदी। चल तो हमारे

विचार रहे हैं। क्योंकि विचारों के बगैर कोई वस्तु नहीं कतती।”

तीनों मेंदक इस बात पर झगड़ने लगे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि वास्तव में कौनसी चीज चल रही है। कुछ देर झगड़ने के पश्चात् भी जब कोई निर्णय नहीं हो सका तो उन्होंने चौथे मेंदक की ओर देखा जो अब तक शान्त बैठा हुआ ध्यान से तीनों की बातें सुन रहा था। तीनों मेंदकों ने उससे पूछा कि - किसकी बात सच है?

चौथा मेंदक गम्भीरतापूर्वक बोला, “भाइयों। तुममें से हर एक की बात ठीक है, गलत कोई नहीं। गति तख्ते में है, पानी में है और हमारे विचारों में भी है।”

चौथे मेंदक की इस बात पर तीनों को बड़ा क्रोध आया। क्योंकि तीनों में से कोई भी यह मानने को तैयार नहीं था कि उसी की बात पूर्णरूप से सत्य नहीं है, तथा बाकी दोनों की बातें सर्वथा असत्य नहीं हैं।

एकाएक बड़े आश्चर्य की बात हुई कि झगड़ने वाले तीनों मेंदक मिल गये और उन्होंने चौथे मेंदक को धक्का देकर नदी में गिरा दिया।

इस प्रकार मिथ्याज्ञान और अर्ध-ज्ञान से अनर्थ होता है। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अपने आपको पूर्ण ज्ञानी मान लेते हैं तथा व्यर्थ की बहस-बाजी में लग जाते हैं।

बन्धुओ, इस प्रकार का मिथ्या-ज्ञान केवल अहंकार का पोषण करता है। उससे मनुष्य के चारित्रिक विकास अथवा आत्मोन्नति में कोई सहायता नहीं मिलती। हमें धार्मिक स्कूल की स्थापना करके इस हानि से और कमी से बचना है। आपका स्कूल सर्वप्रथम बालकों को विनयगुण से विभूषित करेगा और उसके परिणामस्वरूप वे अपने शिक्षक से जो भी विद्या प्राप्त करेंगे, वह अपना सही प्रभाव डालेगा तथा आपका स्कूल के लिए दान करना सार्थक होगा। धार्मिक ज्ञान की वृद्धि के लिए दान करना वास्तव में ही सच्चा दान है।

दोऊ हाथ उलीचिये

इस वक्त आप जो कार्य कर रहे हैं वह बच्चों के हित के लिये है, समाज के संरक्षण के लिये है। अगर आप भावनापूर्वक काम करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी। तथा आपको ही लाभ होगा। सन्त आपको दान के लिये उपदेश देते हैं तो उन्हें अपने पल्ले में कुछ नहीं रखना है, नक़्क़ पाई भी उसमें से व्यय नहीं करनी है। आपकी संस्था होगी और आप ही इसके ट्रस्टी रहेंगे। हमारा कुछ नहीं है, हम तो केवल मार्गदर्शक हैं।

दान के लिये हम क्यों कहते हैं? इसका भी कारण है। वह यही कि लक्ष्मी का सदुपयोग दान से होता है। दान देना लक्ष्मी का ठीक तरह से संरक्षण

करना ही है। आपको विश्वास न है तो किसानों से पूछिये कि, कुँए में से खेतों को पानी देने से क्या कुँआ खाली होता है? नहीं, कुछ देर के लिये भले ही उसमें पानी कम दिखाई दे, किन्तु थोड़ी देर बाद अथवा रातभर के पश्चात् ही उसमें उतना ही पानी फिर दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार दान देने से धन घटता नहीं, वरन् बढ़ता ही है। तथा चतुर व्यक्ति इसीलिये दान देने में हिचकिचाते नहीं हैं। सन्त कबीर का कथन भी है :-

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम।

दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥१॥

जिस प्रकार नाव में पानी आ जाने पर उसे दोनों हाथों से उलीचना आवश्यक है, उसी प्रकार घर में सम्पत्ति बढ़ जाने पर दान देना चाहिए।

एक दृष्टांत देता हूँ - हमारे शरीर में अंगुलियों पर नाखून होते हैं। ये बढ़ते रहते हैं। बढ़े हुये नाखून आप और हम काटते हैं? अगर बढ़े हुए नाखूनों को नहीं काटेंगे तो उनके द्वारा शरीर पर कमी खरोंच लग सकती है; बढ़े हुये नाखूनों में मैल इकट्ठा हो जाता है। जिसमें रहे हुए कीटाणु हमारे हाथों के द्वारा छुई जाने वाली वस्तुओं में आ सकते हैं तथा स्वास्थ्य को हानि पहुँचा सकते हैं। ऐसा डाक्टरों का अभिमत है। इसलिए बढ़े हुए नाखूनों को काटना आवश्यक होता है।

धन के लिए भी यही बात है। अगर उसका केवल संग्रह ही किया जाय तो प्रथम तो वह चोरों के लिये आकर्षण का कारण बनता है, और उनसे बचा रहा जाय तो आपके बालकों को तृमार्ग पर ले जा सकता है। धनवानों के पुत्र यह देखकर कि घर में सम्पत्ति ली कमी नहीं है, प्रथम तो ज्ञान-प्राप्ति में ही लापरवाह रहते हैं दूसरे पान, सिगरेट, सिनेमा तथा सैर-सपाटों में भी अनाप-शनाप खर्च करते हैं। इतना ही नहीं, शास्त्र और जुए से भी उनका बचना कठिन हो जाता है। यह परिणाम है धन को इकट्ठा करने का। संसार में प्रत्येक अनावश्यक वस्तु का यही हाल होता है। अन्य कस्तुरी टूट जाती हैं, फूट जाती हैं या खाद्य-वस्तुएँ हों तो सड़ जाती हैं और दुर्गन्ध पैदा करती हैं। ध्यान में रखने की बात है कि धन यद्यपि सड़कर दुर्गन्ध नहीं फैलाता किन्तु वह अगर आवश्यकता से अधिक हो जाता है तो आपके बालकों में जैसा कि मैंने बताया ही है, कुसंस्कारों की सङ्गति उत्पन्न कर सकता है।

इन दोषों से बचने के लिए आप लोगों ने जो उदारता दिखाई है वह प्रशंसनीय है। लेकिन एक बात मैं आपको और बताना चाहता हूँ कि आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा करना भी एक तरह से अपराध है। कुछ व्यक्तियों का धन को इकट्ठा करने का अर्थ अन्य अनेकानेक गरीबों के मुँह की रोटी छीनना है। कुछ व्यक्तियों की तिजोरियाँ व्यर्थ में भरी रहें तथा दूसरी ओर सैकड़ों व्यक्ति भूखे

और नंगे फिर तो धनवानों का धन इकट्ठा करना उचित है क्या? समझदार और समदर्शी व्यक्ति अधिक परिश्रम का संचय नहीं करता। एक उदाहरण देखिये -

पेशगी तनख्वाह

बगदाद का एक खलीफा राज-कार्य और प्रज्ञा की सेवा के बदले में प्रतिदिन शाम को केवल तीन दिरम अपने लिए लिया करते थे। यद्यपि राज्य के अन्य कर्मचारियों का वेतन इससे कहीं अधिक था किन्तु खलीफा अपने लिये तीन दिरम ही पर्याप्त मानते थे।

एक बार ईद का त्यौहार आया, पर खलीफा के बच्चों के पास नए कपड़े नहीं थे। अतः उनकी बेगम ने पति से कहा - अगर आप मुझे तीन दिन की तनख्वाह पेशगी दिलवा दें तो मैं बच्चों के लिए नये कपड़े बना लूँ।

पर खलीफा ने क्या उत्तर दिया? कहा - "बेगम, मैं तनख्वाह पेशगी ला तो दूँ, किन्तु अगर मैं तीन दिन तक जीवित न रहा तो यह कर्जा कौन चुकाएगा? अगर तुम खुदा से मेरी जिन्दगी का तीन दिन का पट्टा ला दो तो मैं खजाने से तीन दिन की तनख्वाह पेशगी उठा लूँ।"

कितने सुन्दर विचार थे खलीफा के! संसार का प्रत्येक महापुरुष ऐसा ही सोचता है। वह अपने पास जो कुछ भी होता है, उसे सबको बाँटकर खाना चाहता है। होना भी ऐसा ही चाहिए। आदान-प्रदान के बिना व्यवस्था भी सुचारु रूप से नहीं चल सकती। आप जब भोजन के लिए बैठते हैं, थाली परोस कर लाई जाती है। इस समय थाली अगर कहे कि मैं किसी को खाना नहीं देती तो बताइये साहब! कैसे काम चलेगा? और अगर थाली ने हाथ को दे दिया पर हाथ कहे कि मैं किसी को नहीं देता तो फिर? इसी प्रकार हाथ को मिल जाए और वह मुँह को देने के लिए तैयार न हो तो फिर पेट कैसे भरेगा?

कहने का आशय यही है कि थाली हाथ को, हाथ मुँह को तथा मुँह पेट को देता है, तभी काम चलता है। यह सब दान की प्रक्रिया है। और इसके पूर्ण होने पर ही पेट भरता है। इसी प्रकार समाज के व्यक्तियों में से जब व्यक्ति एक दूसरे को देते हैं तभी समाज की व्यवस्था ठीक बैठती है।

किन्तु यह सब भावना और सुविधा से त्रुटि होना चाहिए। अर्थात् दान भी अपनी शक्ति को देखकर ही किया जाय तभी ठीक है। जैसे आपको बड़े हुए नाखून काटने पड़ते हैं, किन्तु अगर उन्हें भी आवश्यकता से अधिक काट दिया जाय तो खून निकलता है, तकलीफ होती है। इसी प्रकार शक्ति के अनुसार ही दान भी दिया जाता है। अगर शक्ति नहीं है और लाई कह भी दे कि इतना दान करो, तो व्यक्ति कहाँ से करेगा? इसलिये हमारा यही कहना है कि अगर शक्ति है तो दान अवश्य करो। इससे पुण्य-कर्मों का संचय होगा और वही आत्मा के साथ जाएगा। अन्यथा यह शरीर तो नाशवान है, जिस दिन भी यमराज का बुलावा

आ जाएँगा धन सब यहीं रह जाएगा और जीव केवल पापों की पोटली लिये ही चल देगा। श्री अमीरख जी महाराज ने भी कहा है :-

करत जगत धंध अंश के समान सुख,
ऐसा में भुलायो मन भास नहीं काल की।
ऊँडी-ऊँडी नींव देइ, चुणावे आवास जाली,
झरोखा अटारी चित्र शोभा मुर साल की।
मात तात नारी सुत, मोह में बंधाय रह्यो,
तृष्णा अर्जिक चित्त घरे धन माल की।
अमीरिख कहे घट रंकि जब मौत आय,
जावे सब छोड़ बाँध पोट पाप जाल की।

वास्तव में ही यह शरीर जिसके रहने के लिये मनुष्य बड़ी-बड़ी अड़ालिकाएँ बनाता है, भोग-विलास के असंख्य साधन जुटाकर ऐश-आराम में निमग्न रहता है, माता-पिता, पत्नी तथा पुत्रादि के मोह जाल में बँधकर उनके लिये तृष्णा वश अधिक से अधिक धन-संचय करने का प्रयत्न करता है। वह सब मृत्यु का बुलावा आते ही यहीं छूट जाता है और जीव अकेला ही अपने पाप-कर्मों के साथ चल देता है।

किसी को मालूम नहीं पड़ता कि किस दिन इस शरीर की धड़कनें समाप्त हो जाएँगी। हम देखते हैं कि घड़ी का पेंडुलम रुकते ही उसकी टिक-टिक बन्द हो जाती है, उसी प्रकार हृदय की धड़कन बन्द होते ही शरीर की समस्त क्रियाएँ रुक जाती हैं। कवि ने इस शरीर को भी घड़ी के समान ही बताया है :-

नर तन है घड़ी समान, चले तब तक ही अच्छा मान!
कल पुर्जे हड्डी के सारे, बने हैं मांस नसों के सारे,
चमक ऊपर चमड़ी का मान! चले तब तक ही अच्छा जान!

अर्थात् यह शरीर भी एक प्रकार की घड़ी है, जब तक चलती है, अच्छा है। घड़ी में जिस प्रकार कल-पुर्जे होते हैं, उसी प्रकार शरीर में भी हड्डी, मांस और नख रूपी कल-पुर्जे बने हुए हैं। इसके अलावा घड़ी के ऊपरी हिस्से पर जैसी चमक होती है शरीर रूपी घड़ी पर भी चमड़ी की चमक है। चमड़ी पर ही शरीर का सारा सौन्दर्य निर्भर है। अगर वह न हो तो फिर क्या रह जाता है? कुछ भी नहीं, आगे कहते हैं -

जब तक है नाड़ी का ठपक, प्यारा लगता है तन सबका।
रूकने पर होते हैरान चले तब तक ही अच्छा जान!

जब तक घड़ी की टिक-टिक होती है, घड़ी का महत्त्व माना जाता है। इसी प्रकार इस नर-तन में भी जब तक नाड़ी का ठपक होता है, शरीर सबको प्रिय लगता है। किन्तु इसके रुकते ही सबकी प्रसन्नता काफूर हो जाती है। तथा

इसे प्यार करने वाले भी भय से दूर भागते हैं। सब यही सोचते हैं कि इस देह को ले जाकर फूँक दिया जाय। कि नाड़ी की गति में विकार होते ही सगे-सम्बन्धी परेशान होने लगते हैं तथा :-

फौरन डॉक्टर वैद्य बुलावे, चाबी इन्जेक्शन लगवावे।

टन-टन बजे सुने धर कान, चले तब तक ही अच्छा जान!

जिस प्रकार घड़ी में टिक-टिक की आवाज बन्द होती ही लोग चाबी भरते हैं तथा कान लगाकर उसकी टिक-टिक की आवाज ध्यान से सुनते हैं, उसी प्रकार शरीर-स्थित नाड़ी में फर्क आते ही शोर-गुल मचता है - 'डॉक्टर लाओ, वैद्य को बुलाओ या कि हकीम साहब को दिखलाओ!'

डॉक्टर आते ही इन्जेक्शन रूपी चाबी फेंते हैं, और बार-बार नब्ज व हार्ट देखते हैं कि शरीर में कितनी गर्मी है या कि हार्ट की क्या स्थिति है?

आपको ध्यान ही होगा कि जब डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं, उस समय बड़ी सावधानी से एक डॉक्टर नाड़ी पर हाथ रखता है, दूसरा सांस कैसे चल रही है इसका ध्यान रखता है तथा अन्य डॉक्टर ऑपरेशन करते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि नाड़ी के ठपके का महत्त्व बहुत ही अधिक होता है और डॉक्टर वैद्य के आते ही आशा बंध जाती है। कि अब यह शरीर-रूपी घड़ी पुनः चालू हो जाएगी। इसके विषय में आगे कहा गया है :-

अंगन असन पान की लगती तब यह बहुत मजे से चलती

होता सब को हर्ष महान् चले तब तक ही अच्छा जान।

जब घड़ी खराब हो जाती है तो घड़ीसगज उसके सब कल पुर्जे अलग-अलग करके उसकी सफाई करता है कचरा, कूड़ा हो तो निकलता है तथा पुर्जों में तेल देता है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी घड़ी में भी अन्न और पानी देने पर यह आनन्द से चलती है। सन्त कबीरदास जी ने भी यही बात कही है :-

कबीर काया कूतरी, करत भजन में मंग।

ताको टुकड़ा डारि के, जप-तप करो अभंग॥

इस शरीर को कबीर जी ने तो कुतिया की ही उपमा दे दी है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार कुतिया को खाने के लिए नहीं डालो तो वह भौंकती रहती है, और रोटी का टुकड़ा डाल दिया जाय तो शान्त हो जाती है। इसी प्रकार इस शरीर को अगर खुशक नहीं दी जाय तो यह भी शान्ति से भजन नहीं करने देता। अतः उचित यही है कि इसे थोड़ा खाना देकर उमंग सहित जप-तप करो। थोड़ा अन्न लेने पर ही यह प्राणी को बेफिन्न होकर भजन-भाव करने दे सकता है।

अन्त में कवि ने कहा है :-

जब तक ठीक टाइम ये कैरी, अपनी सुधार नर तन खेती।

देता चौधमल यह ज्ञान। गले जब तक ही अच्छा मान।

कविता के अन्त में मुख्य बात बताई गई है, जिसे समझना और उसके अनुसार प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी को आचरण करना आवश्यक है। कवि ने कहा है 'यह मानव शरीर रूपी घड़ी जब तक ठीक चल रही है अपनी खेती सुधारनी है तो सुधार लो। अर्थात् जब तक यह शरीर चलता है, इससे शुभ-कर्मों का उपार्जन करो। अन्यथा कच्चा घड़ा जिस प्रकार तनिक सी ठेस लगते ही फूट जाता है तथा उसमें भरा हुआ जल बह जाता है। उसी प्रकार शरीर रूपी घड़े के नष्ट होते ही आयुष्य-रूप जल समाप्त हो जाता है।

इसलिए अपने इस अमूल्य मानव-भव का एक क्षण भी बुद्धिमान व्यक्ति को व्यर्थ में नहीं खोना चाहिये। जो व्यक्ति इस बात को समझ लेते हैं वे अपने जीवन को सार्थक करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देते हैं। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि -

“शरीरमाद्यं ऽत्रु धर्मसाधनम्।”

यह शरीर धर्म का साधन है।

इसीलिये सुज्ञ-पुरुष अधर्म अथवा पाप के निमित्त इसका उपयोग नहीं करते। वे अपने विवेक को जागृत रखते हैं तथा आत्मा की अनन्त शक्ति पर विश्वास रखते हुए दान, भक्ति, ज्ञान, योग, तपस्य और सदाचार आदि साधना के जितने भी साधन हैं, उन सबका उपयोग करते हुए अपने गंतव्य की ओर बढ़ते हैं। परिणाम यह होता है कि कालांतर में वे निश्चय ही अजर-अमर पद को प्राप्त होते हैं तथा शाश्वत सुख में स्मरण करते हैं।

• • •

[१४]

अनमोल सांसें...

धर्मप्रीमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

श्री सत्यप्रसेनी सूत्र में सूर्याभ देवता अर्थात् आभियोगिक - चाकर देवताओं को हित-शिक्षा देते हैं - 'भगवान महावीर प्रभु की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें विधि सहित वंदना करो और वहाँ जो भी आवश्यक हो, प्रमुचित व्यवस्था करो।'

हंस का कारागार

जिस प्रकार सूर्याभ देवता अपने आभियोगिक देवताओं को हित-शिक्षा देते हैं, उसी प्रकार सन्त-महात्मा मोह-जाल में फंसे हुए संसारी जीवों को हित-शिक्षा देते हैं। वे बार-बार यही कहते हैं : - 'भाइयो! मानव-शरीर पाया है तो कुछ करनी करलो। जाना तो निश्चित ही है, यहाँ छड़ना नहीं है। यह शरीर नश्वर है। आत्मा एक यात्री के समान इस शरीर-रूपी साराय में आकर ठहरता है और समय होते ही पुनः प्रयाण कर जाता है। इसलिये इसकी स्थिरता पर विश्वास न करते हुए, जब तक यह विद्यमान है कुछ लाभ उठा लेना चाहिये।' महामानव पूज्यपाद श्री अमीरक्षि जी महाराज ने भी प्राणियों को उद्बोधन किया है :-

ऐसे हो सयाने प्रीति ठाने या शरीर साथ,
जाने नहीं पथ के बटाउ सग वासा है।
पातक में राचि के गमावत वृथा ही रह,
रतन अमोल जैसा एक एक स्वासा है।
परम धरम यह तिरने के दाव शुभ,
नीठ करी पायो ज्यों जुआरी का-सा पासा है।
कहे अमीरिख नर देह को भरोसो कहाँ,
पानी में बतासा जैसा तन का तमासा है।

कहते हैं - अरे सयाने बन्धु! इस शरीर के साथ इतनी प्रीति क्यों रखते हो? तुम जानते नहीं हो क्या, कि इस शरीर में आत्मा का एक राहगीर के समान क्षणिक निवास है। इस अशुचि के भण्डार में मोहित होकर तू अनमोल रत्न के समान अपने एक-एक श्वास को वृथा क्यों खो रहा है?

बन्धु, तनिक विचार करो कि रक्त, माँस, मज्जा तथा हड्डी जैसी किस किस प्रकार की अशुद्ध चीजों से इसका निर्माण हुआ है और किस प्रकार इसमें

भी प्राणों का आविर्भाव हुआ है। यह सोजना ही विवेक का सार है।

श्री अमीरुद्दीन जी महाराज इन्हीं बातों की ओर ध्यान दिलाते हुए आगे कहते हैं — जुआरी व्यक्ति के फेंके हुए पासों के समान तथा जल में डाले हुए बतासों के समान ही इस तन का भी तमाशा है। अर्थात् जुआरी के फेंके हुए पासे जिस प्रकार अधिक देर एक ही स्थिति में नहीं रहते, तथा जल में डाले हुए बतासे भी टिक नहीं सकते। इसी प्रकार यह देह भी कब तक टिकेगी, कोई भरोसा नहीं है। अतः इसे संसार-सागर से तैरने का एकमात्र साधन मानकर जितना शीघ्र हो सके, इसका उपयोग करलो!

संतों का एकमात्र यही उपदेश है। उनके पास जाने पर आपको यही हितशिक्षा मिलेगी। क्योंकि वे त्यागी हैं तथा ब्रह्मा ही उनका आदर्श है। वे भली-भाँती जानते हैं कि :—

“स्वयं त्यक्ता हृति शमसुखमननं विदधति।”

—योगशास्त्र

इन सांसारिक भोगों का धपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य जैसे व्यक्ति के पास जायगा उससे वैसी ही प्रेरणा मिलेगी। भोगी व्यक्ति के पास जाने से ऐश-आराम की, आलसी के पास जाने से पुरुषार्थ-हीनता की, चोर के पास जाने से चोरी की, तपस्वी के समीप जाने से तपस्या की, त्यागी के संसर्ग से त्याग की और ज्ञानी के पास पहुँचने पर ज्ञान हासिल करने की प्रेरणा मिलती है।

मुझे कहना यह है कि मनुष्य को अपने विवेक से समझना चाहिए कि मेरा हित किसमें है? इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान के द्वारा ही विवेक जागृत होता है तथा मनुष्य अच्छाई और बुराई में रहे हुए अन्तर को समझ सकता है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति अपना बुरा-मला नहीं सोच सकता तथा पशुओं के समान जीवन-यापन करता हुआ भव भ्रमण करता रहता है। कहा भी है :—

“अविद्या जीवनं शून्यम्।”

— जो जीवन विद्या से रहित है वह शून्य के समान है।

‘पातंजलि छन्द सूत्र’ में भी अज्ञान से होने वाली हानि को बताते हुये ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रेरणा दी गई है। लिखा है :—

अर्द्धांगुल-प्रीणाह जिह्वाग्रायास-धीरवः।

सर्वांगीण परिक्रेशमबुधाः परिकुर्वते॥

पद्य का भावार्थ है — जो भीरु अर्थात् डरपोक व्यक्ति ज्ञान सीखने के लिये आधे अंगुल की जबान हिलार्ग में आलस्य करते हैं, उन्हें आगे जाकर साढ़े

तीन हाथ के शरीर को हिलाना पड़ता है। अर्थात् कड़ा परिश्रम करना पड़ता है जिससे पूर्ण शरीर को कष्ट होता है।

आप देखते ही हैं कि जो बालक प्रास्म से ही ज्ञानार्जन में रुचि रखते हैं तथा मनोयोग से ज्ञान-लाभ करते हैं वे आगे जाकर उँची पदवियाँ प्राप्त करते हैं तथा कुर्सियों और सोफों पर आनन्द से बैठकर जीवन-यापन करते हैं। किन्तु जो बालक बचपन में ही पढ़ने से जी चुराते हैं, स्कूल से भाग जाया करते हैं या अविनय और उद्वेगता से निकाल दिये जाते हैं, उन्हें बड़े होने पर खेतों में भी मजदूरी करनी पड़ती है। इसलिये ज्ञान सीखने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। संत तिरुवल्लुवर का कथन है —

“आलस्य में दसिद्रता का वास है, मगर जो आलस्य नहीं करता उसके परिश्रम में कमला (लक्ष्मी) बसती है।”

भर्तृहरिने भी आलस्य को मनुष्य का शत्रु माना है :—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।

नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति॥

— आलस्य ही मनुष्य के शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा शत्रु है, और उद्यम के समान मनुष्य का कोई बन्धु नहीं है जिसके करने से मनुष्य दुखी नहीं होता।

तो बन्धुओ, जब किताबी ज्ञान-प्राप्ति में आलस्य करने से भी परिणाम कष्ट कर और बुरा निकलता है तब धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने में आलस्य करने से तो कितना अनिष्ट होगा इसकी आप स्वयं ही कल्पना कर सकते हैं। धार्मिक ज्ञान मनुष्य के विवेक को जागृत करता है, उसकी रुचि सदगुण-संचय की ओर बढ़ाता है। तथा मनुष्य में आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक आदि के रहस्य को समझने की जिज्ञासा पैदा करता है। मनुस्मृति में कहा गया है :—

“ज्ञानेन कुरुते यत्नं बल्येन प्राप्यते महत्।”

ज्ञान की प्रेरणा से ही आत्म-विकास के मार्ग में प्रयत्न, यत्ति करता है और उसी के परिणामस्वरूप ईश्वरत्व रूप महान् फल की प्राप्ति हुआ करती है।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञान हासिल करने में प्रमाद नहीं करना चाहिये। इस संसार में एकमात्र सम्यक्ज्ञान ही आत्मोद्धार में सहायक बनता है। जब सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो आत्मा में विवेक की जागृति होती है और प्राणी स्वयं ही सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाता है। उनका उपयोग करता हुआ भी वह उनमें आसक्त नहीं रहता, अनासक्त भाव रखता हुआ अपने कर्मों की निर्जरा करता रहता है। भोग-विलासों में उसे तनिक भी रुचि नहीं रहती, वह प्रतिफल उस क्षण की प्रतीक्षा किया करता है जिस क्षण वह इस संसार से मुक्त होगा।

यह सब सम्यक् ज्ञान की बदौलत ही हो सकता है। अतः कहा गया है :—

संसार सागरं घोरं, तर्तुभिच्छति यो नः।

ज्ञान-नावं सभासाद्य, पारं याति सुखं सः॥

—जो मनुष्य इस घोर संसार-सागर को पार करना चाहते हैं, उन्हें ज्ञान रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए। क्योंकि प्रकृतात् ज्ञान ही सुखपूर्वक मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है।

संक्षेप में सम्यक्ज्ञान ही कालांतर में मनुष्य को संसार मुक्त कराने वाला साधन है। ज्ञान प्राप्त किये बिना जन्म-मरण की वेदनाओं से कभी नहीं बचा जा सकता। भगवद् गीता में भी कहा है —

“नहि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमेह विद्यते।”

— संसार में ज्ञान के समान पवित्र पदार्थ और दूसरा कोई नहीं है।

अतः प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी को ज्ञानोपासना करनी चाहिये। ज्ञानप्राप्ति करने पर ही वह अपनी अन्य क्रियाएँ सम्यक् रूप से सम्पन्न कर सकता है। ‘दशवैकालिक सूत्र’ में यही कहा है :—

“पदमं नाणं ततोऽप्य।”

— पहले ज्ञान प्राप्त करो, तत्पश्चात् आचरण में उतारो।

बन्धुओ, एक बात और ध्यान में रखने की है कि ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता। आत्मा में उसका अक्षय-कोष विद्यमान रहता है। केवल उसे प्रकाश में लाने की तथा अभिव्यक्त करने की आवश्यकता होती है जिसमें हमारे शास्त्र एवं गुरु सहायक बनते हैं। ज्ञान का उपादान कारण व्यक्ति की आत्मा स्वयं ही है। अगर उसमें ऐसी शक्ति न होती तो लाख निमित्त मिलने पर भी उसमें ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जिस प्रकार पत्थर अथवा काष्ठ आदि जड़ पदार्थों में अनन्त काल तक प्रयत्न करने पर भी ज्ञान का दीप नहीं जलाया जा सकता। आत्मा स्वयं ही ज्ञानमय है तथा अपरिमित चेतना की अधिकारिणी है।

इसी चेतन को सम्बोधित करके एक कवि के शब्दों में ‘सुमति’ कहती है :—

चेतन धरके अब ध्यान, जरा पढ़ले तू ज्ञान,

जिससे बने इन्साफ, कहे सुमति सखि॥

संस्कृत में ‘चिति संज्ञाने’ एक धातु है जिसका अर्थ है — सम्यक् प्रकार से जानने व समझने वाला चेतन। इसे ही सुमति ने कहा है — हे चेतन! अज्ञान दशा में तो अनन्त काल बीत गया। चौरसी रुक्ष योनियों में भटकते-भटकते बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य-शरीर मिला है। इस बीच में जीव को कितना कष्ट सहन

करना पड़ता होगा इसका वर्णन करना संभव नहीं है।

असंख्य पाप-कर्मों का बंध करके जब जीव नरक में जाता है तो वहाँ पर उसे अत्यन्त दीन और हीन बनकर नाना प्रकार की असह्य यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। उस जीवन का वर्णन सुनकर ही रोमांच हो उठता है कि किस प्रकार नारकीय जीवों के शरीर का छेदन-मदन किया जाता है तथा लाख बिलखने पर भी अन्न-पानी नहीं मिलता। कवि दौलतराम जी ने अपनी छहदाला की पहली ढाल में लिखा है —

सेमर तरु जुत दाल असि पत्र, असि ज्यों देह विदारें पत्र।

मेरु समान लोह गति पाई, ऐसी शीत उष्णता थाई।

तिल-तिल करें देह के खंड, अङ्गुर भिड़ावें दुष्ट प्रचंड।

सिंधु नीरों प्यास न जाय, तो गण एक न बूँद लहाय।

और तो और नरक में जो सेमल के वृक्ष होते हैं, उनके पत्ते भी तलवार की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। उन पत्तों के गिरने से भी तलवार के घाव की तरह चोटें लगा करती हैं। कहते हैं कि वहाँ इतनी तीव्र गरमी होती है कि मेरु के समान लौह भी हो तो पिघल जाय। उसे भी नारकीय जीवों को सहन करना पड़ता है।

वहाँ रहने वाले असुर, शरीरों के तिल के समान छोटे छोटे टुकड़े कर डालते हैं या आपस में ही एक-दूसरे को भिड़ा-भिड़ा कर घोर कष्ट देते हैं। प्यास इतनी तीव्र लगती है मानों सारे सागर का जल पी लेवें तो भी शांत न हो किन्तु मिलता एक बूँद पानी भी नहीं।

नरक में जीव को ऐसी असह्य यातनाएँ सहन करनी होती हैं। पर वहाँ से निकलकर भी दुखों से छुटकारा मिल पाता हो, ऐसी बात नहीं है। कहते हैं

निकल नरक से कभी जीव तिर्यच योनि में आता,

वध बन्धन के भार-वहन के कष्ट कोटिशः पाता।

एक श्वास में बार अठारह जन्म-मरण करता है,

आपस में भी एक दूसरा प्राण इरण करता है।

किसी प्रकार जीव नरक से निकल भी जाता है तो तिर्यच योनि में जा फँसता है, तथा गधा, घोड़ा या बैल बनकर शक्ति से अनेक गुना अधिक भार ढोता रहता है, मारा-पीटा जाता है और अनेक बार तो बलिदान का बकरा बनकर प्राण-त्याग करता है। असंख्य अवस्था में तो वह एक ही श्वास में करीब अठारह बार भी जन्म और मरण के दुःख भोगता है।

तो 'सुमति' चेतन से यही कह रही है कि तुझे अज्ञानदशा के कारण चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते और असह्य कष्ट सहते हुए अनन्तकाल व्यतीत

हो गया है। अब तो इस मानव - भव में कुछ लाभ उठा। पर लाभ मिलेगा कैसे? जब ज्ञान हासिल करेगा। ज्ञान प्राप्त करने से ही इन्सान सच्चा इन्सान बन सकता है। अन्यथा आकार से तो सभी इन्सान हैं ही।

बंधुओ, इस चेतन-आत्मा के समझ में, दो पलियाँ हैं। एक 'सुमति' और दूसरी 'कुमति'। इन दोनों के कार्य और परिणाम आप जानते ही हैं। तुलसीदास जी ने भी इनके विषय में लिखा है —

जहाँ सुमति तहाँ सम्पति नाना
जहाँ कुमति तहाँ विपति निदाना।

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होंगे। जहाँ सुमति का प्रभाव होता है, वहाँ सभी प्रकार की सुखकर उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और जहाँ कुमति का कुप्रभाव होता है वहाँ नाना प्रकार की विपत्तियों का ही साम्राज्य बना रहता है। दोनों ही स्त्रियाँ चेतन पर अधिकार जमाने की फिस्क में रहती हैं। जब जिसका दाँव लगता है अपनी सत्ता जमा लेती हैं। मारा संसार ही सुमति और कुमति के प्रपंच में पड़ा हुआ कभी सुख और कभी दुःख का अनुभव करता रहता है।

कुमति चेतन को सौंसारिक प्रपंचों में फंसाती है, उसे विषय-भोगों की ओर उन्मुख करती हैं तथा कुमार्ग पर अग्रसर करके उसके जन्म-मरण को बढ़ाती हैं। किन्तु सुमति अर्थात् सद्बुद्धि ऐसा नहीं करती। वह आत्मा को हित-शिक्षा देती है। उसे जन्म और मरण के दुखों का भय बताती हुई इससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करने को कहती है। वह तो —

तेरा होगा तरण, ऐसी देती है मलाह।
लेले मोक्ष किला, नहीं आवागमन॥

कितनी सुन्दर सीख है? सुमति कब कहना है कि कुमति के कहने पर मत चलो! मैं इसलिये यह बात नहीं कह रही हूँ कि वह मेरी सौत है, वरन्, इसलिये कहती हूँ कि तुम्हें संसार से मुक्त होने पर अक्षय सुख मिल सकेगा और तुम्हारे सुख में ही मेरा सुख है। मेरी यही कामना है कि तुम मोक्ष-रूपी किले का साम्राज्य प्राप्त करो और वहाँ सुख से रहो।

सुमति को चेतन से असीम स्नेह है। इसीलिये वह बार-बार कहती है — ऐसी करनी करो, जिससे मुक्ति-नगर में जा सको और पुनःपुनः जन्म मरण न करना पड़े। आवागमन का झंझट ही समाप्त हो जाय। उसका कहना है :—

मिले सुख आठों याम, यह तो मुक्ति का है धाम।
तेरा होवे सब काम, मेरी मान, मान, मान!

अर्थात् मोक्ष-धाम में आठों प्रहर सृष्टि ही सुख है। दुःख का नामोनिशान भी वहाँ नहीं। अनन्त सुख का साम्राज्य वहाँ फैल हुआ है।

आप जानते ही होंगे कि मनुष्य के सुखों से देवताओं का सुख अनन्त गुना तथा देवताओं के सुख से सिद्धों का सुख अनन्त गुना अधिक है। इसलिये मुक्ति-धाम पहुँचो, जहाँ सब कार्य सिद्ध हो जावें।

इस संसार में तो सैंकड़ों आकण्ठ और बन्धन हैं। माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी और बेटे पोते हैं। उन सबके पालन-पोषण का प्रबंध करना होता है। मकान नहीं बन पाया इसकी चिन्ता रहती है। व्यापार में नफ़ा-नुकसान होता है उसकी फिक्र होती है। सारा जीवन इन्हीं सब समस्याओं को सुलझाने में बीत जाता है और जब अन्त-समय आता है तब पश्चात्ताप होता है तथा भगवान की याद आती है। उस समय प्राणी कहता है :—

नर-देह पायो पै कमायो ना धर्म लाभ,
कीनो न उपाय भव सिन्धु के तरन को।
सोय के गमाई निशि, काग में बितायो दिन,
लागो उद्वेग हृदय! उदर भरन को।
कहे अभीरिख कूर काजार् अकाज ठान,
धार्यो ना धरम भव भीति के हरन को।
पर्यो मझधार अब कीजे का विचार नाथ,
मोको तो भरोमो हड़ राखे चरण को।

क्या सोचता है मनुष्य? यही कि, 'मनुष्य-जन्म पाकर भी मैंने धर्म-कार्य कुछ भी नहीं किया। कोई भी प्रयत्न इस संसार-सागर से पार उतरने के लिये नहीं कर सका। जीवन के सभी सुनहरे दिन काम-धन्धा करने में और रात्रियाँ सोकर गुजार दीं। रात-दिन पेट भरने की समस्या में ही उलझा रहा।

कार्य कुकार्य का मुझे कुछ भी भान नहीं रहा। सभी कुछ करता गया। नहीं किया तो केवल भव-भ्रमण से बचने का उपाय। उसका मुझे डर नहीं रहा और इसीलिये मैंने धर्म को नहीं अपनाया। पर अब मैं क्या करूँ? मेरी नाव मझधार में पड़ी है। हे भगवान! अब मुझे आपका ही भरोसा है, आप ही मेरा उद्धार करो!"

तो सुमति चेतन को इसीलिये बार-बार समझाती है कि तुम पहले ही चेत जाओ, ताकि अंत-समय में फिर पश्चात्ताप न करना पड़े। वह भिन्न-भिन्न प्रकार से चेतन के विवेक को जागृत करने का प्रयत्न करती है, तथा सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने का आग्रह जारी रखती है।

ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन :

ज्ञान की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है ऐसा एक सुभाषित में कहा गया है :—

विनयेन विद्यां ग्राह्यं, पुष्कलेन धनेन च ।
अथवा विद्यया विद्या, चतुर्थं नैव कारणं ॥

ज्ञान प्राप्त करने के पद्य में तीन साधन बताए गए हैं। उनमें से पहला है विनय के द्वारा गुरु को प्रसन्न करके विद्या प्राप्त की जा सकती है।

दूसरा उपाय है 'धन'! जिस व्यक्ति को विनय धारण करना कठिन जान पड़ता है तथा गुरु की सेवा-भक्ति करने में उसे अपनी हेठी मालूम होती है, वह वेतन द्वारा शिक्षक रखकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इनके अलावा तीसरा साधन है — अपनी कोई कला अथवा किसी भी प्रकार की विद्या जो भी आती हो, उसे दूसरे को सिखाकर बदले में ज्ञान हासिल करना।

पद्य में कहा है कि विद्या-प्राप्ति के ही तीन कारण हैं, इनके अलावा और कोई साधन नहीं है। अब हमें यह देखना है कि इन साधनों में से कौनसा साधन उत्तम है, अर्थात् किस साधन के द्वारा सम्यक्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है?

सर्वोत्तम साधन :

ज्ञान प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है — विनय के द्वारा गुरु से ज्ञान हासिल करना। सच्ची सेवा और भक्ति के द्वारा गुरु को संतुष्ट करके उनसे ज्ञान-दान लेना ही उत्तम है।

हमारी भारतीय संस्कृति गुरु को बड़ा भारी महत्त्व देती है। क्योंकि सचे गुरु निस्वार्थ भाव से अपने शिष्यों को आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ज्ञान देकर उनके तीनों प्रकार के कष्टों का नाश करते हैं। अपनी सदुपदेश - रूप औषधि के द्वारा आत्मा के विषय-विकार रूपी रोगों को दूर करते हैं। उनके हृदय में अपने ज्ञान-दान का प्रतिपादन पाने की इच्छा नहीं होती। वे अपने विषय को सचा 'मनुष्य' बना देने की इच्छा रखते हैं।

ऐसे गुरु अपने शिष्य की सेवा-भक्ति में संतुष्ट होते हैं तथा हृदय से ज्ञान प्रदान करते हैं। आवश्यकता है शिष्य के विनयज्ञान होने की। अविनीत और कटुभाषी शिष्य गुरु को असंतुष्ट कर देता है और ज्ञान-लाभ भी वंचित रह जाता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है —

अणासवा शूलवया कुस्रीला, भिउंयि वंडं पकरंति सीसा ।
चित्ताणुया लहुदक्खोववेया, पसायणं हेहु दुरासयंयि ॥

अर्थात् गुरु की आज्ञा को नहीं मानने वाले, कठोर वचन बोलने वाले, दुष्ट तथा अविनीत शिष्य, शान्त स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। किन्तु गुरु की इच्छानुसार चलने वाले तथा गुरु की आज्ञा का अविलम्ब पालन

करने वाले विनीत शिष्य निश्चय ही अपने गुरु को, चाहे वह उग्र स्वभाव वाले ही क्यों न हों, शान्त व प्रसन्न कर देते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि शिष्य को अत्यन्त विनय के साथ गुरु की सेवा-भक्ति करते हुए उनसे ज्ञान लेना चाहिए। गुरु को प्रसन्न रखते हुए अगर वह दो शब्द भी ग्रहण करेगा तो वे उसके जीवन में आत्मोन्नति के हेतु बन जाएँ। गुरु की सेवा-भक्ति करने में शिष्य को किसी प्रकार की शर्म या झिझक नहीं होनी चाहिये। लज्जा हो भी किस बात की? प्राचीन काल में तो बड़े-बड़े राजकुमार और दरिद्र से दरिद्र के पुत्र भी जंगलों में गुरुओं के आश्रम में रहकर अध्ययन करते थे। आपने पढ़ा भी होगा कि सदीप ऋषि के आश्रम में कृष्ण और सुदामा साथ-साथ पढ़ते थे तथा समान रूप से गुरु की सेवा-भक्ति करते थे। जिस आनन्द से वे ज्ञानाभ्यास करते थे उसी आनन्द के साथ जंगल से अपने गुरु के लिये लकड़ियों काट कर लाया करते थे। बड़े छोटे छा कोई भी अन्तर उनके हृदयों में नहीं था।

ऐसी भक्ति और विनय के साथ जब गुरु से ज्ञान प्राप्त किया जाता है तो वह ज्ञान व्यक्ति को आत्म-विकास के मार्ग पर बढ़ाता है तथा मुक्ति का हेतु बनता है तथा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करना ही ज्ञान-प्राप्ति का सबसे उत्तम साधन है।

ज्ञान-लाभ का माध्यम साधन

ज्ञान-प्राप्ति का दूसरा साधन ण्ड में बताया गया है। धन के द्वारा ज्ञान हासिल करना। यह कार्य मध्यम है। वेतन देकर जो शिक्षक रखे जाते हैं वे आंतरिक स्नेह और रुचि से छात्र को विद्याभ्यास नहीं करा पाते। क्योंकि उनका उद्देश्य छात्र को ज्ञानवान और सद्गुण सम्पन्न बनाने का ही नहीं होता, बरन अर्थ प्राप्ति का भी होता है।

हम देखते ही हैं कि आज स्कूलों में वेतन लेने वाले शिक्षक रखे जाते हैं वे आंतरिक स्नेह और रुचि से छात्र को विद्याभ्यास नहीं करा पाते। क्योंकि उनका उद्देश्य छात्र को ज्ञानवान और सद्गुण सम्पन्न बनाने का ही नहीं होता, बरन अर्थ प्राप्ति का भी होता है।

हम देखते ही हैं कि आज स्कूलों में वेतन लेने वाले शिक्षक जो शिक्षा छात्रों को देते हैं, वह उनके जीवन को सच्चा जीवन नहीं बना पाती। दूसरे शब्दों में उन्हें सच्चा मानव नहीं बनाती। उनकी प्राप्ति की हुई शिक्षा केवल अर्थ-प्राप्ति का साधन बन सकती है मुक्ति-प्राप्ति में सहायक नहीं बन पाती। कारण यही है कि स्कूलों और कॉलेजों में छात्रों को अनुशासन, गैरिष्टाचार, विनय, सेवा-भावना, कर्तव्य-परायणता तथा सदाचार का पाठ नहीं पढ़ाया जाता, उनके चरित्र-निर्माण और नैतिकता पर जोर नहीं दिया जाता। इसीलिये आज के छात्र उद्दण्ड व अविनयी बन जाते हैं

तथा विनय और नैतिकता के अभाव में उनका जीवन शून्य होकर रह जाता है।

• इस प्रकार धन के द्वारा प्राप्त की हुई शिक्षा या ज्ञान, मनुष्य को समुचित लाभ प्रदान नहीं करा पाता, अतः धन ज्ञान-प्राप्ति का मध्यम मार्ग कहा जा सकता है।

तृतीय और लाभ रहित साधन

सुमाहित में ज्ञान-प्राप्ति का तीसरा साधन भी बताया गया है। वह है अपनी विद्या देकर दूसरों से विद्या प्राप्त करना। यह तरीका लेने वाले और देने वाले, दोनों की अत्यन्त स्वार्थपरता का द्योतक है। 'तुम मुझे कुछ दो तभी मैं तुम्हें दूँगा' यह भावना निकृष्टता की पहचान कराती है। इस तरीके से ज्ञान प्राप्त करने पर जीवन नहीं बनता और इस प्रकार ली हुई शिक्षा आत्मोन्नति का हेतु नहीं बन सकती।

सच्ची शिक्षा और सच्चा ज्ञान वही है, जिससे सर्वप्रथम जीवन में विनयगुण का आविर्भाव हो। विनय-गुण के द्वारा ही क्रमशः अन्य अनेक लाभ होते हैं।

विनय के द्वारा मनुष्य क्रोधी से क्रोधि व्यक्ति को भी शांत और नम्र बना सकता है।

मुझे गालियाँ देना!

एक संत बड़े ही नम्र स्वभाव के थे तथा सर्वदा लोगों का भला करने में तत्पर रहते थे। किन्तु कुछ दुष्ट व्यक्ति उन्हें अकारण ही तकलीफ दिया करते थे।

एक दिन एक दुर्जन व्यक्ति उनके पास आकर उन्हें बुरा-भला कहने लगा। संत ने अत्यन्त स्नेह-पूर्वक उसे समझाने का प्रयास किया किन्तु वह नहीं माना और गालियाँ देने पर उतारू हो गया।

कुछ देर पश्चात् सन्त वहाँ से उठकर अपने घर की ओर खाना हुए। किन्तु उस कटु-भाषी युवक ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वह भी गाली देता हुआ उनके पीछे-पीछे चला आया। जब सन्त की कुटिया आ गई तो सन्त ने उससे कहा — 'माई, तू अब मेरे घर पर ही रह जा ताकि तुझे गालियाँ देने के लिये चलकर इतनी दूर न जाना पड़े।

यह व्यक्ति सचमुच ही वहाँ रहने के लिये तैयार हो गया। किन्तु थोड़े से समय वहाँ रहकर जब उसने सन्त का उच्च जीवन देखा तो अपने स्वभाव पर उसे बड़ी शर्मिन्दगी आई। परिणामस्वरूप वह वही रहकर सन्त की सेवा करने लगा।

एक दिन सन्त ने उससे कहा — 'माई, अब तू अपने घर जा।'

व्यक्ति ने उत्तर दिया — 'नहीं माधवन्! मुझे यहीं पर आपकी सेवा में

रहने दीजिये।”

सन्त बोले — “अच्छा तेरी इच्छा हो तो खुशी से रह, पर एक शर्त है : वह यही कि जब मैं कुछ बुरा कार्य करूँ, तब मुझे गालियाँ दिया करना।”

यह सुनकर व्यक्ति पानी-पानी हो गया। तथा सन्त के चरणों में लोट गया। नियम तथा नम्रता का ऐसा ही चामत्कारिक प्रभाव होता है। जीवन में अगर यही एक गुण आ जाय तो अन्य अनेक गुणों का स्वयमेव आविर्भाव हो जाता है।

‘दशवैकालिक सूत्र’ के नवें अध्ययन में भी कहा है —

मूलाउ खंधप्यभवो दुमस्स,
खंधाऊ पच्छा समुत्तिहे साहा।
साहप्यसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो य

श्लोक में बताया है कि वृक्ष की जड़ मजबूत होनी चाहिए। जड़ मजबूत होने पर ही उसमें तना, शाखा, प्रशाखाएँ, पत्ते, फूल और फिर मधुर रस वाले फल लगेंगे।

इसी प्रकार विनय-गुण मजबूत और दृढ़ होने पर उसमें सद्गुण रूपी फूल धीरे-धीरे लग जायेंगे अर्थात् जीवन में अन्य सद्गुणों का आविर्भाव होगा। अन्य श्लोक में भी कहा गया है :—

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परांमे से मुक्खो।
जेण किंतिं सुयं, सिग्घं, नीसेसे चाभिगच्छई॥

धर्म-रूपी वृक्ष का मूल विनय है। और उसका आखिरी फल मोक्ष है। जो व्यक्ति विनय के द्वारा श्रुत-ज्ञान को हृदयंगम कर लेता है, आवागमन को निःशेषकर मोक्ष-पद को प्राप्त कर लेता है।

इसीलिए सुमति सखि चेतन से कहती है — कि ‘तुम ज्ञान हासिल करो। अगर सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लोगे तो धीरे-धीरे तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा। सुमति कहती है — मुझे उस दिन सच्चा संतोष होगा जिस दिन तुम यह कहोगे :—

जा दिनतें वाणी जिनराज की प्री है करन,
ता दिनतें मेरे उर ज्ञान बोध जागो है।
लगत अनित्य धन धाम काम काम आदि,
जग को स्नेह हियरां मैं भूरि भागो हैं।
भयो में वैरागी अभिलाषी ज्ञान आत्म को,
शिवपद साधवे में, मी मन लागो है,
अब तो अधीन लीन, भयो जिना धरम में,
अमीरिख याते देह ने सब त्यागो है।

सुमति चेतन को किस अवस्था में रखना चाहती है? उस विस्तारवस्था में जब वह कहने लग जाय कि जिस दिन ते जिनराज की वाणी मेरे कानों में पड़ी है, उस दिन से ही मेरे हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ है।

मुझे यह भवन, धन सांसारिक कार्य आदि सब व्यर्थ मालूम होता है। तथा मेरे हृदय से सांसारिक बन्धनों का तथा समाप्त सम्बन्धियों का स्नेह भाग गया है, अर्थात् विलीन हो गया है।

अब तो मेरा मन संसार से विरक्त और आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है तथा मोक्ष-मार्ग की साधना करने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है। मेरी आत्मा जिन-धर्म की आराधना में लीन होना चाहती है। इसीलिए संसार का तथा शरीर का मोह मुझे नहीं रहा है। मैंने संसार के प्रति आसक्ति को त्याग दिया है।

बंधुओ, जब ऐसी ही स्थिति हमारी हो जाय, तब समझना चाहिए कि हमें सच्चा मार्ग दिखाई दिया है। हमारे लिए जीवन में सुख और दुख समान हो जाने चाहिए तथा मान और अपमान एक जैसे लगने चाहिए।

ईश्वर को धन्यवाद

सन्त उसमान हेरो किसी गली से जा रहे थे कि एक मकान के झरोखे में से किसी ने उन्हें देखे बिना ही ऊपर से राख डाल दी। राख सन्त उसमान के सिर पर ही गिरी। हेरी ने राख झाड़ते हुए आकाश की ओर देखा और कहा

‘दयालु भगवन्! तुम्हें धन्यवाद है।’

एक आदमी ने यह देखकर पूछ लिया — “महाराज! इसमें ईश्वर को धन्यवाद देने की क्या बात है?”

सन्त बोले - “भाई! मेरे जैसा पग्ली तो आग में जलाने लायक होता है। किन्तु उस रहम दिल ने तो मुझे राख से ही निपटा दिया।” प्रत्येक मोक्षाभिलाषी को इसी प्रकार आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए आत्मा की अनन्त शक्ति को जगाना चाहिए तथा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करते हुए निरासक्त भाव से साधना पर बढ़ना चाहिए। तभी एक दिन यह आकगमन नष्ट करके शिवपुरी में पहुँचा जा सकेगा।

[५५]

अब थारी गाड़ी हँकबा में

धर्म प्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों!

चौरासी लक्ष जीव-योनियों में मानव-योनि सर्वश्रेष्ठ कहलाती है। यह मानव देह बार-बार नहीं मिलती। नाना योनियों में भटकने के पश्चात् महान पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप यह मानव-जीवन प्राप्त होता है। कहा भी है —

हैं इस लोकाकाश के, संख्यातोत प्रदेश।

जन्म-मरण कर जीव ने, हुआ न कौन प्रदेश ?

एक जगह पर जीव है, जन्मा बार अनन्त।

मरा अनन्ती बार है, कहते ज्ञानी सन्त ॥

मानव-जीवन एक जंक्शन

सुनकर आपको थोड़ा आश्चर्य होगा कि मानव जीवन जंक्शन कैसे होगा ? हम रेलगाड़ियों में बैठकर जाते हैं तो अवश्य अनेक स्टेशन और जंक्शन आते हैं पर मनुष्य-जीवन जंक्शन कैसे हुआ ? है न यही बात आपके मन में ? पर आश्चर्य जनक होने पर भी बात सर्वदा सत्य है। जिस प्रकार ट्रेन में चढ़ने-उतरने और टिकिट लेने के लिए बनाया हुआ स्थापित स्टेशन कहलाता है, और जिस विशिष्ट स्थान पर से अलग-अलग दिशाओं में ट्रेन जाती है उसे जंक्शन कहते हैं, उसी प्रकार जीव के लिए जो चौरासी लाख योनियों हैं वे उसके जन्म-मरण के स्टेशन हैं। इस पृथ्वी पर बने हुए स्टेशन पर मनुष्य एक ट्रेन से उतरता है और दूसरी में चढ़ता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न योर्गि रूप स्टेशन पर वह मरता है और पुनः जन्म लेता है।

अब आई मानव-योनि के जंक्शन होने की बात। आप जानते ही हैं कि घरती पर के इन जंक्शनों पर पहुँचकर आप चाहें तो किसी भी अन्य दिशा की ओर जाने वाली ट्रेन का टिकिट लेकर उसमें बैठ सकते हैं अर्थात् किसी भी दिशा में जा सकते हैं। ठीक इसी प्रकार मानव-भव भी एक जंक्शन है तथा इस जंक्शन से आप चाहे जिस गति की ओर जा सकते हैं।

टिकिट लेने की आवश्यकता है

प्रत्येक जंक्शन पर आप टिकिट लेते हैं तभी अपनी निर्दिष्ट दिशा की ओर जाने वाली ट्रेन में बैठ सकते हैं। इसी प्रकार उस मानव-जन्म रूपी जंक्शन पर

से भी आप चाहे जिस ओर जा सकते हैं, किन्तु आवश्यकता है टिकट लेने की। ध्यान रखिये, कि इस जंक्शन से आपको नरक गति का, मनुष्य-गति का, देव गति का और पाँचवीं मोक्ष-गति का भी टिकट मिल सकता है। अर्थात् यहाँ से आप किसी भी गति में जा सकते हैं, पर महत्त्वपूर्ण बात है उसका टिकट प्राप्त करना।

मैं जानता हूँ कि आप में से कोई व्यक्ति कम से कम नरक और तिर्यच गति के विषय में तो सोचना भी नहीं चाहेगा। बाकी बची तीन गतियाँ। मनुष्य, देव और मोक्ष-गति। यदि आपकी इच्छित गतियाँ हैं और इनमें भी श्रेष्ठतम है मोक्ष-गति, जिसे पाने के लिये आप क्षणभर में ही तैयार हो जाएँ! पर तैयार हो जाने से ही तो वहाँ जाया नहीं जा सकेगा। उसके लिए टिकट लेना पड़ेगा और वह टिकट धन देकर नहीं मिलेगा, उसके लिये महान श्रम, पुरुषार्थ और त्याग करना पड़ेगा। मोक्ष-गति का टिकट प्राप्त करने की योग्यता किसमें होती है इस विषय में कहा गया है —

“मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति।”

— विवेकचूड़ामणि

— जिस आत्मा ने सोलह कषाय और नव नोकषाय रूप मोह-विकार को पूर्णरूप से जीत लिया है, और मोह का जड़-मूल से ही नाश कर दिया है, वही आत्मा मोक्षपद को प्राप्त करने के योग्य है।

कितनी सुन्दर और सत्य बात है। वस्तुतः में ही उच्च-गति के टिकट प्राप्त करना सरल बात नहीं है। पूर्ण इच्छा होने पर भी और जंक्शन पर बैठे रहकर भी संभव है कि हम जीवन भर में भी इच्छित गंतव्य के टिकट प्राप्त न कर सकें।

जंक्शन पर हम बैठे हैं। अर्थात् मनुष्य पर्याय हमें प्राप्त हो चुकी है किन्तु वह भी तो चली जा रही है और अभी हमारे टिकट का पता ही नहीं है। इसी को लक्ष्य में रखकर श्री कुमुदमुनि ने लिखा है —

जग उठे, जग उठे, जग उठे म्हारा कलुर पावणां,
अब थारी गाड़ी हैकबा में।

पल पल में थारी उमर जावे, मौत पाण्डी आवे जिवड़ा
मोह नींद रे वश में सुग्यो भूल आपणो पथ जिवड़ा
अब थारी गाड़ी हैकबा में।

मुनियाँ से उपदेश न मान्यो, धर्मस्थान नहिं आयो जिवड़ा
बीती सो तो बीत गई रे, अब थने चेतायो जिवड़ा
अब थारी गाड़ी हैकबा में।

इस सुन्दर भवन में आत्मा को सम्बोधन करके कहा गया है — ‘मेरे

चतुर पाहुने! अब तो तू जाग जा! क्योंकि तेरी गाड़ी अब जंक्शन छोड़कर खाना होने को ही है। अगर अब भी नहीं जागा तो तू कब टिकिट लेने के लिए प्रयत्न करेगा?

‘एक-एक पल के बहाने तेरी उम्र खत्म होती जा रही है तथा मौत नजदीक आ रही है। तू तो अपना मार्ग भूलकर मोह की नींद में ही अभी तक सोया हुआ है। पर तेरी गाड़ी तो अब चलने वाली है।’

आगे कहा है — ‘भोले जीव! बार-बार प्रेरणा करने पर भी तू धर्म-स्थान में नहीं आया। और आया भी तो सन्तों के उपदेशों को सुनकर उस पर अमल नहीं किया। अपना कितना वक्त व्यर्थ में ही बर्बाद कर दिया? पर अब बीते हुए के लिये क्या कहा जाय, आगे के लिये ही चेतावनी देते हैं कि अब तो जाग और पुण्योपाजन-रूप टिकिट लेने का प्रयत्न कर! तेरी गाड़ी के खाना होने का समय हो गया। वह चलने वाली है।’

मानव-जीवन का महत्त्व

हमारे शास्त्रों में जीव के पाँच सौ त्रेसठ भेद बताए गए हैं। इनमें से मनुष्य गति में आई हुई आत्मा अपनी शुभाशुभ कर्मी के द्वारा सभी गतियों में जा सकती है। स्त्रियों सातवें नरक में नहीं जातीं पर पुरुष इतना बहादुर है कि वह वहाँ भी बिना रोक-टोक चला जाता है।

सुनकर आपको हँसी आ रही होगी पर बात यथार्थ है। पुरुष पाप-कर्मों में भी स्त्रियों से आगे ही रहता है। फिर भी आपको निराश नहीं होना चाहिये क्योंकि उत्तम करने पर आप मोक्ष में तो जा ही सकते हैं न!

कुछ धर्मावलम्बी कहते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद पुनः मनुष्य नहीं बन सकता यह बात ठीक नहीं है। उत्तम करने पर मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य भी बन सकता है।

‘ठाणान् सूत्र’ के चतुर्थ ठाणे में बताया है कि चार बातों से मनुष्य-पद प्राप्त होता है—

‘पगईभइयाए, पगईविणीययाए, साणुक्कोसे, अमच्छरियाए।’

मनुष्य जन्म पाने के चार कारणों में पहला कारण है मनुष्य का प्रकृति से भद्र होना।

भद्र व्यक्ति का हृदय अत्यन्त सस्त्र और निष्कपट होता है। तथा उसका आचरण भी उसके हृदयानुरूप ही बन जाता है, आज का मनुष्य-जीवन ऊपरी दिखावे के कारण बहुत दूषित हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे का विश्वास नहीं करता। सभी एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

किन्तु छोटे गांव में आज भी व्यक्ति बड़े भद्र और सरल होते हैं। अपने बड़े-बड़े झगड़े भी वे अपनी पंचायतों में ही निपटा लेते हैं। इसके अलावा सद्व्यवहार का गुण उनमें विशेष रूप से होता है। एक व्यक्ति की बेटी और बहू सारे गांव की बेटी और बहू मानी जाती है।

भद्र व्यक्ति सदा पर की भलाई तथा स्व-कल्याण में प्रयत्नशील रहते हैं। हृदय की भद्रता या सरलता आत्मा को अत्यन्त शांतिमय अवस्था में पहुँचा देती है।

एक बार स्वामी विवेकानन्द ट्रेन में सफर कर रहे थे। जिस डिब्बे में वे बैठे थे, उसी में दो-तीन अंग्रेज यात्री भी बैठे हुए थे। स्वामीजी अपनी स्वाभाविक शांति से बैठ रहे, किसी से कुछ भी नहीं बोले।

अंग्रेजों ने एक हिन्दुस्तानी और मराठा वस्त्रधारी व्यक्ति को चुपचाप बैठे देखा तो उनका उपहास करना प्रारम्भ कर देया। स्वामीजी के बारे में उन्होंने बहुत ही अपमानजनक शब्द कहे और बीच-बीच में गालियाँ देने से भी नहीं चूके।

कुछ समय पश्चात् एक स्टेशन आया। वहाँ पर स्वामी जी ने स्टेशन-मास्टर को बुलाया और शुद्ध अंग्रेजी में उससे कहा — “कृपया थोड़ा पानी मंगा दीजिये!”

अंग्रेज उनकी ओर देख ही रहे थे। उन्हें शुद्ध व स्पष्ट अंग्रेजी में बोलते देखकर कुछ शर्मिन्दा हुए। तथा बोले — “आप अंग्रेजी जानते हैं, तब तो हमारी बातें सुनकर आपको बहुत क्रोध आया होगा? आप कुछ बोले तो नहीं?”

विवेकानन्द जी ने मुस्कराते हुए कहा — “मेरा तो आप जैसे भद्र व्यक्तियों से कई बार सम्पर्क होता है। व्यर्थ में क्रोध करके मैं अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करूँ?”

भद्रता की पहचान कराने वाला एक उदाहरण और भी है।

मलिक दिनार बड़े तपस्वी, अत्यन्त सरल और पवित्र हृदय के सन्त थे। एक बार वे कहीं जा रहे थे, रास्ते में उन्हें एक स्त्री ने कपटी कहकर पुकारा।

दिनार ने बिना चेहरे पर शिकन लाए अत्यन्त आदर और विनयपूर्वक तुरन्त ही उस स्त्री से कहा — “बहन! तुमने मुझे ठीक पहचाना है। वास्तव में ही इतने दिनों में मेरा सच्चा नाम लेकर पुकारने वाली मुझे तुम एक ही मिली हो।”

भद्रता के यही लक्षण होते हैं। भद्र व्यक्ति इसके द्वारा की गई निंदा, उपहास और अपमान का बदला भी सम्मान के रूप में देता है। कहा भी है :-

विप्रियमप्याकर्ण्य वृते प्रियमेव सर्वदा सुजनः।

क्षारं पिबति पयोधेर्वैत्यम्भोधरो मधुरम्॥

— जिस प्रकार बादल समुद्र का खारा जल पीकर भी सदा मीठा जल

बरसाता है, उसी प्रकार सज्जन और भद्र व्यक्ति दूसरों की कटुवाणी सुनकर भी सदा मधुरवाणी ही बोलते हैं।

इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से ही भद्र होता है। करुणा, परोपकार, नैतिकता, इमानदारी आदि उत्तम गुणोंसे विभूषित होकर सदाचरण युक्त जीवन व्यतीत करता है वह पुनः मनुष्य-जन्म का बंध कर सकता है।

मनुष्य-गति के बंध का दूसरा हेतु है — प्रकृति से ही विनय-गुण सम्पन्न होना। विनय का हमारे यहाँ बड़ा भारी महत्त्व मना गया है। क्योंकि—

“विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे।”

— प्रशमरति

समस्त गुण विनय के ही अधीन होते हैं।

अगर व्यक्ति में एकमात्र गुण विनय ही हो तो धीरे-धीरे अन्य अनेक सद्गुण उसमें आ जाते हैं। किंतु विनय के अभाव में व्यक्ति के पास चाहे प्रचुर मात्रा में धन हो, या पांडित्य हो, वह फीका लगता है। कहते भी हैं :—

“पांडित्ये सति नम्रत्वं हेतोरेऽयं कनकोपरि।”

— सूक्ति रत्नावली

विद्वता के साथ विनय होना, सोने के ऊपर हीरा होने के समान है।

बच्चे के समान हैं

न्यूटन एक महान प्रतिभाशाली वैज्ञानिक थे। उन्होंने केवल बाईस वर्ष की अवस्था में ही बीजगणित के द्विपद सिद्धांत का आविष्कार किया था। और बाद में सूर्य की किरणों में सात रंग क्यों हैं? समुद्र में ज्वार-भाटा क्यों आता है? सूर्य और चन्द्र क्षीण कैसे हो जाते हैं तथा फिर पूर्ण कैसे होते हैं। इन सब प्रश्नों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करके गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का आविष्कार किया था। उनके चिन्तन एवं विद्वत्ता पर आज भी समस्त यूरोप को गर्व है।

उन्हीं महान वैज्ञानिक के पास एक बार एक महिला आई और आंतरिक सत्यतापूर्वक उनकी प्रतिभा और ज्ञान की प्रशंसा करने लगी।

महिला द्वारा की गई प्रशंसा सुनकर न्यूटन ने बहुत चकित होकर कहा — “बहन, तुम क्या कह रही हो? मैं तो उस बालक के समान हूँ जोकि सत्य के विशाल समुद्र के किनारे पर बैठा हुआ केवल कंकर ही बीनता रहता है। ज्ञान के असीम सागर में तो मैंने अभी तक प्रवेश ही नहीं किया है।”

आगन्तुक महिला महाविद्वान न्यूटन की विनम्रता देखकर बड़ी चकित हुई और स्वयं ही उनके समक्ष नत हो गई।

इस प्रकार जो व्यक्ति प्रकृति से हो विनम्र होते हैं, आगे जाकर महापुरुष

कहलाते हैं। बालक में भी अगर बाल्यावस्था से ही विनम्रता होती है तो वह उत्तमोत्तम संस्कारों का धनी बनता है तथा अपने गुरु से सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके आत्मोन्नति के पथ पर बढ़ता जाता है। तथा ऐसे विनम्र-गुण सम्पन्न जीव पुनः मनुष्य गति को प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्य-जन्म के बंध में तीसरा सहायक कारण होता है हृदय में आक्रोश का न होना। मनुष्य में अगर मनुष्यता नामक कोई वस्तु होती है तो वह दया ही है। दया जिसके हृदय में होती है, उसवे हृदय में आक्रोश का आविर्भाव नहीं होता वरन् उसकी संसार के सभी प्राणियों के प्रति स्नेह व सद्भावना रहती है। जिस व्यक्ति का हृदय आक्रोश से भरा रहता है वह पशु से भी गया बीता साबित होता है। क्योंकि अहिंसा और ममत्व की भावना तो हम पशुओं में भी पाते हैं। वे भी मनुष्य के समान ही अपनी सन्तान को ग्यार करते हैं तथा उनका पालन-पोषण करते हैं। बन्दरों को हम देखते हैं कि एत बन्दरी के बच्चे को झुंड के अन्य बन्दर अपने पास जबरन ले-लेकर खिलाते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति अपनी आत्मा के समान ही अन्य सभी जीवों की आत्मा को समझते हैं, उनके हृदय में किसी के प्रति आक्रोश के भाव नहीं रहते। इसीलिए महापुरुष कहते हैं —

जगत के जीव ताको आत्म समान जान,
सुख अभिलाषी सब दुःख से डरत है।
जाणी इम प्राणी पालो दया हित आनि,
यही मोक्ष की निसाणी जिनवाणी उचरत है।
मेघरथ राय मेघकुँवर धरम रुचि,
निज प्राण त्याग पर जतन करत है।
जनम धरण भेट पापत अनंत सुख,
अमीरिख कहे शिव सुन्दर वरत है।

कहा है - जो व्यक्ति संसार के समस्त जीवों को आत्मवत् समझते हैं, सांसारिक दुखों से भयभीत होते हुए अक्षय सुख की अभिलाषा रखते हैं तथा हृदय में दया की भावना रखते हुए अन्य प्राणियों के प्रति सद्भावना-पूर्ण व्यवहार रखते हैं, उनका यह कार्य मोक्ष-प्राप्ति का पूर्व लक्षण है। ऐसा जिनवाणी का कथन है।

संसार के महापुरुष पर के प्राण बचार्न के लिए अपने प्राणों का भी बलिदान कर देते हैं। आप जानते ही होंगे कि राजा मेघरथ ने एक कबूतर की प्राण-रक्षा के निमित्त अपने शरीर का मांस काट-काट कर तराजू पर रख दिया था। मेघकुमार ने अपने हाथी के भव में, जंगल में लगी हुई आग से बचने के लिए आये हुए एक खरगोश के लिए अपने पैर को तीन दिन तक उठाये रखा और अपने प्राण त्याग दिये थे। इसी प्रकार धर्मरुचि मुनि ने चींटियों का प्राण-नाश न हो इस डर से कड़वे तूम्बे के शाक को स्वयं ही खा लिया था।

प्राण देकर भी परोपकार करने वाले ऐसे महापुरुष जन्म-मरण के दुखों को नष्ट करके शिव-सुन्दरी का वरण करते हैं।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि अगर हृदय में आक्रोश का साम्राज्य रहता है तो वह बुद्धि, बल, शक्ति और क्षमता आदि सभी गुणों का दिवाला निकाल देता है। किन्तु अगर मानव आक्रोश पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उसका आत्मबल बढ़ता है तथा वह मुक्ति-मार्ग पर चलने की क्षमता प्राप्त करता है। ऐसा मनुष्य ही मृत्यु के पश्चात् पुनः मनुष्य जन्म प्राप्त कर सकता है।

मराठी भाषा में एक सुन्दर पद्य है। जिसमें प्रश्न भी है और उत्तर भी। वह इस प्रकार है —

मोठा कोण म्हणावा ? साधु सेवा दयालु जो त्याला।

त्या वाचुनी इतर नर पडले नाहीत काम जो त्याला॥

एक ही पद्य में कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रश्न किया, उत्तर दिया और उपदेश भी दे दिया है।

संसार में बड़ा कौन है? हम किसे बड़ा कहें? यह प्रश्न है। अगर लोगों से इसका उत्तर माँगा जाय तो वे यही कहेंगे — बड़ा वही है जिसके पास रुपया है। प्रचुर मात्रा में धन-माल का जो अधिकारी हो वही एक मत से बड़ा आदमी माना जाता है।

उस व्यक्ति को कोई बड़ा नहीं कहता जो चतुर है बुद्धिमान है और शास्त्रों का जानकार है, पर जिसके पास लक्ष्मी नहीं है। संसार की दृष्टि ऐसी ही है। लक्ष्मी के अभाव में वह किसी को बड़ा नहीं समझता। वह यह नहीं समझता कि पैसे वाला ही बड़ा कैसे हुआ? क्या पैसा परलोक में तार देगा? क्या पैसा जीव को नरक गति में जाने से बचा लेगा?

नहीं, हमारे शास्त्रों के अनुसार बड़ा व्यक्ति वह होता है जो अपनी आत्मा को निर्मल बनाने का प्रयत्न करता है तथा उसे कर्म-रहित करता हुआ मुक्ति-पथ पर बढ़ता है। पर वह ऐसा किस प्रकार कर सकता है? इसी के लिए मराठी पद में बताया है कि जो त्यागवृत्ति को अपनाना है, अपने से अन्य समस्त जीवों पर दया भाव रखता है तथा संतों की सेवा में निमग्न रहता है।

संतों की सेवा से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि आप उनकी शारीरिक सेवा शुश्रूषा करें या धन-पैसे से सहायता करें। संत यह सब कुछ नहीं चाहते उनकी सेवा भक्ति इसी में है कि आप उनके आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तथा उनके सदुपदेशों को हृदयसंगम कर जीवन में उतारें। संतों की सच्ची सेवा है, उनसे सद्ज्ञान हासिल करना तथा त्याग व प्रात्याख्यान करते हुए उत्तम नियमों को अपनाना।

कानड़ कठियारा

कानड़ कठियारा एक लकड़हारा था। उसने एक बार किसी संत से नियम लिया कि मैं पूर्णिमा के दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करूँगा। और तो बेचारे से कुछ बनता नहीं था क्योंकि उसे दिनभर जंगल में लकड़ी काटना पड़ता था। पर यह विचार कर कि इस नियम में मुझे कोई नुक़्कत नहीं होगी, न समय ही खर्च करना पड़ेगा और न एक पैसा भी व्यय होगा, उसने नियम ले लिया तथा उसका पालन करने लगा।

एक बार वह जंगल से लकड़ी काटकर लाया और संयोगवश उसी गाँव में रहने वाले श्रीपति नामक श्रेष्ठि के यहाँ बेचने जा पहुँचा। कठियारा नहीं जानता था कि वह कौन सी लकड़ियाँ काट कर लाया है, किन्तु श्रीपति साहूकार ने देखा तो पाया कि वे लकड़ियाँ चन्दन की हैं।

साहूकार चाहता तो चुपचाप लकड़ियाँ रखवाकर थोड़े से पैसे दे देता किन्तु वह ईमानदार था, अतः उसने स्वयं लकड़हारे के लकड़ियों के बराबर सोना तोलकर दे दिया।

बंधुओ! अगर आपको इस प्रकार चंद पैसे में ही चंदन की लकड़ी का गढ़ा मिले तो आप उसे छोड़ेंगे क्या? कभी नहीं! पर श्रीपति साहूकार ऐसा नहीं था अतः उसने कानड़ को लकड़ियों की पहचान करा दी और पूरा मूल्य भी दे दिया।

कानड़ सोने की पोटली लेकर वहाँ से खाना हो गया। चलते-चलते वह उस मार्ग से गुजरा जहाँ एक वेश्या रक्ती थी। वेश्या ने उसे देखा और कानड़ की नज़र भी उस पर पड़ी। वह ठिठक गया और वेश्या के घर में चला गया। वहाँ बहुत से अन्य व्यक्ति जो बैठे हुए थे, उन्होंने कठियारे का उपहास करना शुरू किया और उसकी बहुत मजाक उड़ाई। परन्तु कानड़ ने कोई ध्यान नहीं दिया। और सोने की गठरी वेश्या के हाथों में थमा दी।

वेश्या प्रसन्न हुई और उसने कठियारे की बहुत आवभगत की। उसने कहा - "तुम हजामत वगैरह बनाकर स्नान करता और दूसरे वस्त्र पहन लो।" कानड़ वेश्या के कथनानुसार समस्त कार्यों से निबट कर दूसरे मंजिल ऊपर पहुँचा तो देखा कि आकाश में चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं को प्रकाशित करता हुआ पूर्ण-रूप में मुस्करा रहा है।

कठियारे को ध्यान आया कि उसने पूनम को तो ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का नियम लिया है। पूनम को ही व्रत रखने का भी कारण यही था कि अष्टमी और चतुर्दशी को तो व्रत की याद ग़ायब न रहे पर पूनम के दिन जब पूरा चन्द्रमा उगेगा उसे देखकर तो उसे अपने व्रत का ध्यान आ ही जाएगा।

तो आसमान में पूर्ण-चन्द्र देखकर उसने अपने व्रत की याद आ गई और वह सोचने लगा आज मैं वेश्या से कोई व्यवहार नहीं कर सकता, अतः मुझे यहाँ से किसी प्रकार निकल भागना चाहिये। वह नीचे उतरा और वेश्या से बोला - “मुझे जंगल निपटने जाना है, अतः मैं बाहर जाऊँगा।”

वेश्या ने घर में ही स्थान बताया कि वह वहाँ चला जाए। पर कटियारा माना नहीं और शीघ्रता से बाहर चल दिया।

गठरी का उसे ध्यान आया पर यह सोचकर कि उसे माँगने पर वेश्या जाने नहीं देगी, वह सोने गठरी की वही छेड़कर चलता बना। स्वर्ण की अपेक्षा उसे अपने व्रत का महत्त्व अधिक लगा। और लगना भी चाहिए। संस्कृत में कहा है -

‘प्राणंतेऽपि न भक्तव्यं, गुरुमाश्वे कृतं व्रतम्।’

गुरु की साक्षी के लिये हुए व्रत को प्राणांत होने तक भी निमाना चाहिए।

अर्थात् - प्राण भले ही चले जायें, प्रण नहीं टूटना चाहिए। कोई पूछ सकता है - ‘क्या प्रण की कीमत प्राणों से भी अधिक है?’ उत्तर यही है कि कीमत वास्तव में ही प्राणों से भी अधिक है। प्राण तो जन्म-जन्म में मिल जायें पर प्रण नहीं मिल सकता। तभी तो ‘राम’ ने कहा था -

‘स्थकुल रीति सदा चलि आई, प्राण जायँ पर वचन न जाई।’

वचन का अथवा प्रण का ऐसा ही महत्त्व है। इसीलिए कानड़ वहाँ से बहाना बनाकर निकल गया।

इधर वेश्या उसी की प्रतीक्षा करती रही पर जब कटियारा लौट कर नहीं आया तो उसने स्वर्ण की पोटली ज्यों की त्यों उठाकर एक ओर रख दी तथा अगले दिन राजा के दरबार में पहुँचा दी और कहलवा दिया कि यह जिसका है उसे पहुँचा दिया जाय।

आपके मन में प्रश्न होगा कि वेश्या ने ऐसा क्यों किया? वेश्याएँ तो पैसे के लिए मरती हैं। पैसा ही उनका सगा होता है कोई भी आदमी नहीं। पर वह वेश्या भी एक नियम लिये हुए थी कि बिना हक का पैसा नहीं लेना। और वह अपने नियम की पक्की थी। अतः उसने छुआ भी नहीं।

जब राजा के पास स्वर्ण की पोटली पहुँची तो उसने डोंड़ी पिटवा दी कि दरबार में सोने की एक गाँठ आई हुई पड़ी है, जिसकी हो वह ले जाय। डोंड़ी सुनकर कटियारा आया और उसने अपनी पोटली माँगी।

राजा ने उसे देखकरके कहा - “तुम्हारी आकृति से तो ऐसा नहीं लगता कि यह धन तुम्हारा होगा। तुम्हारे पास यह कहाँ से आया?”

कठियारा बोला - 'मुझे श्रीपति साहूकर ने दिया था।'

श्रीपति श्रेष्ठ को भी बुलवाया गया और उससे राजा ने पूछा - 'तुमने इतना धन कठियारे को क्यों दिया?'

साहूकार ने उत्तर दिया - 'यह चन्दन की लकड़ी लाया था अतः मैंने इसकी लकड़ी के बराबर सोना इसे दिया है क्योंकि मेरा नियम है - बेईमानी से किसी की वस्तु नहीं लेना।'

इसके पश्चात् राजा ने वेश्या को भी बुलवाया और उससे प्रश्न किया - 'क्या यह वही आदमी है, जिसने तुम्हें सोने की यह पोटली दी थी?' वेश्या ने स्वीकृति दी 'यह वही आदमी है। मैं इसे पहचानती हूँ।'

तत्पश्चात् राजा ने धन कानड़ कठियारे को दिलवा दिया।

कालान्तर में जब केवली भगवान् उस ग्राम में पधारे तो लोगों ने उसने पूछा - 'भगवन्! हमारे गाँव में बड़े नीतिमान व्यक्ति हैं। श्रीपति साहूकार ने बेईमानी नहीं की, वेश्या ने सहज में ही मिला हुआ धन ग्रहण नहीं किया, राजा ने ठीक न्याय किया और कानड़ कठियारे ने अपने व्रत का पालन धन का मोह छोड़कर किया। आप फरमाइये, कि इन सब में से श्रेष्ठ कौन है?'

भगवान ने भरी सभा में यही उत्तर दिया 'उन सब में कानड़ कठियारा सर्वश्रेष्ठ धन्यवाद का पात्र है।'

बंधुओं, भगवान ने न सेठ की तारीफ की, न राजा की प्रशंसा। और न ही वेश्या की ही सराहना की। उन्होंने केवल कानड़ कठियारे की महत्ता बताई। वह क्यों? क्योंकि कठियारे ने व्रत का पालन किया था। और वह व्रत उसने संतों की संगति से अंगीकार किया था। यद्यपि राजा, सेठ और वेश्या तीनों ही नीतिसम्पन्न थे पर कठियारे ने जहाँ व्रत का पालन किया, वहाँ धन का लालच भी छोड़ा। इस प्रकार दोहरे कार्य किये। अतः उसकी प्रशंसा होनी ही चाहिये।

तो इस प्रशंसा के मूल में क्या था? साधु-भक्ति और साधु-सेवा। अगर कठियारा सन्तों की सेवा में नहीं जाता तथा उनसे व्रत ग्रहण नहीं करता तो केवली भगवान उसकी प्रशंसा कैसे करते, और हम आज भी कानड़ कठियारे को क्यों याद करते?

तो साबित हो गया न कि बड़ा कौन है? वही, जो सन्तों की सेवा करे। और वह भी, जिसके हृदय में दया की भावना हो। आप आज लक्ष्मीपति को बड़ा कहते हैं! पर यह भूल जाते हैं कि लक्ष्मी अपने साथ पाँच बड़े भारी अवगुण लेकर आती है। वे अवगुण कौन-कौन से हैं, इन विषय में कहा है :-

निर्दयत्वमहंकार - स्तृष्णा कर्कषभाषणम्।

नीच-पात्रप्रियत्वं च, पंच श्री गृहचारिणः॥

निर्दयता, अहंकार, तृष्णा, कटु-भाषण और निकृष्ट व्यक्तियों से मित्रता ये पाँच लक्ष्मी के सहायी हैं। अर्थात् साथ ही रहते हैं।

ये पाँचों ही अवगुण लक्ष्मीपतियों में आए बिना नहीं रहते। जहाँ भी लक्ष्मी का निवास होता है, ये अवगुण वहीं अपना अङ्ग जमा लेते हैं।

निर्दयता

यह लक्ष्मी के साथ आने वाला सबसे पहला अवगुण है। जहाँ मनुष्य के पास धन की वृद्धि हुई कि उसके हृदय की भावना का लोप हो जाता है, धन को अधिक से अधिक मात्रा में बढ़ाने की लालच से वह गरीबों का गला काटने में तनिक भी संकोच नहीं करता। उसकी प्रही भावना रहती है कि मजदूरों से अधिक से अधिक परिश्रम कराया जाय पर बदलेमें उससे कम पैसा दिया जाय।

अपनी मोटर, बत्थी या तौंगे से सड़क पर गुजरने वाले धनवान व्यक्ति यह नहीं देखते कि सड़क पर कौन वृद्ध, दुर्बल, अपंग या सहारे की अपेक्षा रखने वाला प्राणी गुजर रहा है। कौन असह्य शीत से कोपता हुआ पड़ा है या तीव्र भूख से छटपटा रहा है। उनकी सवारी से टकरा कर कोई गिर भी जाय तो वे उसकी सहायता करने के बदले सौ गालियाँ देने के लिए तैयार रहेंगे कि, 'अंधा हो गया है या बहरा है?' पैसे की अधिकता से शराब को पानी की तरह काम में लेने वाले पुरुष मांस से परहेज नहीं करते और मांस के पीछे कितने निर्दोष प्राणियों का बलिदान होता है यह आप जानते ही हैं। यह सब कुछ आवश्यकता से अधिक धन इकट्ठा होने से ही होता है।

अहंकार

अहंकार, धन की वृद्धि के साथ ही जन्म लेने वाला दूसरा और मुख्य अवगुण है। लक्ष्मी के घर में प्रवेश करते ही मारे घमंड के उसकी गर्दन सीधी नहीं रहती।

चिरस्थायी धन

मिश्र देश में एक बहुत बड़ा धनवान सेठ था। उसके दो पुत्र थे। सेठ ने अपने एक पुत्र को खूब विद्याध्ययन कराकर विद्वान् बनाया और दूसरे को राज्य का कोषाध्यक्ष बना दिया।

कोषाध्यक्ष भाई को अपने पद का और अपने पैसे का बड़ा घमंड था। एक दिन वह अपने छोटे भाई से बड़े गर्वपूर्वक बोला - 'देख, मैं बिना पढ़े-लिखे भी कितने ऊँचे पद पर हूँ? संपूर्ण देश की धन सम्पत्ति मेरे हाथ में है। और

तू इतना पढ़-लिखकर भी दरिद्र ही रह गया।

विद्वान् व्यक्ति ने कहा - “भाई साहब! आप मिश्र देश के कोषाध्यक्ष की उस गद्दी पर बैठे हैं, जिस पर अनेक व्यक्ति बैठाए गये और उतार भी दिये गये हैं। आप केवल कोषाध्यक्ष हैं, कोष तो आपका नहीं है। किसी भी दिन आपका नम्बर भी गद्दी से हटा दिये जाने वालों में आ जायेगा। लक्ष्मी कभी किसी एक के पास नहीं रहती, उसका गर्व करना व्यर्थ है।”

“असली धन तो मेरे पास है। मेरा ज्ञान रूपी धन मुझ से कोई छीन नहीं सकता। रूपया-पैसा पास में न होने पर भी मैं जो कुछ उत्तम कार्य करता हूँ उससे मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त होता है और इसी को मैं वास्तविक धन मानता हूँ। किसी ने कहा भी है -

यत्कर्मकरणेनान्तः संतोषं लभते नरः।
वस्तुतस्तद् धनं मन्ये, न धनं धनमुच्यते॥

जिस काम के करने से मनुष्य को आंतरिक संतोष प्राप्त होता है, मैं वास्तविक धन उसी को मानता हूँ। लौकिक धन को धन नहीं कहा जाता।

लेकिन धन से आत्मा का तनित भी भला नहीं होता उलटे नुकसान ही होता है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है -

“धन एक ऐसा अथाह सागर है जिसमें सत्य, शील, प्रतिष्ठा और अन्तःकरण सभी डूब जाते हैं।”

— कोजले

धनाढ्य व्यक्ति अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नहीं कर सकता। प्रायः दान, शील, तप या त्याग की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए किसी ने और भी कहा है -

“सूई के छेद में से ऊँट का निकल जाना सम्भव है, किन्तु धनी मनुष्यों का स्वर्ग में जाना असम्भव है।”

वास्तव में ही यह धन जो आपने साथ अनेकानेक दुर्गुण भी लाता है, मनुष्य के कर्म-मार को बढ़ाता ही है, फल नहीं करता। और स्वयं भी स्थायी नहीं रहता। मानव को पतन के मार्ग में अकेलकर लोप हो जाता है या जीव को कुगति की ओर अग्रसर कर मिट्टी के समान इसी धरती पर पड़ा रहता है। इसीलिए कबीर ने कहा है-

कबिरा गरब न कीजिये, कबहूँ न हैंसिये कोय।
अबहूँ नाव समुद्र में, को जल का होय।

लक्ष्मी का साथ देने वाला तीसरा अवगुण है तृष्णा। तृष्णा मनुष्य को पागल बना देती है। लखपति से करोड़पति बन जाऊँ और करोड़पति हूँ तो उतने से क्या? कहीं का राज्य या जाऊँ तो ठीक रहे; मानव के मन में इसी प्रकार तृष्णा बढ़ती जाती है। हमारे 'उत्तराध्ययन-सूत्र' के नवें अध्यायन में बताया गया है -

सुवर्णरूपस्य उ पञ्चया भवे, सिंघाहुः कैलाससमा असंखया।

नरस्य तुष्टस्य णतेहि किञ्चि, इच्छा हु धग्गास समा अणन्ति॥

यदि कैलाश पर्वत के समान सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी मनुष्य के पास हो जायें तो भी उसे सन्तोष नहीं होता। क्योंकि इच्छा तो आकाश की तरह अनन्त है।

तृष्णा पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है, पर यह बात नहीं है कि कोई इसे जीत नहीं सकता। सद्ये संत और महापुरुष इसे जीत कर ही छोड़ते हैं।

भय को फेंक आया

एक बार गुरु मच्छिन्द्रनाथ अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में गुरुजी ने अपनी झोली शिष्य को ले काने के लिये दे दी।

गोरखनाथ ने झोली को भारी देखकर चुपके से उसमें झाँका। देखा कि झोली में सोने की ईंटें हैं। उन्होंने चुपचाप ही सब ईंटें फेंक दी और चलने लगे।

कुछ देर चलने पर निर्जन वन आया देखकर गुरु ने कहा - "वत्स! हमें इस जन-रहित मार्ग से जाना है। रास्ते में कुछ भय तो नहीं है?"

गोरखनाथ बोले - "भगवन्! भय को तो मैं पहले ही रास्ते में फेंक आया। आप निश्चिन्तता पूर्वक चलिए।"

महापुरुषों के लिए धन इसी प्रकार महत्त्वहीन होता है। गोरखनाथ के हृदय में तृष्णा की भावना तो थी ही नहीं, उल्टे जो धन था उसका भी उन्होंने पलक झपकते ही त्याग कर दिया। महामानवों का हृदय इस बात को भली-भाँति जानता है कि-

जीर्यन्ते जीर्यते केशाः, दन्ताः जीर्यन्ति जीर्यतः।

चक्षुः श्रोत्राणि जीर्यन्ति, तृणौका तरुणायते॥

वृद्धावस्था में बाल जीर्ण होकर सफ़ेद हो जाते हैं, दाँत टूट जाते हैं, आँख और कान जीर्ण-शक्तिरहित हो जाते हैं; पर एक तृष्णा ऐसी है, जो सदा तरुणी ही बनी रहती है!

वास्तव में ही तृष्णा मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को बरबाद कर देती है।

यह संतोष की वैरिन है। जहाँ स्वयं रहती है संतोष को नहीं टिकने देती। इसलिये इस कु-भावना का तो समूल नाश करना ही उचित है।

कर्कश भाषण

कटु बोलना भी लक्ष्मी का सहचर है। ज्यों-ज्यों लक्ष्मी बढ़ती है, मनुष्य के जवान की मधुरता घटती जाती है। तथा अभिमान के कारण मुँह से कर्कश और गर्व-युक्त वचन निकलने लगते हैं। अपने धन-सम्पन्न होने के कारण अन्य निर्धन व्यक्तियों से उनका व्यवहार अत्यन्त रुखा और कटु हो जाता है। श्रीमन्तों के पास अगर कोई चंदा लेने आ जाए तो उनकी मानों मुसीबत ही आ गई समझो। जितना धर्म-कार्य अथवा किसी सामाजिक कार्य के लिए पैसा देंगे उससे कहीं अधिक तो वे साथ में कर्कश वचन कहेंगे। और दरवाजे पर भिखारी आ गया तो उसकी खैर नहीं रहती। एक गरीब और दयालु व्यक्ति तो भिखमंगे को अपने भोजन में से रोटी का एक टुकड़ा दे भी देगा, किन्तु लक्ष्मीपति के द्वार पर उसे गालियों के अलावा और कुछ मिलना कठिन है। भले ही वे अपना यश बढ़ाने के लिए अथवा दान-दाताओं की लिस्ट में अपना नाम सबसे ऊपर लिखवाने के लिये कुछ पैसा दे देंगे। किन्तु किसी अभावग्रस्त व्यक्ति के दरवाजे पर आ जाने पर उसे कर्कश वचनों के अलावा और कुछ नहीं देंगे।

लक्ष्मी का चरण पड़ते ही उनका हृदय से दया का लोप हो जाता है, अहंकार पनपता है, तृष्णा अपना साम्राज्य फैला देती है और वचनों में कर्कशता आ जाती है। परिणाम यह होता है कि स्वयं बोलने वाले के कर्मों का बंध तो होता ही है, साथ ही उसके अनेक दुश्मन बन जाते हैं तथा मित्र भी विमुख हो जाते हैं।

इसीलिये महापुरुष कर्कश-भाषा का सर्वथा त्याग करने का उपदेश देते हुए मधुर-वचनों का महत्त्व बताते हैं। कहते हैं :-

बोली से आदर और जा में सुजस होय,
बोली से सकत जन, मित्र हो रहत हैं।
बोली से अनेक विधि भोजन मधुर मिले,
बोली से सुनेहुँ गाली मार भी सहत हैं।
बोली से सुप्यार और बोली से पैजार त्यार,
बोली से कलेशा कारागृह भी सहत हैं।
कहे अमीरिख नर बोली है रतन सार,
सुगुण विवेक बोल तोल के कहत हैं।

वचनों के द्वारा ही मनुष्य को जग में आदर मिलता है, सुयश फैलता है तथा मित्र बनते हैं। मधुर वचनों से जहाँ मिष्टान्न खाने को मिलते हैं, वहाँ कटु वचनों से मार भी खानी पड़ती है। बोली से ही प्यार मिलता है, बोली से

ही कारागार की हवा खानी पड़ जाती है।

इसलिए पूज्यपाद श्री अमीत्राषि जी महाराज कहते हैं कि बोली एक अमूल्य रत्न है और प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति अपनी जिह्वा से सोचकर शब्द निकालता है।

नीच पात्र-प्रियता

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रीमन्तों के हजारों और लाखों रुपये अशुभ-कार्यों में अर्थात् नाटक, सिनेमा, सैर-सपाटों, ब्याह-शादियों अथवा भोज व शान-शौक के कार्यों में खर्च हो जाते हैं किन्तु शुभ-कार्य में उनसे नहीं दिया जाता।

जब मनुष्य के पास पैसा उसकी औनेवारी आवश्यकताओं से अधिक हो जाता है तो वह उस पैसे को निकृष्ट कार्यों में उड़ाने लगता है। मदिरा पान, वेश्यागमन, मांस-भक्षण तथा सट्टे और जूए में वह रुचि लेने लगता है। परिणाम यह होता है कि उसको सब संगी-साथी निम्न-कोटि के मिलते हैं। बाध्य होकर उसे नीच व्यक्तियों की संगति में रहना पड़ता है। यह सब लक्ष्मी की ही करतूत होती है। वह अच्छे-भले व्यक्ति की आदतों को बिगाड़ती है और फिर वैसे ही व्यक्तियों की संगति में ले जाती है। अभिप्राय यही है कि वह विद्वान तथा चरित्रवान व्यक्तियों की प्रिय-पात्र नहीं बनती। क्योंकि वे सरस्वती का वरण करते हैं, लक्ष्मी का नहीं। इसीलिये लक्ष्मी का संबंध दुर्जनों से रहता है, सज्जनों से नहीं। दुर्जन व्यक्ति लक्ष्मी से सम्बन्ध रखते हैं और लक्ष्मी उन्हें अपना प्रिय-पात्र बनाती है। उन्हीं की होकर रहती है।

इस प्रकार, जिस लक्ष्मी के कारण आप मनुष्य को बड़ा बताते हैं, वह अपने साथ पाँच जबर्दस्त अक्वण लेकर आती है जो मानव को गलत मार्ग पर चलाकर उसका यह उत्तम जीवन निरर्थक बना देती है। राजा परीक्षित की कथा से तो ऐसा लगता है कि सम्पूर्ण कलियुग ही धन में या स्वर्ण में निवास करता है।

राजा परीक्षित बड़ा न्यायप्रिय और दयालु राजा था तथा अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य में चारों तरफ अमनचैन का प्रसार था।

कहा जाता है कि एक बार कलियुग को कहीं भी अपने रहने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं मिला तो वह राजा परीक्षित के पास गया और उनसे अपने रहने के लिए स्थान माँगा।

राजा ने कहा - “मेरे राज्य में तो तुम्हें रहने के लिए कहीं भी स्थान नहीं है।” पर कलियुग माना नहीं और उसकी बड़ी दीनता से पुनः अपनी माँग रखी। तब राजा ने दयार्द्र होकर कहा - अच्छी बात है, जहाँ पर जुआ, चोरी, मदिरा और गणिका हों, वहाँ तुम रह जाओ।”

कलियुग की बात सुनकर राजा ने उससे स्वर्ण का एक गोला बनाया और कहा - "इसमें जुआ, चोरी, शराब और वेश्या, सभी एक साथ मिल जाते हैं। इसी में तुम रह जाओ।"

बंधुओ, वास्तव में ही कलियुग का निवास स्वर्ण तथा दूसरे शब्दों में धन के अन्दर रहता है। कलियुग का दूसरा नाम ही दुःखिर्द्ध है जो सोने-चाँदी के रूप में मनुष्य के मन में घर कर लेता है। इसलिए आत्मार्थी व्यक्ति को धन की लालसा का त्याग किये बिना छुटकारा नहीं है। धन के अभिलाषी मनुष्य के हृदय में से समस्त सदगुणों का लोप हो जाता है यहाँ तक कि :-

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं श्मशानमपि सेवते।

जनितारमपि त्यक्त्वा निःश्रं गच्छति दूतः॥

इस संसार में धन की कामना करने वाला मनुष्य श्मशान का भी सेवन करता है तथा धन से रहित होने पर अपने जन्म-दाता माता-पिता को भी दूर से ही छोड़कर चला जाता है।

मेरे कथन का सारांश यही है कि मनुष्य जब अनेक दुर्गुण-रूप लक्ष्मी के प्रति रही हुई अपनी लालसा का त्याग कर दे तथा विषय-विकारों से मन को मोड़कर दान, शील, तप और भाव की आराधना में निमग्न रहे तभी वह अपने दुर्लभ मानव-जन्म को सार्थक कर सकता है तथा मनुष्य पर्याय रूपी जंक्शन से अपने इच्छित मार्ग की ओर जा सकता है।

पर इसके लिये मैंने अभी बताया था कि जिस प्रकार आप गाड़ी पर चढ़ने से पूर्व टिकिट लेते हैं, बिना टिकिट लिए उस पर बैठकर जा नहीं सकते, उसी प्रकार इस मानव पर्याय-रूपी जंक्शन से भी आपको शुभ-क्रियाओं के द्वारा उपार्जित पुण्यरूप टिकिट लेना पड़ेगा। और आपकी गाड़ी चल देगी

बंधुओ, बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य-भव रूपी जंक्शन आपको मिला है। यह खो गया तो पुनः कब मिलेगा पता नहीं। इसीलिये आपको ज्ञान, दर्शन और चास्त्रि की आराधना करनी चाहिए। ताकि पुनः मनुष्य-गति, देव-गति या उत्कृष्ट रसायन आ जाए तो मोक्ष-गति भी मिल सके।

[१६]

भावना और भक्ति

धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों!

संस्कृत में एक सुभाषित कहा जाता है :-

“वाट्सी भावना यस्य, सिद्धेर्भवति ताट्सी।”

जिसकी जैसी भावना हुआ करती है, उसको उसके समान ही सिद्धि मिला करती है।

प्रत्येक काम में प्रयत्न से ज्यादा काम के पीछे रही हुई भावना का महत्व होता है। जो काम शुद्ध-भावना से किया जाता है, वह देखने में भले ही छोटा हो किन्तु उसका फल बड़ा मधुर होता है। तथा बड़े से बड़ा काम भी अगर निकृष्ट और हीन-भावना लेकर किया जाय तो उसकी कोई कीमत नहीं होती। और उसका फल भी शुभ नहीं होता।

अभिप्राय यही है कि महत्व भावना का होता है। तथा मनुष्य भावना के द्वारा ही अपने प्रत्येक काम का फल प्राप्त करता है। भावना दृढ़ हो तो उसे अपने प्रयत्न में असफलता नहीं मिल सकती।

मान लो, कोई व्यक्ति विद्वान बनने की इच्छा रखता है तो भावना सहित प्रयत्न करने पर अवश्य सफल हो सकता है, कोई धनवान बनना चाहता है तो अपनी तीव्र भावना और परिश्रम से उसमें भी सफलता पा लेता है। और इसी प्रकार जिसकी भावना भक्त बनकर भक्ति करने की होती है तो भक्त बन सकता है। इतना ही नहीं, जो परमात्मा बनना चाहता है, दृढ़ संकल्प और सम्पूर्ण इच्छा शक्ति के द्वारा कर्म-मुक्त होकर परमात्मा भी बन सकता है। पर उसके लिए भक्ति की आवश्यकता पहले है।

भक्ति का महत्व

भक्ति का अर्थ है भावों की निर्मलता सहित शुद्ध प्रेम। जब तक प्रेम या स्नेह में पवित्रता नहीं होती वह भक्ति का रूप नहीं ले पाता। ईश्वर के प्रति, गुरु के प्रति तथा सच्चे संत-महात्माओं के प्रति जो विशुद्ध प्रेम होता है, उसे ही भक्ति कहते हैं तथा ऐसी भक्ति के माधुर्य वत केवल भक्त ही अनुभव कर सकता है। भक्त कबीरदास जी कहते हैं -

जायेगी जिन्दगानी, आखिर जायेगी जिन्दगानी।

चन्दा भी जायेगा सूरज भी जायेगा,

जायेगा पवन और पानी।

दासकबीरा की भक्ति न जायेगी,

ज्योति में ज्योति मिलानी। ओरेखर ॥१॥

कबीर स्पष्ट कह रहे हैं - यह जिन्दगी जाने वाली है। इसकी कितनी भी हिफाजत की जाय, कितना भी संरक्षण किया जाय फिर भी एक दिन इसे जाना है।

आप राजस्थानी भाषा में बोलते हैं - 'ओ कीरो जायो है?' जायो अर्थात् जाने वाला सदा रहने वाला नहीं। पुष्प गेखला है, उसे मुरझाना पड़ेगा। सूर्य उदित हुआ है उसे अस्त होना पड़ेगा। जिस चन्द्रमा को हम प्रतिदिन चाँदनी बिखेरते हुए देखते हैं, एक दिन उसे भी आयुष्य पूर्ण होने पर नीचे आना पड़ेगा। इसीलिये कबीर ने कहा है - सूरज भी जायेगा, चन्दा भी जाएगा।

आपके दिल में यहाँ सन्देह प्रकट होगा कि सूर्य और चन्द्रमा कैसे जायेंगे? और अगर चले जाएँ तो फिर जगत में अन्धकार नहीं हो जाएगा क्या? पर ऐसा नहीं है। ये सूर्य और चन्द्र चले भी गए तो क्या? दूसरे भी करनी कर रहे हैं, वे इनके स्थान को ग्रहण कर लेंगे।

आप इतिहास पढ़ने वाले हैं। जानते ही होंगे कि कुछ समय पहले मुगलों का राज्य था, फिर पेशवाओं का हो गया। पेशवाओं का गया तो अंग्रेजों का हुआ और अंग्रेजों का गया तो अब कॉंग्रेस का हो गया। राजा चले गये पर राज्य सूना नहीं रहा। इसी प्रकार सूर्य व चन्द्र चले जाएँ तो उनके स्थान पर दूसरे आ जाएँगे।

पद्य में आगे कहा है - 'जाएगा पवन और पानी। किन्तु 'दास कबीर की भक्ति न जाएगी, ज्योति में ज्योति मिलानी।'

अर्थात् - पवन आता है और फूला जाता है। वह आया है और जायेगा। पानी भी आता है और बहता चला जाता है। वह भी स्थिर नहीं रहता। संक्षेप में संसार के समस्त पदार्थ चंचल हैं, अस्थिर हैं नष्ट हो जाने वाले हैं। किन्तु कबीर की भक्ति कभी जाने वाली नहीं है। भक्ति ऐसी चीज है जिसका कभी नाश नहीं होता। वह साथ में जाने वाली नहीं है। कहाँ तक जाने वाली है? जब तक ज्योति में ज्योति नहीं मिल जाती, अर्थात् आत्मा, परमात्मा नहीं बन जाती। दूसरे शब्दों में समस्त कर्मों का जब तक क्षय नहीं हो जाता। एक मुसलमान कवि ने भी कहा है कि अगर तुझे परमात्मा से मिलने का शौक है तो हरवक उससे लौ लगा -

अगर है शौक मिलने का,
तो हरदम ली लगाता जा।
जलाकर, खुदनुमाई को,
भस्म तन पर लगाता जा।
न मर भूखा, न रख रोजा
न जा मस्जिद न कर नैसजदा,
वजू का तोड़ दे कूजा,
शराबे-शौक पीता था। अगर है॥

कहा है - अगर तुझे ईश्वर से मिलने की तमन्ना है तो प्रतिपल उसके ध्यान में रह, उसकी भक्ति में ऐसा तल्लीन हो जा कि अपने आप को भूल सके। अपने आप को जलाकर खाक करदे और उसी की भस्म तन पर लगा ले। तुझे भूखे मरने की तथा रोजे रखने की आवश्यकता नहीं हैं, न ही मस्जिद में जाकर सिजदे करने की जरूरत है। तू तो ईश्वर की, खुदा की भक्ति रूपी शराब पीता रह तथा उसी में छका रह जिससे बेड़ा पार होगा।

बंधुओ, भक्ति का माहात्म्य ऐसा ही है। कहने में उसका अर्थ छोटा-सा लगता है पर शक्ति उसमें बड़ी जबर्दस्त और चमत्कारिक होती है। भक्ति ही एक ऐसी चीज है जो भगवान को भी अपने वश में कर लेती है। श्रीकृष्ण ने अपने भक्तों के प्रति आंतरिक एवं असीम स्नेह-पूर्ण झुंझलाहट व्यक्त करते हुए कहा है।

नाना भाति नचायो भक्तों ने मोहे -
लोक-लाज तज इन्हीं काज मैं वैकुंठ बिसरायो - भक्तों ने मोहे
नरसी भक्त काज मैं सांवरिय। सेठ बन्यो,
भात पहिरायो लाज राखी जग की।
प्रह्लाद ने बुलायो नरसिंह रज धर्यो,
हिरण-कश्यप विदायो सुधि। भूल्यो तन की।
छोड़ मिटाई दुर्योधन की साग विदुर धा। खायो... भक्तों ने मोहे
गज ने पुकार्यो तब गरुड़ बिहार्यो,
जाय ग्राह को संभार्यो सुनि। मे की पुकार।
जब द्रौपदी बिचारी, बोली-धाओ गिरधारी!
मोहे आस है तुम्हारी और जाऊँ काके द्वार?

देर सुनी तो करी न देरी, जाकर चीर बड़ायो... भक्तों ने मोहे

बंधुओ, पद्यों का अर्थ आप समझ ले गए होंगे। भक्त इसी प्रकार अपने भगवान को नाना प्रकार से नाच नचाया करते हैं तथा उनकी भक्ति की शक्ति से खिंचकर भगवान को उनकी सहायता करनी पड़ती है। यह भक्ति का तथा दूसरे शब्दों में शुभ क्रियाओं का और उत्तम भावनाओं का ही प्रभाव होता है।

इसीलिये मेरा कहना है कि हमें मनुष्य-जन्म मिला है तो भक्ति-मार्ग की

ओर बढ़ना चाहिये। अनीति और अधर्म का त्याग करके नीति और धर्म को अपनाना चाहिये तथा भावनाओं की निर्मलता के द्वारा अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर हमारी भावना शुद्ध नहीं होगी, मन में छल व कपट बने रहेंगे तो इस शरीर के द्वारा जो भी क्रियाएं की जाएँगी उनसे कोई शुभ फल प्राप्त नहीं हो सकेगा। एक कवि ने इसी विषय को अपनी एक कविता में समझाया है :-

मिला मिलाया उसे, मिला जब घब से पानी,
जला प्रथम घरी स्नेह, अम्ल में की कुर्बानी
तेल नीर से मिला नहीं, उमर से ढँटा।
रोदा पैरों तले और सिर फा चढ़ बैठा।
जलने में भी दीपके, हुआ उसी में बार है।
सुफल कुफल पद जगत में, अपना ही व्यवहार है।

कवि ने कहा है कि जब पानी दूध से मिलने आया तो उसने सहर्ष उसे अपने आप में मिला लिया। दूध की कीमत अधिक है और पानी की कम। यद्यपि पानी के बिना किसी भी प्राणी का काम नहीं चलता किन्तु उसकी कीमत कुछ भी नहीं होती। अतः उसने सोचा - 'लोग मेरे कद्र नहीं करते हैं। अतः मैं दूध के पास चलूँ। वह द्रव पदार्थ है और मैं भी द्रव हूँ अतः उसमें मिल जाऊँगा तो उससे मिलने पर मेरा भी कुछ मोत्र हो जाएगा।

वह दूध के पास गया। और ध्यान देने की बात है कि दूध ने उसे बड़े स्नेह से अपने में मिला लिया। साथ ही उसे अपना रंग और स्वाद भी दे दिया। दूध के समान रंग और स्वाद लेकर पानी की कीमत बढ़ गई और वह दूध के साथ बिकने लग गया।

पर दोनों की प्रगाढ़ मैत्री, सञ्जलता और हृदय की निष्कपटता का पता तब चला, जबकि दोनों मित्रों को हलवाई ने कढ़ाई में डालकर आग पर चढ़ाया।

आग पर चढ़ने के बाद दोनों में से पहले कौन जलता? पानी। अतः दूध ने सोचा कि जिसे मैंने अपने आप में मिलाया है, आश्रय दिया है उसे अपने रहते कोई कष्ट नहीं होने दूँगा।

दूध का विचार सत्य था। शरणागत की रक्षा करना प्रत्येक का परम कर्तव्य है। जो अपने शरणागत की रक्षा नहीं करता उसका अस्तित्व में आना वृथा है। वेदव्यास जी ने कहा भी है -

“शरणागत की रक्षा करना महान् पुण्य का कार्य है, ऐसा करने से महापापी का भी प्रायश्चित्त हो जाता है।”

संत तुलसीदास जी ने भी लिखा है:-

शरणागत कहैं जे तजहिं, हित अनर्हति निज जानि।
ते नर पायर पाय मय, तिन्हहिं विलोकत हानि।

जो व्यक्ति यह सोचकर कि कहीं मेरा किसी प्रकार से अहित न हो जाय, अपने शरणागत को त्याग देते हैं। वे महापापी और निकृष्ट प्राणी होते हैं ऐसे व्यक्तियों का मुँह देखना भी उचित नहीं है।

तो, दूध ने अपने शरणागत पानी के लिये जब सोचा कि यह जल जाएगा तो उससे पहले वह स्वयं ही जल जाने के लिये ऊपलब्ध कर कढ़ाई से बाहर आने लगा। पर पानी कब बर्दाश्त करता कि जिसने मुझे आश्रय दिया वह मुझसे ही नष्ट हो जाये। अतः वह ऊपर से छींटा के रूप में आया। और जब दूध ने देखा कि मेरा मित्र आ गया है तो उसका स्नेह उमड़ा और वह शांत हो गया। स्नेह और मैत्री का कितना सुन्दर उदाहरण है।

एक ओर तो ऐसा सुन्दर स्नेह है तथा दूसरी ओर अहंकार और कपट से भरा हुआ तेल के स्नेह का उदाहरण है।

बेचारा पानी एक बार तेल के समीप भी जा पहुँचा। तथा तेल से बोला - 'बन्धु! तुम्हारी बहुत कीमत है, और मुझे कोई कीमत देकर नहीं लेता अतः तुम ही मुझे अपने में मिला लो ताकि मेरी भी कुछ फ़ायदा हो जाय।

यह कहते हुए पानी तेल में गिर पड़ा। किन्तु तेल ने क्या किया? वह बहुत ही क्रोधित हुआ और ढँककर पानी के सिर पर चढ़ गया। जैसा कि कवि ने कहा है -

तेल नीर से मिला नहीं ऊपर से ऐँठा,
रोंदा पैरों तले और सिर पर चढ़ बैठा।

पानी अत्यन्त दुखी हुआ, पर करता क्या? मन मसोस कर रह गया। किन्तु समय एक सा तो रहता नहीं। कहा भी जाता है 'वक्त आने पर घूरे के भी दिन फिर जाते हैं।'।

वही हुआ। जब पानी मिले उस तेल को दीपक में डाला गया और बत्ती में तौली लगाई, तो उसने पहले तेल को ही खींचकर जला डाला। यह नतीजा होता है दूसरे का बुरा चाहने वाले का। दूसरे के लिये कुआँ खोदने वाले को स्वयं ही खाई में गिरना पड़ता है। किन्तु अपने क्रोधी और ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण वे अपनी आदत से बाज नहीं आते। एक उदाहरण है -

चमत्कारिक शंख

एक मनुष्य की भक्ति और उपासना से प्रसन्न होकर किसी देवी ने स्वयं प्रकट होकर उसे एक शंख प्रदान किया और कहा - "तुम जो कुछ भी चाहोगे,

इस शंख के बजाने से प्राप्त हो जाएगा, किन्तु यह ध्यान रखना कि तुम्हारे पड़ोसियों को तुम से दुगुना मिलेगा।” भक्त इस बात पर विशेष ध्यान दिये बिना ही प्रसन्नतापूर्वक चला गया उसे शंख के मिलने की ही बड़ी भाँति खुशी थी।

घर जाने पर उसी समय उसने शंख बजाया और इच्छा प्रकट की कि हमारा मकान बड़ा भव्य और सुन्दर बन जाय। शंख के बजते ही उस व्यक्ति का मकान बड़ा ही सुन्दर और आलीशान हो गया। देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। किन्तु कुछ समय बाद जबकि कार्य-वश वह दरवाजे से बाहर निकला तो देखा कि उसके पड़ोसियों के उसके समान अत्यन्त श्रेष्ठ-दो मकान बन गए हैं।

देवी के भक्त को यह बहुत बुरा लगा और उसने बड़ी अश्रद्धापूर्वक उस शंख को मकान के एक कोने में डाल दिया। परन्तु कुछ दिन बाद उसे रूप्यों की बड़ी आवश्यकता पड़ी तो पुनः विवश होकर उसने शंख उठाया और उसे फूँका। शंख के द्वारा उसे उसी क्षण बहुत सा धन मिल गया। पर उससे दुगुना उसके पड़ोसियों को भी मिला।

इस बार तो भक्त क्रोध से आग-झबूला हो उठा और सर्प की तरह फुफकारते हुए बोला - ‘मेरे मकान के आँगन में चार कूँ खूद जायें।’ पलक झपकते ही उसकी इच्छा पूरी हो गई। उसके आँगन में चार और उसके पड़ोसियों के यहाँ आठ-आठ कूँ खूद गए।

भक्त प्रसन्न होता हुआ शंख फिर से बजाते हुए बोला - “अब मेरी एक आँख फूट जाय।” यह भी होना ही था। उसकी एक आँख फूट गई और उसके पड़ोसी तो अपनी दोनों आँखों के फूट जाने से बिलकुल अंधे हो गए। तथा बिलकुल अंधे हो जाने की घबराहट से इधर-उधर दौड़-भाग करने लगे। परिणाम आप सोच ही सकते हैं कि एक तो अंधा होना, दूसरे आँगन में आठ-आठ कूँ का होना। बेचारे एक-एक कर सब कूँ में गिर पड़े और मर गए। ईश्यालु व्यक्ति यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बड़े संतोष का अनुभव करने लगा।

पर बंधुओ, उसका यह संतोष कितना मँहगा पड़ा होगा? इसकी कल्पना आप कर सकते हैं? एक आँख तो फूटी तो फूटी ही, कैसे निबिड़ कर्मों का भी बंध हुआ होगा और कब उन पंचेन्द्रिग्र जीवों की हत्या के पाप से उसे छुटकारा मिला होगा?

यह सब है भावना का परिणाम। दूध ने पानी को अपने में मिलाया तो पानी उसकी रक्षा का कारण बना। तेल ने पानी को नहीं अपनाया तो उसे जलना पड़ा। इसी प्रकार देवी के भक्त से अंतरों की बढ़ती सहन नहीं हुई तो अपनी दुर्भावना के कारण अनेक जन्म-मरण के कष्ट भोगने पड़े।

कर्म-भोग

संसार में जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त होता है वह सब किसी न किसी कारण से छूट सकता है, अथवा मृत्यु के साथ ही छूट जाता है, किन्तु कर्मों से छुटकारा, बिना उन्हें भोगे नहीं हो सकता। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है :-

“अभाग्य से हमारा धन, नीचता से हमारा यश, मुसीबत से हमारा जोश, रोग से हमारा स्वास्थ्य तथा मृत्यु से हमारे मित्र हमसे छिन सकते हैं, किन्तु हमारे कर्म मृत्यु के बाद भी हमारा पीछा करते हैं।”

कोल्टन

तुलसीदास जी ने भी कहा है :-

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जग करइ सो तस फल चाखा।

यह संसार कर्म-प्रधान है। प्राणी को अपने कृतकर्मों को भोगे बिना, छुटकारा नहीं मिलता। जो जैसे कर्म करता है उसे उनके अनुसार फल भोगना ही पड़ता है।

इसलिए बंधुओं! हमें अशुभ कर्मों से बचते हुए शुभ कर्मों के बंध का प्रयत्न करना चाहिए। और वह निर्भर है हमारी भावना और भक्ति पर। जब तक हमारा मन साँसारिक पदार्थों तथा सांसारिक सम्बन्धों में आसक्त रहता है तथा क्रोध, मान, माया तथा लोभादि से विमुख नहीं होता तब तक हृदय में भक्ति के बीज अंकुरित नहीं होते। सच्ची भक्ति मनुष्य तभी कर सकता है जब कि :-

इष्ट अनिष्ट को जोग बने तब, हर्ष विषाद नहीं चित्त आने।

स्व-पर-रूप को बोध जगे, पंच द्रव्य से भिन्न निजातम जाने।

कब आत्मा में सच्ची भक्ति जागती है? जबकि मनुष्य इष्ट का योग होने पर हर्षित न हो अर्थात् सुखकारी प्रसंग उपस्थित होने पर प्रसन्नता जाहिर न करें तथा दुःखद अवसरों के आने पर या संकट के समय धर्म न खोवे और वित्त को आकुल व्याकुल न होने दे।

आपकी आत्मा के स्वरूप को समझने तथा इससे इतर जो पदार्थ हैं उनकी अस्थिरता का ज्ञान करले। जब वह अपनी आत्मा को पर पदार्थों से भिन्न समझने लगेगा, तभी भक्ति की ओर कदम बढ़ा सकेगा। ऋषि ने आगे कहा है -

धाय समान कुटुम्ब को पालत, कर्म बन्धन को उर माने।

सम्यक्दृष्टि करे शिव-साधन, अमृत यो जिन वैन बखाने।

अपने परिवार का पालन-पोषण इसी प्रकार करे, जैसे एक धाय दूसरे के बालक को पालती है। अर्थात् जिस प्रकार धाय की बालक में आसक्ति और समता

नहीं होती उसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी अपर्ण कुटुम्ब का पालन-पोषण करते हुए भी उनसे प्रगाढ़ मोह न रखे। इस प्रकार ज्ञान सम्यक्दृष्टि प्राणी ही शिव-साधन कर सकता है, अपनी आत्मा को कर्म-युक्त कर शिवपुर ले जा सकता है।

आत्मा जब परमात्मा पद को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है तो उसका प्रथम चरण भक्ति ही होता है। भक्ति ही आत्मा को परमात्मा बनने का एक सरल साधन और मार्ग है। पर यह होनी चाहिए भावना युक्त। भक्ति का दिखावा आत्मा को उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता।

इसलिए आवश्यक है कि प्रत्येक शुभ-क्रिया के पीछे शुद्ध भावना हो। अन्यथा शुभ-भावनाओं के अभाव में शुभक्रियाएँ भी निष्फल हो जाएँगी और यह दुर्लभ मानव जीवन व्यर्थ चला जाएगा। किन्तु इसके विपरीत संसार में रहते हुए भी हमारी भावनाएँ संसार से अलिप्त रहकर आत्मा-मुक्ति के प्राप्ति में लगी रहेंगी तो उनके परिणामस्वरूप हमें जन्म-मरण से छुटकारा मिलेगा और अक्षय सुख की प्राप्ति होगी।

• • •

[१७]

रक्षाबंधन का रहस्य

धर्मप्रेमी बंधुओं, माताओं एवं बहनों!

आज रक्षा-बंधन का दिवस है। इसे 'राखी पूर्णिमा' कहा जाता है। हमारा भारतवर्ष एक पर्व प्रधान देश है। संसार के समस्त देशों की अपेक्षा यहाँ पर अधिक पर्व, अधिक त्यौहार मनाए जाते हैं। रक्षा-बंधन का यह दिन भी इन्हीं में से एक है। यह दिन मानव को रक्षा करने की प्रेरणा देता है। पर समझने की बात यह है कि रक्षा किसकी करनी चाहिये ?

रक्षा का मूल रहस्य

साधारणतया रक्षा-बंधन का महत्व बहनों का भाई को राखी बाँधना और उससे अपनी रक्षा के लिये अप्रत्यक्ष प्रार्थना करना माना जाता है। और कोई इसके अधिक दूर आए तो संसार के अन्य प्राणिजों की रक्षा करना भी मान लेता है। किन्तु हमारा धर्म रक्षा के महत्व को उससे भी अग्रे ले जाता है।

हमारे यहाँ आठ प्रकार की दया मानी जाती है। उनमें से एक स्व-दया और दूसरी पर-दया है। पर-दया का अर्थ तो आप भली-भाँति जानते ही हैं कि अपने से अन्य जो समस्त पर-प्राणी हैं उन पर दया करना और उनकी रक्षा करना। किन्तु जो स्व-दया बतलाई गई है उसका मतलब आप में से सभी शायद नहीं जानते होंगे। स्व-दया का अर्थ है अपने आप पर दया करना, अपने आपकी रक्षा करना।

आपको कुतूहल होगा कि अपनी दया के विषय में भी कहने की आवश्यकता है क्या ? अपने आपको कौन कष्ट देता है ? मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी अपने आपको कष्ट नहीं देता। वह भस्मक स्वयं को दुःख और कष्टों से बचाने का प्रयत्न करता है।

भाइयो! अगर आप ऐसा विचार करते हैं तो आपका विचार गलत नहीं है। प्रत्येक मानव अपने आप पर दया करता है तथा स्व-मात्र दुःख भी स्वयं को देना नहीं चाहता। किन्तु उसको समझ में थोड़ी सी भूल रह जाती है। वह भूल क्या है ? यही कि, अपने आपको वह अपना शरीर मात्र ही मानता है। तथा शरीर को ही अधिक से अधिक सुख पहुँचाने की। व तनिक भी कष्ट न देने की कोशिश करता है।

वह यह भूल जाता है कि 'स्व' के सही अर्थ में उसका शरीर नहीं आता वरन् उसकी आत्मा आती है। शरीर तो उसने बहुत पाए हैं, और प्रत्येक बार वे छोड़ने पड़े हैं। कविवर्य पूज्यपाद श्री अमीरख जी महाराज का कथन है :-

कबहुँ जीव यह पायो गज देह स्थूल
कबहुँक लघु तन कंष्ठो कहायो है।
कबहुँक राजा होय शीश पै घसायो छत्र,
कबहुँक देव कभी नग्न निगोद भव,
कबहुँ विकल तन लेई दुःख पायो है।
कहे अमीरख ऊँच गीत भवधारी जीव,
काल ही अनन्त जगमाही यों गमायो है।

पद्य का अर्थ आप समझ ही गए होंगे कि किस प्रकार अनन्त काल से जीव ने नाना प्रकार के, हाथी जैसे बड़े, कुंथुआ जैसे छोटे, राजा जैसे वैभवशाली और भिखारी जैसे दरिद्र, देवता जैसे समृद्धिशाली और नारकीय जैसे असह्य यंत्रणाओं को भोगने वाले शरीरों को पाया है।

पर क्या वे शरीर उसके कहला सकते हैं? नहीं, समय के असीम सागर में एक बिन्दुवत् किसी शरीर को पाकर उसे अपना मानना बड़ी भारी भूल है। अगर कोई भी शरीर उसका अपना होता तो वह छूटता क्यों? शरीर अपना नहीं है इसीलिये वह छोड़ना पड़ता है। और उस पर दया करना व उसकी रक्षा करना 'स्व' की रक्षा नहीं कहला सकती।

स्व-रक्षा

मनुष्य को 'स्व' का सही अर्थ अपने आत्मा से लेना चाहिये। उसे भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि उसकी आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर की कितनी भी हिफाजत क्यों न की जाय, कितनी भी जगन से उसकी रक्षा क्यों न करें वह नष्ट हो जाता है। केवल आत्मा ही उसकी अपनी है, दूसरे शब्दों में वह स्वयं केवल आत्मा के ही रूप में है। अतः 'स्व' दया और 'स्व' रक्षा में उसे अपनी आत्मा का ही ध्यान रखना चाहिए।

दुःख है कि भोला प्राणी नश्वर शरीर को कष्टों से बचाने का प्रयत्न तो करता है पर आत्मा को कष्टों से बचाने का प्रयत्न नहीं करता। अगर वह अपनी आत्मा की रक्षा का ध्यान रखे, उसे कर्म-भोगों से बचाने का प्रयत्न करे तो फिर ये नाना प्रकार के शरीर ही धारण न करने पड़ें। इसीलिये आज रक्षा-बन्धन दिवस से उसे अपनी आत्मा की रक्षा करने की प्रेरणा लेनी चाहिये। आत्मा की कर्म-बन्धनों से रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न यह है कि आत्मा की रक्षा कैसे की जाय? आत्मा को विषय-विकारों

से बचाने और दान, शील तथा तप का भावनापूर्वक आराधना करने से अशुभ-कर्मों का बंध नहीं होता तथा आत्मा कर्म-भोग के कहीं से बचती है।

अभी-अभी शम्भूगढ़ निवासी शोभालाल जी नाहर ने शील-व्रत का नियम लिया। यह भी आत्मा की रक्षा है। भाई पुरुषराज जी ने सपत्नीक आज इकत्तीस किये हैं, यह भी आत्मा की रक्षा के लिये है।

आज ही कपासन में रहने वाले नाथूलाल जी ने 'बीरवाल' प्रवृत्ति का परिचय आपको दिया। वास्तव में जहाँ एक अत्मा को भी परमार्थ की ओर मोड़ना बड़े लाभ का और उत्तम कार्य है, वहाँ इन्होंने सैकड़ों और हजारों व्यक्तियों को इस मार्ग पर बढ़ा दिया। इस कार्य में सुमेरुमुनि जी, तथा और भी मुनिराजों ने योग दिया था।

मुझे अफसोस है कि सुमेरुमुनि जी जिस विभाग में दीक्षित हुए थे, उसे छोड़ कर दूसरी प्रवृत्ति में चल गए। लोगों के लाख समझाने पर भी नहीं माने मेरे कानों में यह भी आवाज आई थी कि उन्होंने बीरवाल समाज को भी अपनी प्रवृत्ति में आने का आग्रह किया था। किन्तु बीरवाल भाई अत्यन्त समझदार हैं। उन्होंने कह दिया हम अपनी श्रद्धा को कायम रखेंगे। ऐसी दृढश्रद्धा रखने वाले व्यक्ति ही अपनी आत्मा की रक्षा कर सका हैं, तथा दृढश्रद्धा रखने वाले ऐसे समाज का रक्षण करने वाले व्यक्ति भी रक्षा-बंधन का महत्त्व समझते हैं यह मानना चाहिये।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य को अपनी स्वयं की रक्षा, अर्थात् अपनी आत्मा की रक्षा अवश्य करनी चाहिये। अगर ऐसा न किया गया तो आत्मा को अनंतकाल तक पुनः पुनः शरीर धारण करने की तथा नाना प्रकार की यन्त्रणाएँ भिन्न-भिन्न योनियों में जन्मधारण करने पर भुगतनी पड़ेगी। इन सबसे बचने के लिए आत्म-रक्षा करना अनिवार्य है। तभी हमारा रक्षा-बंधन के त्योंहार को मानना सच्चे मायने में सार्थक होगा।

इसके अलावा रक्षा-बंधन का साधनार्थ आप जानते ही हैं। कहा भी जाता है—

रक्षा आई रे। सब जीवां ताई यह प्रदेश लाई रे।

बहिन भाई के रक्षा बांधे लीजे मां निभाई रे।

अरे सासलिये गाज सकूँ पीहर में फाई रे।

रक्षा आई ।

अर्थात् रक्षा करने का दिन आया है। बन्धुओ, तुम प्राणीमात्र की रक्षा करो! जो भी प्राणी संकटमय अवस्था में हैं, और जिन्हें भी सहायता की आवश्यकता है, सभी को अपनी शक्ति के अनुसार सहायता प्रदान करो तथा उनका रक्षण करो। यही रक्षा-बन्धन का संदेश है।

बहिन भी भाई से कहती है - मेया! मैं तुम्हें राखी बाँध रही हूँ। इसके बदले मैं तुम मुझे निभाते रहना! तुम्हारे बल पर ही मैं ससुराल में गौरवपूर्वक रह सकूँगी।

पद्य में रक्षा-बन्धन का महत्त्व केवल बहन-भाई के लिये ही नहीं, वरन् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के लिये बताया है। वैश्यों अर्थात् वणिक् के लिये कहा गया है :-

रक्षा बांधे वणिक कलम के और दवातां के ताँई रे।

प्रतिज्ञा है नीति धर्म से करै लमाई रे॥

रक्षा आई रे।

व्यापारी किसको राखी बाँधते हैं? अपनी कलम को, जिससे वे लिखते हैं। और दूसरे दवात को, जिसमें स्याही रखते हैं। वे कलम और दवात को राखी बाँधकर प्रार्थना करते हैं कि हमें अनीति और अन्याय के मार्ग पर जाने से रोकना, हमारी लेखनी से किसी की रोजी न चली जाय अथवा उसे और किसी प्रकार का नुकसान न उठाना पड़े। तुलसीदास जी ने कहा है -

‘नीति न तजिये राज पद पाये।’

मनुष्य को कितना भी वैभव क्यों न प्राप्त हो जाय, अथवा कैसी भी दरिद्रावस्था में उसे रहना पड़े, नीति का त्याग नहीं करना चाहिये।

आज के व्यक्ति धन की लालसा के कारण इस बात का ध्यान नहीं रखते और ‘येन-केन-प्रकारेण’ पैसा पैदा करने में लगे रहते हैं। झूठे सच्चे दस्तावेज बनाकर गरीबों का गला काटते हैं। इसीलिये दुनियाँ उन्हें ‘कलम-कसाई’ के नाम से पुकारती है। जिन्हें दुनियाँ अब तक महाजन कहती थी, उन्हीं को ‘कलम-कसाई’ की उपाधि से विभूषित होना पड़ता है। तथा अनीति के मार्ग पर चलने से कर्मों का निबिड बंध होता है वह अलग। सारांश यह कि अनीति से अर्थोपार्जन करने वालों का अपयश के कारण यह लोक तो बिगड़ता ही है, परलोक में भी शांति नहीं मिलती।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कलम को रक्षा-बन्धन बाँधते हुए दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि इसके द्वारा मैं कभी असत्य नहीं लिखूँगा, अनीति के कार्यों में यह लेखनी नहीं चलेगी तथा अपने लिखे हुए प्रत्येक शब्द का मैं प्राण देकर भी पालन करूँगा, कभी अपने वायदे से हटूँगा नहीं। बात के धनी व्यक्ति ऐसा ही करते हैं।

मैं अपनी लेखनी को नहीं बदल सकता!

रातेड़ा नामक गाँव में एक सेठ रहते थे। नाम था रजकिशोर। उनका व्यापार चारों ओर फैला हुआ था, जिसमें एक तम्बाकू का व्यापारी भी था।

एक बार तम्बाकू के भाव बहुत गिर गए, किन्तु उनके एक मुनीम ने, जो सेठजी की जयगंज में रही हुई दुकान पर काम करते थे, तम्बाकू के तीन जहाज खरीद लिये तथा सेठजी को यह बात लिख दी।

सेठजी मुनीम के इस कार्य से बहुत असन्तुष्ट और नाराज हुए तथा मन की उसी स्थिति में मुनीम को लिख दिया - "आजकल तम्बाकू का भाव बहुत गिर गया है। इसलिये इतना तम्बाकू क्यों खरीदा?" साथ ही सेठजी ने यह भी लिख दिया कि 'इस समय खरीदी हुई तम्बाकू के हानि-लाभ के तुम ही जिम्मेदार रहोगे।'

मुनीम बड़ा ही वफादार और ईमानदार व्यक्ति था। उसने सोचा कि सेठ लोग तो इसी प्रकार कहा करते हैं और जहाँ व्यापार में मुनाफा होता है तो धन को चुपचाप अपनी तिजोरी में रख लेते हैं। उसने प्रत्युत्तर में कुछ नहीं लिखा।

भाग्यवशात् कुछ दिनों के बाद ही तम्बाकू का दाम बहुत चढ़ गया और उसमें लाखों रूपयों का मुनाफा हुआ।

मुनीम ने लाभ का सब रूपया अपने सेठ को भेज दिया।

किन्तु सेठ ने क्या किया आप अन्दाज लगा सकते हैं? उन्होंने वह सब रूपया मुनीम को लौटा दिया और लिखा - "मुझे धन का लोभ नहीं है। आपने जिस समय तम्बाकू का सौदा किया था, उसी समय मैंने लिख दिया था कि इस सौदे की लाभहानि के जिम्मेदार आप ही हैं। साथ ही वह सौदा मैंने आपके नाम लिख दिया था। अब उसमें लाभ हुआ है तो खुशी की बात है, पर यह पैसा मैं नहीं ले सकता। क्योंकि मैंने अपनी लेखनी से एक बार जो लिख दिया उसे बदलूँगा नहीं। आप ही इस लाभ के हकदार हो और इसे ग्रहण करो।"

अपने लिखे हुए पर दृढ़ रहकर लेखनी का गौरव बढ़ाने वाले ऐसे विरले व्यक्ति ही होते हैं। इसी को लेखनी की रक्षा करना कहा जाता है। और रक्षा-बंधन के दिन व्यक्ति को इसी प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

पद के आगे क्षत्रियों के रक्षा-बंधन के श्लेष में भी कहा गया है-

क्षत्रिय खड्ग के राखी बांधे, प्रजा रक्षा ताँड़ रे।

दीन गरीब को कोई भी, नहीं सँभ सँभई रे।

रक्षा आइ रे।

क्षत्रिय पुरुष रक्षा-बंधन के दिन अपनी तलवार को राखी बाँधते हैं। वह किसलिये? इसलिये कि उनकी तलवार प्रत्येक प्राणी की रक्षा करे, कोई भी अत्याचारी व्यक्ति दीन-दुखी तथा असहाय व्यक्ति पर अत्याचार न कर सके तथा ऐसा अवसर आने पर उनकी तलवार अत्याचार का प्रतिकार कर सके।

क्षत्रिय की परिभाषा देते हुए बताया गया है :-

“क्षतं दुःखं क्षतात् दुःखात् त्रायते इति क्षत्रियः।”

क्षत्रिय वही है जो दुखियों के दुखों का निवारण करे। बड़े-बड़े राजा युद्ध करते हैं वह किसलिये? प्रजा के दुखों का निवारण करने के लिये। प्रजावत्सल और न्यायी राजा के हृदय में सदा यही भावना रहती है कि उसके राज्य में एक भी व्यक्ति दुखी, भूखा या नंगा न रहे। जो राजा ऐसी भावना नहीं रखता तथा अपनी प्रजा के कष्ट-निवारण का प्रयत्न नहीं करता वह राजा, राजा नहीं कहला सकता। तुलसीदास जी ने तो यहाँ तक कहा है :-

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, संनृप अवसि नरक अधिकारी।

अर्थात् जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है, वह निश्चय ही नरकगामी होता है -

कहने का अभिप्राय यही है कि तलवार हाथ में रहते हुए भी जो व्यक्ति औरों के दुख दूर नहीं करता। वह अपनी तलवार का अपमान करता है और उसे तलवार रखने का अधिकार नहीं। प्राचीन काल में क्षत्रिय अपने कर्तव्य का किसी भी हालत में त्याग नहीं करते थे। प्रत्येक क्षत्रिय आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी संकटग्रस्त प्राणियों के संकट का निवारण करता था तथा शरणगत की रक्षा करने से कभी हँस नहीं मोड़ता था चाहे वह शत्रु पक्ष का ही क्यों न होता।

राजा अधिकतर क्षत्रिय ही होते थे और इसीलिये उन पर जनता को खुशहाल रखने की तथा उनके दुखों को दूर करण की जिम्मेदारी होती थी। वीरत्व क्षत्रियों का ही मुख्य गुण माना जाता है। वैश्य तमग कलम चला सकते हैं, तलवार चलाना नहीं जानते। तलवार के धनी क्षत्रिय ही होते हैं, और इसीलिए वे अपने वीरत्व का संचमात्र भी अपमान नहीं सह सकते। एक घृदाहरण है -

क्षत्रियत्व का सबूत

एक राजा के दरबार में दो क्षत्रिय युवक आए, और उन्होंने राजा से अपनी सेना में भर्ती करने की प्रार्थना की।

राजा ने उन्हें कभी देखा नहीं था अतः परदेशी मानकर कहा - “तुम लोग मेरे राज्य के निवासी नहीं हो अतः तुम्हारे वीरत्व और क्षत्रियत्व का मैं कैसे विश्वास करूँ ?

अपने क्षत्रियत्व और वीरत्व के बारे में राजा का अविश्वास जानकर दोनों युवकों के गौरव को बड़ी चोट पहुँची। उन्होंने राजा से कहा -

“महाराज! हम आपको अपने वीर और क्षत्रिय होने की किसी से गवाही

तो नहीं दिलवा सकते क्योंकि यहाँ हमें जानने वाला कोई नहीं है। किन्तु आप इस बात पर तो विश्वास कर ही सकते हैं कि जो व्यक्ति वीर और क्षत्रिय न हो वह इस प्रकार अपने प्राण कदापि नहीं दे सकता।”

यह कहने के साथ ही दोनों युवकों ने अपनी तलवारें एक दूसरे के हृदय के आर-पार कर दी और क्षण भर में ही अपने सच्चे क्षत्रिय होने का सबूत देते हुए चिर-निद्रा में निम्न हो गए।

समस्त दरबारी युवकों की ओर दौड़े पर युवक तो उसके समीप आने से पहले ही अपना कार्य समाप्त कर चुके थे। राजा यह देखकर किर्कतव्यमूढ़ हो गया। अपनी वीरता की इस प्रकार परीक्षा देने वाले युवकों के लिए उसका हृदय महान् पश्चात्ताप से भर गया और उसी सम्प्र दरबार स्थगित कर उन दोनों सच्चे क्षत्रियों का अत्यन्त सम्मान और आदरपूर्वक अन्तिम संस्कार करने की लोगों को आज्ञा दी।

बंधुओ, इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्षत्रियों के वीरत्व का मुकाबला और किसी भी वर्ण का व्यक्ति नहीं कर सकता। ऐसे ही क्षत्रिय दीन-दुखी प्राणियों की रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं। तथा पद्य के अनुसार रक्षा-बन्धन का त्याग क्षत्रियों को इसी बात की प्रेरणा देता है।

पद्य में आगे कहा है :-

ब्राह्मण सेठ क्षत्रिय के बांधे, देखो रक्षा जाई रे।

धर्म और धार्मिक की रक्षा, करो सदाई रे॥

रक्षा जाई रे।

ब्राह्मण जो हैं, वे वैश्य और क्षत्रियों को राखी बाँधते हुए कहते हैं - ‘धर्म और धर्मात्मा दोनों की रक्षा करो।’ सच्चा धर्म पापों को समूल नष्ट करके मुक्ति का मार्ग-प्रदर्शन करता है। वह किसी भी अन्य धर्म का विरोध नहीं करता। और वह सच्चा धर्म ही नहीं होता जो ऐसा करता है। कहा भी है :-

धर्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्मं तत्।

धर्माविरोधी यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः॥

जो धर्म अन्य धर्म को बाधा पहुँचाता है वह धर्म नहीं कुधर्म है। किन्तु जो धर्म का अविरोधी है, सत्य पराक्रमशील है, धर्म वही है।

तो सच्चे धर्म की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। साथ ही धर्म का स्वयं कोई रूप नहीं होता अतः जिस व्यक्ति के हृदय में वह स्थित है ऐसे धार्मिक व्यक्ति की रक्षा करना भी अनिवार्य है। यही पद्य में लिखा है -

धर्म और धार्मिक की रक्षा करो सदाई रे!

सीधे-साधे शब्दों में कितनी महत्वपूर्ण बात कह दी गई है? संस्कृत में भी यही कहा गया है:-

‘न धर्मो धार्मिकिर्विना।’

धर्म धर्मों के बिना नहीं रहता। दोनों एक दूसरे पर अवलंबित होते हैं। धर्म धर्मों की अपेक्षा करता है और धर्मों धर्म की। धर्म के अभाव में जीवन एक विडंबना बन जाता है। महात्मा गाँधी ने धर्म का महत्व बताते हुए कहा है -

‘बिना धर्म का जीवन बिना सिद्धान्त का जीवन होता है। और बिना सिद्धान्त का जीवन वैसा ही है जैसे कि बिना पतवार का जहाज। जैसे बिना पतवार का जहाज मारा-मारा फिरेगा उसी तरह धर्महीन मनुष्य भी संसार सागर में इधर से उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी भी अपने अगोष्ठ स्थान तक नहीं पहुँचा सकेगा।’

— गाँधीजी

महापुरुषों के विचारों का सारांश यही है कि धर्म का त्याग करना जीवन में अमंगल को आमन्त्रित करने के समान है क्योंकि धर्म आत्म-विकास का साधन है और हमें आचरण की शिक्षा देने वाला है। आचरण हीन जीवन जीवन नहीं है। दूसरे शब्दों में जिस क्षण मनुष्य का आचरण गिरना अथवा गलत होना शुरू हो जाता है, वहीं उसके जीवन की समाप्ति प्रारम्भ हो जाती है।

इसीलिये, अहिंसा, संयम, और लग्न जो कि आत्मा के निज गुण हैं तथा दूसरे शब्दों में धर्म के नाम से पुकारे जाते हैं, इनके विपरीत चलना, विपरीत आचरण करना धर्म को नष्ट करना है। और ऐसा करने से इनकी क्या प्रतिक्रिया होती है इस विषय में कहा गया है :-

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतो वधीत।

— वेदव्यास

मारा हुआ धर्म हमको मारता है और हमसे रक्षा किया हुआ धर्म हमारी रक्षा करता है, इसीलिये धर्म का हनन नहीं करना चाहिए, जिससे तिस्कृत धर्म हमारा विनाश न करे।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि आज के इस शुभ दिवस पर हम केवल प्राणियों की रक्षा करने का ही व्रत न लें, अपितु धर्म की तथा धर्मों की रक्षा करते रहने का भी निश्चय करें। जो भी साधु, साध्वी और धर्मात्मा श्रावक व श्राविकाएँ हैं, उनकी रक्षा करने का भरपूर प्रयत्न करें। साधु-सन्त आपसे शारीरिक सेवा नहीं लेते। उनकी अपनी जो मर्यादा है, उसे ध्यान में रखते हुए सेवा करनी चाहिए। रक्षा-बन्धन का दिन यही सन्देश देता है।

अब पद्य का अन्तिम चरण आपके सामने अता है :-

रक्षा बन्धन को यो मतलब, सारो सागड़ो भाई रे।

चौधमल ने राणाजी को, रक्षा सुनाई॥

रक्षा आई रे॥

इस कविता के रचयिता प्रसिद्ध वक्ता श्री चौधमलजी महाराज हैं। आपने जिस प्रसंग पर इसका निर्माण किया था वह धपनी कविता में बता दिया है। कहा है - 'यह रक्षा-बन्धन का दिवस प्रेरणा देता है, यह सब मैंने राणाजी को सुना दिया है।'

बन्धुओ! आशा है, आप भी 'रक्षा-बन्धन' के इस दिन का महत्व भली-भाँति समझ गये होंगे कि यह दिन केवल बहनों व भाई को राखी बाँधना और बदले में भाई का बहन को रूपया-पैसा या वस्त्र और आमूषण दे देना ही नहीं बताता। यह दिवस स्व और पर की तथा धर्म और धर्मी की रक्षा करने की प्रेरणा भी देता है। और इस प्रकार आत्मोन्नति का साधन बनकर जीवन के लिए वरदान-रूप साबित होता है।

• • •

[१८]

अमरता की ओर !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल खग्रास चन्द्रग्रहण था अतः आज अस्वाध्याय होने के कारण शास्त्रीय मूल पाठ नहीं बोला जा सकता, क्योंकि खग्रास या चन्द्रग्रहण में स्वाध्याय नहीं करना चाहिए यह शास्त्र की आज्ञा है।

इसलिए आज एक दूसरा ही वाक्य ब्रह्मा हूँ :-

“आद्याणं ज्ञाणाहि”

इसी का संस्कृत अनुवाद है :-

“आत्मानं विधि।”

दोनों का अर्थ है - आत्मा का पहचानना। प्रश्न उठता है कि आत्मा किसे कहते हैं? एक जैनाचार्य ने आत्मा की व्याख्या इस प्रकार की है -

“अतति सातत्येन गच्छति चतुस्शीतिलक्ष्योनी कर्मवशात् इति आत्मा।”

अर्थात् - जो कर्मों के वश में होकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है, वह आत्मा है।

कर्मों के बन्धन में बँधे रहने के कारण ही आत्मा को नाना-योनियों में भटकना पड़ता है। जिस दिन कर्मों का शून्य हो जाएगा, उस दिन उसका भटकना बन्द हो जाएगा, तथा कर्मों से मुक्ति मिल जाएगी।

प्रत्येक मनुष्य जो भी जप, तप, सत्संग, शास्त्र-श्रवण, परोपकार, दान व धर्मक्रियाएँ करता है, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिए ही करता है। किन्तु उसमें श्रद्धा व भावना की कमी अथवा अभाव होने के कारण उसे इच्छितफल प्राप्त नहीं हो पाता अर्थात् वह कर्म-मुक्त नहीं हो पाता तथा उसकी आत्मा का भव-भ्रमण जारी रहता है।

हमारे शास्त्रों में आत्मा आठ प्रकार की बताई गई है। सुनकर आपको आश्चर्य होगा कि वह तो एक ही है फिर आठ प्रकार उसके कैसे हुए? मैं आपको यही बताने जा रहा हूँ, पर पहले यह बतादूँ गेके वे आठ प्रकार कौन-कौन से हैं जो

शास्त्रों में वर्णित हैं।

जिन व्यक्तियों को 'पच्चीस बोल' का थोकड़ा आता है, वे आठों प्रकार की आत्माओं को समझते होंगे वे इस क्रम से हैं:- १) द्रव्य-आत्मा २) कषाय-आत्मा ३) योग-आत्मा ४) उपयोग-आत्मा ५) ज्ञान-आत्मा ६) दर्शन-आत्मा ७) चास्त्रि-आत्मा ८) वीर्य-आत्मा।

१. द्रव्य-आत्मा

द्रव्य-आत्मा प्रत्येक में है। जो जीव है उन सब में द्रव्य आत्मा है। मैंने आत्मा की व्याख्या तो की, पर जीव की व्याख्या क्या है? जो भूतकाल में जीता था, वर्तमान में जीता है और भविष्य में जैगिगा, उसे जीव कहते हैं। जीव का कभी नाश नहीं होता। कर्मों का क्षय हो जाने पर सिद्धगति में जाणा तब भी जीव का जीव रहेगा। उसका कर्मों से सम्बन्ध कब तक है? जब तक वह चौरासी-लक्ष योनियों में भटकता है तभी तक। और तब तक ही वह द्रव्य आत्मा कहलाता है।

२. कषाय-आत्मा

द्रव्य आत्मा के पश्चात् दूसरा नम्बर आता है, कषाय-आत्मा का। कषाय-आत्मा हम किसे कहेंगे? क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार प्रकार के कषाय हैं जो आत्मा को कर्म-बन्धनों में जकड़ते हैं। कहा गया है।

“आत्मानं कषयति इति कषायः।”

अर्थात् जो आत्मा को कसते हैं, वे कषाय हैं। दूसरे शब्दों में जिनके कारण आत्मा को पुनःपुनः जन्म-मरण की प्राप्ति हो उन्हें कषाय कहा जाता है। इन चारों कषायों के कारण आत्मा का जितना अहित होता है, उतना और किसी भी निमित्त से नहीं हो सकता। कषाय कर्म-बन्धन के मुख्य और प्रबल कारण होते हैं। इनके द्वारा क्लृप्ति हुई आत्मा में सम्यक्ज्ञान, सम्प्रकृद्दर्शन और सम्यक्चास्त्रि का समावेश नहीं हो सकता। जैसा कि सूरदास जी ने कहा है :-

“सूरदास की काली कंबरिणा चढ़त न दूजो रंग।”

जिस प्रकार काले रंग के कम्बल पर दूसरा कोई भी रंग चढ़ाना चाहें तो नहीं चढ़ सकता, इसी प्रकार कषायों से जो आत्मा काली हो जाती है उस पर कोई भी अन्य सदगुण-रूपी रंग नहीं चढ़ता अर्थात् किसी भी गुण का हृदय में प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा के पतन में मूल कारण कषाय ही होते हैं। ज्यों-ज्यों कषायों की तीव्रता बढ़ती जाती है, आत्मा की स्वाभाविक धमक मंद होती जाती है। तथा उसमें रहे हुए सदगुण नष्ट हो जाते हैं। हमारे शास्त्रों में कहा भी गया है :-

करोहो पीड़ पणासेइ, माणो विणाय-नासणो।
माया भित्ताणि नासेई, लोभो रुख विणासणो॥

दशवैकालिक सूत्र

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता को नष्ट करती है तथा लोभ समस्त सद्गुणों को नष्ट कर देता है।

इस प्रकार कषाय आत्मा के सद्गुणों का नाश करके उसे दुर्गुणों का भंडार बना देते हैं तथा उन अवगुणों के द्वारा बँधने वाले कर्मों के कारण आत्मा को संसार सागर में भटकना पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि आत्मा का कषाय-आत्मा क्यों कहा गया है? एक उदाहरण से आप इसे समझ सकेंगे। जैसे जल अपने स्वाभाविक रूप में श्वेत शुद्ध और निर्मल होता है किन्तु उसे ही बोतलों में भरकर उनमें लाल, पीला या हरा रंग डाल देने से वह लाल, हरा या पीला जल कहलाने लगता है। उसी प्रकार आत्मा अपने सहज रूप में शुद्ध और निर्मल होती है किन्तु उस पर क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायों का रंग चढ़ जाने से अर्थात् उसमें कषायों का प्रवेश हो जाने से क्लृप्ता आ जाती है तथा ऐसी आत्मा कषाय आत्मा कहलाने लगती है।

३. योग-आत्मा

योग-आत्मा आत्मा का तीसरा प्रकार है। योग तीन होते हैं, मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इन तीनों योगों सहित जी आत्मा होती है उसे योग-आत्मा कहते हैं। आप शंका कर सकते हैं कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पतियों के मन योग नहीं है, वचनयोग भी नहीं है फिर क्या उनमें आत्मा नहीं है? उत्तर इसका यही है कि पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि में मन और वचनयोग नहीं है पर काययोग तो है ही। अर्थात् शरीर उनमें है। तात्पर्य यह है कि तीनों योगों में से जहाँ एक भी योग हो, उसे योग-आत्मा कहते हैं।

४. उपयोग-आत्मा

उपयोग बारह हैं। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन ये बारह उपयोग होते हैं, और इन बारह उपयोगों में से कोई भी उपयोग प्राप्त हो वह आत्मा उपयोग-आत्मा कहलाती है।

५. ज्ञान-आत्मा

आत्मा जब ज्ञान में समण करती है, अर्थात् चिन्तन करती है - आत्मा का निजी गुण क्या है? यह क्यों भव-भ्रमण करती है? इसकी मुक्ति कैसे हो सकती है? मुझे क्या करना चाहिए? मृत्यु-जन्म सार्थक कैसे किया जा सकता

है? ऐसा विचार करें तब वह ज्ञान-आत्मा कहलाती है।

ज्ञान का मूल्य बहुमूल्य रत्न से भी अधिक है। आत्मा में ज्ञान की ज्योति जलते ही मिथ्यात्वरूपी अंधकार का समूल नाश हो जाता है। श्री कृष्ण ने गीता में ज्ञान का महत्व बताते हुए कहा है :-

यथैधांसि समिधोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तन्ना।

भगवद्गीता

हे अर्जुन! जैसे जलती हुई अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर नष्ट कर देती है।

मानव का अस्तित्व आत्मा के सन्दर्भ में ही है। आत्मा के अतिरिक्त संसार में जो कुछ भी है, वह जड़ है तथा अनित्य है। अतः जब मुमुक्षु अपनी आत्मोन्नति अथवा मुक्ति के विषय में विचार करता है तो इसे स्वाभाविक रूप से ही आत्मा के विकास तथा विशुद्धि का विचार करना होता है। पर यह सब कैसे हो सकता है? ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है :-

“न ज्ञानात्परं चक्षुः।”

भौतिक पदार्थों के और आध्यात्मिक कर्तव्यों के स्वरूप को समझने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी कोई आँख इतनी शक्तिशाली नहीं हो सकती है।

ज्ञान ही मानव की आत्मा का सबसे अधिक हितैषी है, अतः उसका प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण उपयोग करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करके भी अगर उसका उपयोग नहीं करता तो उसका ज्ञानी बनना सर्वथा निरर्थक हो जाता है। संसार में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं :-

- १). पहले तो वह, जो ज्ञान प्राप्त करके भी उसे जीवन में नहीं उभारते।
- २). दूसरे वे, जो शास्त्र-ज्ञानी न होकर भी जीवन में सिद्धान्त का साक्षात्कार करते हैं।
- ३). तीसरे वे, जो शास्त्र ज्ञान भी प्राप्त करते हैं, और सत्य का आत्मानुभव भी करते हैं तथा -
- ४). चौथे वे, जो न शास्त्र का अभ्यास करते हैं और न ही सत्य का आचरण करते हैं।

इनमें से दूसरे और तीसरे प्रकार के व्यक्ति श्रेष्ठ होते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति जो ज्ञान प्राप्त न करके भी सिद्धान्त का साक्षात्कार करते हैं, उनमें सहज ही करुणा, सत्य, परोपकार और सेवा के भाव पाये जाते हैं अतः वे अक्षर ज्ञान

से अनभिज्ञ होते हुए भी ज्ञानी ही कहलाते हैं।

और तीसरे प्रकार के व्यक्ति तो आगम का गहन ज्ञान करते ही हैं। साथ ही सत्य का आत्मानुभव भी करते हैं अतः वे ज्ञान-प्राप्ति और जीवन में उसका उपयोग भी करने के कारण श्रेष्ठतम मार्ग जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मानव को अपनी आत्मा में ज्ञान की दिव्य-ज्योति जलाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए तथा जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होने का प्रयास करते रहना चाहिए। ऐसा करते रहने पर कोई कारण नहीं है कि कालांतर में आत्मा मुक्त न हो। शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है :-

“ज्ञानमोक्षः”

सम्यक्ज्ञान प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हुआ करती है।

तो मैं बता यह रहा था कि जो आत्मा सम्यक्ज्ञान प्राप्त कर लेती है तथा उसमें रमण करती है वह ज्ञान-आत्मा कहलाती है। जिन भव्य प्राणियों का हृदय चिन्तन, स्वाध्याय और तत्त्विक चर्चा आदि में रस लेता है, ज्ञान-प्राप्ति में तल्लीन हो जाता है उस समय उसकी आत्मा ज्ञान-आत्मा के रूप में रहती है।

६. दर्शन-आत्मा

दर्शन यानि श्रद्धा। जिसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, उसे देवता भी आकर चलायमान करना चाहें तो नहीं कर पाते। अरण्यक श्रावक के विषय में आप जानते ही होंगे। वे जब समुद्रयात्रा कर रहे थे, तब मिथ्यात्वी देवता ने आकर उनसे धर्म-त्याग करने को कहा और उसका त्याग न करने पर उनके जहाज को भयंकर हिचकोले देते हुए डुबाने की धमकी दी। किन्तु क्या वे चलायमान हुए? उनकी श्रद्धा रचमात्र भी कम हुई? नहीं। इसी प्रकार कामदेव श्रावक को भी अपने धर्म से च्युत करने के लिए देवता ने तीन प्रकार के संकटों में डाला। भयंकर पिशाच, हाथी और सर्प के रूप में आकर डराने और डिगाने का प्रयत्न किया किन्तु तिलमात्र भी डिगा नहीं सका। यह क्यों? इसलिये कि उनकी दर्शन-आत्मा सर्वथा शुद्ध थी। उनकी श्रद्धा मजबूत और अडोल थी। वे जानते थे कि उपसर्ग से उनके शरीर का नाश हो सकता है, पर आत्मा का नहीं। श्रद्धा की शक्ति के द्वारा ही वे संकटों और पापों का मुकाबला करने के लिए तैयार होते हैं तथा उन पर विजय प्राप्त करते हैं। महाभारत में कहा भी गया है :-

“जहाति पापं श्रद्धावान् सर्वो जीर्णमिव त्वचम्”

श्रद्धावान् पुरुष पापों का इस प्रकार परित्याग कर देता है जैसे सर्प अपनी जीर्ण-शीर्ण केंचुली का त्याग करता है।

महात्मा गाँधी जी ने भी श्रद्धा का बड़ा महत्व बताया है। कहा है -

“श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास का अर्थ है ईश्वर

पर विश्वास।”

दृढ़ आस्था रखने वाले व्यक्ति का आत्मा पर या ईश्वर पर अखण्ड विश्वास होता है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

एक बार ही राम-नाम लेना काफी है

एक बार एक राजा से ब्रह्म-हत्या हो गई। इस घोर पाप का प्रायश्चित्त लेने के लिए वह एक ऋषि के यहाँ गया।

ऋषि कहीं बाहर गए हुए थे, पर उनके पुत्र आश्रम में था। राजा ने उसी से अपने पाप का प्रायश्चित्त बताने के लिए कहा।

ऋषि के पुत्र ने राजा की बात सुनकर कहा - “राजन्! आप तीन बार राम का नाम लीजिये! आपके पाप का प्रक्षालन हो जाएगा। राजा ने यह बात स्वीकार की और वहाँ से चला गया।

शाम को ऋषि आश्रम में लौट कर आए तब उनके पुत्र ने राजा के विषय में सारी बात बताई। पर ऋषि ने जब पुत्र के द्वारा दिये गए प्रायश्चित्त विधान की बात सुनी तो बहुत रुष्ट हुए और बोले - “तूने यह क्या किया? दृढ़श्रद्धा-पूर्वक भगवान का नाम एक बार लेने से ही तो शसंख्य जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर तूने राजा से तीन बार राम का नाम लेने के लिये कैसे कहा? क्या तेरा विश्वास इतना कम है जो तीन-तीन बार राम का नाम लेना पड़ेगा?”

पुत्र अपने पिता की यह ताड़ना सुनकर अत्यन्त शर्मिदा हुआ और अपनी भूल के लिए क्षमा माँगी।

ऋषि के समान ही जिस व्यक्ति की श्रद्धा मजबूत होती है वही अपने पापों का समूल नाश कर सकता है, तथा अग्नि, व्याधि एवं उपाधि रूप त्रयतापों से मुक्त हो सकता है।

श्रद्धा ही आत्मोत्थान का मूल कारण है। श्रद्धा के अभाव में कोई भी मानव इस भव-सागर से पार उतरने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि देव, गुरु और धर्म में सच्ची श्रद्धा रखने से क्या नहीं हो सकता? जब कि -

तारे गीतमादि कुवचन के कहनहारे,

गोशालक जैसे अविनीतः को उधारे हैं।

चंडकोश अहि देइ सम्यक् निहाल गैक्यो,

सती चंदना के सबे संकाउ विदारे हैं।

महा अपराधी के न आने अपराध सर,

शासन के स्वामी ऐसे दीन रखवारे हैं।

कहे अमीरिख मन राखरे भरोसं दृढ़,
ऐसे ऐसे तारे फिर तोड़ि क्यों न तारे हैं।

प्रौढ़कवि पूज्यपाद श्री अमीरखि जेो महाराज दृढ़ विश्वास और आस्थापूर्वक चेतन से कहते हैं कि जब शासनस्वामी भगवान महावीर ने कटुवचन बोलने वाले गौतम को, अविनीत और निन्दक गोशालक को तथा महाविषधर चंडकौशिक आदि को सम्यक्त्व प्रदान कर निहाल कर दिया, तथा चंदना जैसी महासतियों के समस्त संकटों को दूर किया, ऐसे महान अपराधियों के अपराधों पर ध्यान न देने वाले वीर प्रभु तुझे क्यों नहीं तारेंगे। अर्थात् अवश्य तारेंगे और तू कर्म-मुक्त होकर शिवपुर का अधिकारी बनेगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु के हृदय में सम्यक् श्रद्धा या सम्यक्दर्शन दृढ़ होना चाहिए तथा ईसा दृढ़ सम्यक्त्व जिस आत्मा में होता है वह आत्मा दर्शन-आत्मा कहलाती है।

७. चारित्र-आत्मा

चारित्र कहलाता है - श्रावक धर्म, साधु धर्म तथा व्रत नियमादि अंगीकार करना। जो व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से इन्हें ग्रहण करता है, उसकी आत्मा चारित्र आत्मा कहलाती है।

चारित्र जीवन का अमूल्य धन है। तथा धर्म का मूल है। कहा भी है

:-

“क्रियाहीने न धर्मः स्यात्।”

व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान आदि रूप क्रियाओं के अभाव में धर्मोत्पत्ति नहीं होती है। क्योंकि :-

“आचारः प्रथमो धर्मो गुणो श्रेयस्करो महान्।”

सात्त्विक आचार ही पहला धर्म है और यही मनुष्यों के लिए महान् कल्याणकारी है।

चारित्र का जीवन में बड़ा महत्त्व है। यहाँ तक कि, मनुष्य चाहे जितना भी विद्वान और ज्ञानवान् क्यों न बन जाय, अगर उसमें चारित्र गुण नहीं है तो उसकी विद्वत्ता और उसका अगाध ज्ञान भी निरर्थक हो जाता है। कहा गया है

:-

“क्रियाविरहितं हन्त ! ज्ञानमात्रमनर्थकम्।”

ज्ञान-सार

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उस ज्ञान को निरर्थक ही समझो,

जो कि व्रत-नियम तथा त्याग-प्रत्याख्यान आदि क्रियाओं से रहित है।

इसलिए मुक्ति के अभिलाषी प्रत्येक मनव को अपनी आत्मा, चारित्र-गुण से अलंकृत करनी चाहिए। तथा उसे सदैव अर्थों में चोरेत्र-आत्मा साबित करनी चाहिए।

८. वीर्य-आत्मा

जो व्यक्ति सम्यक्ज्ञान को धारण करता है, श्रद्धा के रहस्य को समझ लेता है तथा चारित्र का भली-भाँति बोध कर लेता है और उनको अपने पराक्रम से अमल में लाता है, उसका यह सब प्रयत्न या पुरुषार्थ वीर्य-आत्मा में प्रवेश करता है।

चाहे मानव साधु के रूप में हो या साध्वी के रूप में, श्रावक के रूप में हो या श्राविका के रूप में। सभी को अपनी शक्ति के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करनी चाहिये। इन सब का बोध प्राप्त करके उन्हें जीवन में उतारना चाहिये। यह पुरुषार्थ से तथा पराक्रम से ही हो सकता है। क्योंकि जानकारी हो जाने पर भी तथा श्रद्धा जमजार्म पर भी अगर उन बातों को अमल में लाने के लिये पुरुषार्थ नहीं किया जायगा, उन्हें आचरण में नहीं उतारा जाएगा तो आत्मा का उद्धार होना कभी भी संभव नहीं है। इसलिये मानव को अपना विवेक जागृत करना चाहिये तथा अपनी अन्तरात्मा को विशुद्ध बनाने का प्रयास कभी भी छोड़ना नहीं चाहिये।

एक भजन में आत्मा को उद्बोधन देते हुए कहा गया है :-

विवेक आत्मा रे, अरे तू अब निर्मल होजा !

कहा है - हे विवेकी आत्मा ! अब तो तू निर्मल बन। अपने अविवेक रूप कूड़े-करकट को हटाकर अपने आपको पूर्ण शुद्ध बना।

विवेक ही बुद्धि की पूर्णता तथा ज्ञान का परिपाक है। जीवन के सभी मार्गों पर वह हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। जिसके हृदय में विवेक जागृत रहता है वह कभी भी ठोकर नहीं खाता। कबीरदास जी का कथन है :-

समझा समझा एक है, अनसमझा सब एक।

समझा सोई जानिये, जाके हृदय खिचिक॥

समझदार केवल उसी व्यक्ति को माना जा सकता है, जिसके हृदय में विवेक हो। अन्यथा तो ज्ञानी और अज्ञानी में कोई भ्रन्तर नहीं है।

इसलिये भजन में कवि ने अपनी आत्मा से कहा है - हे आत्मा ! तू विवेकी बन। दूसरों को नसीहत देने की अपेक्षा अपने आप को समझो। दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत मिल जाएँगे। कहा भी जाता है :-

‘परोपदेशे पांडित्यं।’

औरों को उपदेश देने में ही अपनी विद्वत्ता मानना तथा अपने आपको पंडित समझ लेना विवेकी बन जाने का प्रमाण नहीं है। आत्मा का कल्याण तभी होता है, जबकि दूसरों को उपदेश देने के बचाव उन उपदेशों को स्वयं समझा जाय और उसे जीवन में उतारा जाय। औरों को सुधारने से पहले अपना सुधार करना आवश्यक है अन्यथा वही हाल होगा कि मानव स्वयं तो अपने लोटे में जल छानकर पी नहीं सकता, पर पूरे तालाब का पानी छानकर लोगों को पिलाने का प्रयत्न करे।

जो जल अपने काम में आए, गहले तो उसे ही छानना है न! सम्पूर्ण तालाब का पानी कैसे छाना जाएगा? वह प्रयत्न तो ऐसा होगा, जैसे एक तिनके के सहारे सागर को तैरने का प्रयत्न करना। इसलिये सर्व प्रथम मानव को अपनी स्थिति संभालना आवश्यक है! अपने आपको सम्हाल लेने और शुद्ध बना लेने के पश्चात् ही उसे अपनी दृष्टि अन्य व्यक्तियों को ओर उठाना चाहिये।

क्योंकि जब मनुष्य अपनी अन्तःप्रत्मा को सम्हाल लेगा, उसे निर्मल बना लेगा तभी उसकी विवेक-शक्ति बलवान बर्गनी और वह औरों पर भी अपना प्रभाव डाल सकेगा। आत्मा को निर्मल बनाने का मार्ग भी भजन में आगे बताया है :-

गुरू सेवा की गंगा इसमें पाप मल को धो जा।

भारी हो रहा बहुत दिनों में, हलका करले बोझा॥

यह जीवात्मा अविवेक की स्थिति में रहने के कारण तथा शास्त्र के विरुद्ध आचरण करते रहने के कारण मलिन बन गया है। अविवेक के कारण क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष आदि की गंजगी आत्मा पर जम गई है, अतः जिस प्रकार मलिन वस्त्र को आप साफ जल से शुद्ध करते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी शुद्ध करने का प्रयत्न करें। पर समस्या यह है, कि आत्मा को किस प्रकार शुद्ध किया जाय ?

भजन में यही उपाय कवि ने बताया है। कहा है - आत्मा के पाप-मल को धोने के लिये तू गुरू-सेवा और सत्संग रूपी गंगा के पास जा। और अपने समस्त पाप-मल को सत्संगति की गंगा में जाकर धोले। कबीर जी का कथन है कि जिस प्रकार गंदा पानी भी गंगा में पहुँचकर निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार तेरी मलिन से मलिन आत्मा भी सत्संग रूपी गंगा में पहुँचकर निर्मल हो जाएगी :-

कबिरा खाई काट की, पानी पिबै न कोय।

जाय मिलै जब गंग स, सब गंगोदक होय॥

संक्षेप में सत्संग का बड़ा भारी महत्व और लाभ है। सत्संगति बुद्धि की जड़ता को नष्ट करती है, विवेक को जागृत करती है तथा सज्जनों की संगति के कारण

लोग यश प्रदान करते हैं।

संत महात्मा के पास जाओ

इंग्लैण्ड का बादशाह जेम्स अपना कोष भरे के लिए पदवियाँ बेचा करता था। वह जानता था कि उपाधि से कोई महाना तो बनता नहीं, महान बनने के लिये तो सद्गुण चाहिये। किन्तु लोगों की अहंकार वृत्ति का पोषण करने के लिये पदवियाँ दिया करता था।

एक बार एक व्यक्ति राजा जेम्स के क़बार में आया। राजा ने उससे पूछा — “तुम्हें कौनसी पदवी चाहिये?”

“मुझे सज़न बना दीजिए !” व्यक्ति ने उत्तर दिया।

जेम्स यह सुनकर परेशान हो गया और धीरे से बोला — “भाई ! मैं तुम्हें लॉर्ड, ड्यूक आदि तो बना सकता हूँ लेकिन सज़न नहीं बना सकता। अगर तुम्हें सज़न बनना है तो किन्हीं सन्त-महात्मा की संगति में जाओ।”

बंधुओ, आप समझ गये होंगे कि सज़ान बनना कितना कठिन है और सज़न कैसे बना जाता है। केवल सन्तों की सेवा-शक्ति और उनके सद्पदेशों को अमल में लाने से ही मानव श्रेष्ठ बन सकता है तथा उसकी आत्मा उज्ज्वल हो सकती है। व्यासदेव ने भी सत्संगति का बड़ा भारी महत्व बताया है। कहा है :—

तुलायाम लवेनापि, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

भगवत्संगिसंगस्य, मर्त्यानां किमुताशिषः॥

— यदि भगवान में आसक्त रहने वाले लोगों का क्षणभर भी संग प्राप्त हो, तो उससे स्वर्ग और मोक्ष तक की तुलना नहीं कर सकते, फिर अन्य अभिलषित पदार्थों की तो बात ही क्या है?

तो बंधुओ, इसीलिये कवि ने कहा है — ‘तू गुरु-सेवा की गंगा में अपने पाप-मल को धोकर निर्मल हो जा ! अनन्त काल से तेरी आत्मा पर कर्मों की परतें चढ़ती जा रही हैं और कर्म-भार से वह बहुत ही बोझिल हो गई है। अतः इस सुयोग को खो मत, और अपना बोझा हलका कर ले।’

आगे और भी कहा गया है :—

ज्ञान-रूप दर्पण के अन्दर निज आत्म को जो जा।

बार-बार सत्गुरु समझावे, प्रेक्ष दोष सब धो जा॥

कवि की चेतावनी है ‘सदा ज्ञान-रूपी आइने में अपनी आत्मा को देख। तू जिस प्रकार कौंच में अपना चेहरा प्रतिदिन देखता है तथा चेहरे के सौन्दर्य को निखारने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार ज्ञान-रूपी दर्पण में अपनी आत्मा को देख, और देख-देखकर उसके सहज और स्वभाविक रूप को निखारने की कोशिश

कर'।

'प्रतिदिन ज्ञान-दर्पण में अपनी आत्मा को देखकर विचार कर कि आज मैंने कितना क्रोध किया? कितना अहंकार मन में आया? कितने व्यक्तियों को धोखा दिया? कितने का मन दुखाया और इस प्रकार कितना पापोपार्जन किया।

संत-महात्मा तुझे बार-बार यही उपदेश देते हैं कि इस दुर्लभ मानव-जीवन को व्यर्थ मत खो। यह अपूर्व अवसर चूक गया तो पुनः प्राप्त होना कठिन है।' पूज्यपाद अमीरख जी महाराज ने भी यही सीख दी है :—

सुनहु सुजान प्यारे पाप के सग्य सार,
भूलि हैं न ऐसो करूं और बिताइये।
परम पुनीत जिनमत सुखधाम नही,
हरख सहित ज्ञान-रह में नहाइये।

कहते हैं — 'हे सुजान ! बड़ी कठिनाई से यह सुअवसर मिला है, अतः इसे भूलकर भी व्यर्थ मत जाने दो। तूने परम पवित्र और सुख का घाम जैन धर्म प्राप्त हुआ है अतः असीम उत्साह और हर्षपूर्वक ज्ञान-गंगा में गोते लगाओ और अपने पापों का प्रक्षालन करो।'

आगे जिनवाणी का महत्व बताते हुए कहा है :—

सार जिनवाणी सुखरानी हितकारी मानी,
जानी निजरूप पर मंग विसराइए।
तिरने को दाव नाव सकरी सगमन यह,
कहै अमीरख पूरे फुल्य जोग पाइए॥

अर्थात् — जिनवाणी आत्मा का अनन्त सुख प्रदान करने वाली है और उसके लिये अत्यन्त हितकर है। उस जिनवाणी यानि जिन-वचनों के ऊपर विश्वास करके अपने शुद्ध-स्वरूप को समझकर पर-पदार्थों पर से महत्व हटाना चाहिये तथा भली भाँति समझ लेना चाहिये कि यह मानव पर्याय भव-सागर को तैरने के लिये नाव के समान है तथा महान् पुण्यों के योग से प्राप्त हुई है अतः कहीं व्यर्थ न चली जाए।

महापुरुष इसी प्रकार अज्ञानी प्राणियों को बार-बार बोध देते हैं तथा अपने अवगुणों को त्यागने का उपदेश प्रदान करते हैं। वे कहते हैं— जब तक तुम अपने दुरुणों का त्याग नहीं करोगे तथा सम्यक्ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को समझकर अन्य समस्त पर-पदार्थों पर से आसक्ति नहीं हटाओगे, तब तक तुम्हारी आत्मा का उद्धार नहीं हो सकेगा। आत्मोद्धार के लिये और क्या करना चाहिये ?

मुक्ति का मेवा चखे तो, ममत दही बिलो जा।
जो अब मौका चूक गया तो, उड़ले नर्क में रो जा॥

कविने कहा है — 'अगर तुझे मुक्ति रूपी मेवा मखन है, उस अमृत का आस्वादन करना है, तो ममता-रूपी दही का मन्थन कर ! तभी उससे शाश्वत सुख-रूपी मखन निकलेगा और उसे ग्रहण करने के पश्चात् तुझे किसी अन्य पदार्थ की आकांक्षा नहीं होगी।

किन्तु वह मखन निकलेगा कैसे ? आत्म-स्वरूप में रमण करने से, महान् चिन्तन-मनन करने से ही ज्ञान की ज्योति हृदय में जगती है। जब तक मानव सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहता है, उसका हृदय आत्म-चिन्तन में नहीं लगता। और आत्म-चिन्तन में लगे बिना, या आत्म-स्वरूप में रमण किये बिना मुक्ति का मेवा प्राप्त नहीं होता।

यह समय बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है। मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। अगर यह अवसर चूक गया तो फिर नरक में गये बिना छुटकारा नहीं होगा। तथा न जाने कितने समय तक उस नारकीय जीवन की यातनाओं को रो-रोकर भोगना पड़ेगा। किन्तु फिर पश्चात्ताप के सिवाय और क्या हो सकेगा ? तभी तो कहते हैं :—

मानुष जनम शुभ पाय के भुलाय मत,
ओसर गमाय चित्त, फेर पछितारंगो।

किन्तु समय चूक जाने के पश्चात् फिर पश्चात्ताप करने से क्या हो सकता है ? कुछ भी नहीं। इसलिए प्रत्येक मानव को अगर मुक्ति-रूपी अमृत फल की इच्छा हो तो कविने आगे कहा है :—

अमृत फल की इच्छा हो तो बीज धर्म का बो जा।
कर नेकी का काम बदी से, अब तो दूर चला जा

— 'जिस मुक्ति-रूप अमरफल को प्राप्त कर लेने के बाद पुनः मरण का दुख नहीं भोगना पड़ता, ऐसे अमर-फल को अगर तुझे वास्तव में ही आकांक्षा है तो तू आत्मा में धर्म का बीज बो ले। पर धर्म का बीज जमे कैसे ? यह समस्या है। यह समस्या तभी सुलझेगी जब तू संसार के समस्त प्राणियों के प्रति सद्भावना रखेगा तथा नेकी के काम करेगा। बदी करते-करते तो अनेक जन्म बीत गए और अगर यही हाल रहेगा तो न जाने कितने जन्म और बीत जाएँगे पर कहीं मुक्ति के आसार दिखाई नहीं देंगे। इसीलिए अब तू चेत और धर्म की आराधना कर। क्योंकि—

“संसारी स मरुस्थले सुरक्तनास्त्येव धर्मात्परः।”

इस संसार रूप विशाल रेगिस्तान में धर्म के सिवाय दूसरा कोई कल्पवृक्ष नहीं है।

किन्तु आवश्यकता है धर्म को सच्चे हृदय से धारण करने की। धर्म में

दिखावा नहीं चल सकता। बिना भावना के किये हुए सभी धर्म-कार्य शून्य के समान साबित होते हैं। तथा ऐसे धर्मात्मा की ईश्वर के यहाँ कोई कद्र नहीं होती। सच्चा धर्मात्मा और सच्चा भक्त बनने के लिए बड़ा भारी त्याग करना पड़ता है तथा कभी-कभी तो जीवन का मोह भी छोड़ना होता है। सच्चा भक्त बनना सरल नहीं है, बड़ी टेढ़ी खीर होती है।

पापी भर जायेगा

कहते हैं काशी के घाट पर ग्राहण के अवसर पर एक बार बड़ा भारी मेला लगा तथा उसमें शिव और पार्वती भी आए।

महादेव और पार्वती ने देखा कि लाखों की संख्या में अपने आपको भक्त कहलवाने वाले व्यक्ति पूजा-पाठ, यज्ञ, इम तथा अन्य नाना प्रकार की धार्मिक क्रियाएं कर रहे हैं तथा तिलक-छापे लगाकर भक्त बने बैठे हैं।

कौतूहलवश शिवजी और पार्वती की इच्छा हुई कि यहाँ परीक्षा की जाय, भक्तों की इतनी बड़ी संख्या में सच्चा भक्त कौन है ?

यह विचार कर शिवजी साधारण व्यक्ति के रूप में मृतप्रायः से लेट गये और पार्वती उनके पास अत्यन्त शोकमग्न होकर बैठ गई। पार्वती ने अपने पति के मृत्यु सम्बन्ध में लोगों को बतलाया और कहा — जो निष्पाप भक्त होगा, वही मेरे पति को स्पर्श करके इन्हें जीवित कर सकता है। कृपा करके आप लोगों में से जो भी निष्पाप और सच्चे भक्त हैं मेरे पति को स्पर्श करके इन्हें जीवित करें, किन्तु एक बात है कि पापी होगा वह इस शव को स्पर्श करते ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा।”

मेले में जितने भी भक्त आये वे सभी अपने आपको सच्चा भक्त मानते थे किन्तु पार्वती की बात सुनकर किसी ने भी शिवजी के शव को स्पर्श करने का साहस नहीं किया। और सब एक के बाद एक धीरे-धीरे वहाँ से खिसक गए। मरने के लिये कौन तैयार होता ?

किन्तु सबसे अन्त में बचा हुआ एक हरिजन बोला — “देवी ! मैं शीघ्र ही स्नान करके आता हूँ, फिर आपके पति को स्पर्श करने की कोशिश करूँगा।”

हरिजन लगभग दौड़ता हुआ सा गया और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक गंगास्नान करके लौट आया। आते ही उसने महादेव के शव को स्पर्श किया और स्पर्श करते ही वे उठकर खड़े हो गये।

बन्धुओ, इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया होगा कि भक्त और धर्मात्मा कहलाने वाले तो अनेक होते हैं किन्तु सच्चा भक्त और धर्मात्मा गुदड़ी के लाल के समान विरला ही मिलता है। धर्म का दिखावा मात्र करने से ही कोई धर्मात्मा नहीं बन पाता।

इसलिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कि धर्म को उसके सच्चे रूप में ग्रहण किया जाय तथा प्रत्येक क्रिया केवल कर्मों निर्जरा की भावना से की जाय। चाहे दान देना हो, चाहे शील का पालन करना हो तथा तप ही करना हो, वे सब इसलिये न की जायें कि दुनियाँ उसे दाने कहे, तपस्वी कहे और धर्मात्मा कहकर उसकी पूजा करे।

कर्मों से मुक्ति किसी भी कामना या गश-प्रतिष्ठा की इच्छा से धर्म किया जाने से नहीं होती। इन सबका त्याग करने से होती है : मुक्ति त्याग से मिलती है, भोग से नहीं।

‘ज्ञाता धर्म कथा सूत्र’ में शैलकराजर्षि का वर्णन आता है। एक बार राजर्षि बीमार हो गए। उनका उपचार करने के लिए उनका पुत्र मंडूक आया तथा वेदों के कथनानुसार उपचार किया गया। किन्तु स्वास्थ्य ठीक हो जाने पर भी वे खाने पीने में मशगूल रहे। परिणाम यह हुआ कि छनकी साधना में शैथिल्य आ गया किन्तु उनके सुयोग्य शिष्य पंथक की धैर्यता से उन्हें पुनः स्थिर किया तथा वे खाने पीने की ममता का त्याग करके मुक्ति के अधिकारी बने। संक्षेप में उनका उद्धार तभी हुआ जबकि उन्होंने खाद्य पदार्थों की ममता का त्याग किया।

जिन महापुरुषों की इन्द्रियों और मन उनके वश में हो जाते हैं तथा चित्तवृत्ति आत्म-स्वरूप में रमण करती है, और जो भोगों से विरक्त होकर संयम को अपनाते हैं वे ही भव्य-प्राणी अपने कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

संयम नेकी का मार्ग है, इस पर चलकर ही आत्मा विकास की ओर अग्रसर होती है। तथा कालांतर में मुक्ति का आनन्द प्राप्त करती है। भजन में कहा गया है —

सत्य धर्म की सेज बिछी है, सोना है तो सोजा।

कहे मुनि नंदलाल का शिष्य, मिले गुरु की मोजा ॥

भजन के रचयिता हैं चर्चावादी मन्दलाल जी महाराज के सुशिष्य पूज्य श्री खूबचन्द जी महाराज ! जिन्हें आचार्य पदवी प्रदान की गई थी। बड़े ही आत्मारथी संत थे। मुझे भी उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जब मैं छोटा था, तब वे एक बार रतलाम से बिहार करने पर मुझे पहुँचाने आए थे।

उन्होंने महान् संत का कथन है — ‘‘देखो भाई ! ‘सत्य-धर्म’ की इस सुखकर शैल्या पर सोने की इच्छा हो तो विल्म्व मत करो। इस शान्तिदायक शैल्या पर सोओगे तभी तुम्हें मुक्ति की मोजा का अनुभव होगा।

वास्तव में ही अगर सत्य और धर्म का आचरण किया जाय तो संसार की कोई भी शक्ति मानव को शिव पुर पहुँचने से नहीं रोक सकती।

जिसके बिना समस्त जगत निस्सार और श्मशानवत् शून्य है, ऐसे धर्म !

तुम्हीं इस पृथ्वी पर शान्ति एवं आनन्द का साकार रूप हो।”

“दान, दया, अहिंसा, परोपकार, ऋण तथा शील आदि सब तुम्हारे ही भिन्न-भिन्न रूप हैं जो इस पृथ्वी को स्वर्ग के समान बना देते हैं। जब महापुरुष इन्हे अपना लेते हैं उन महापुरुषों का पापरहित तथा तीनों ताप रहित शुद्ध हृदय ही तुम्हारे निवास के लिये एक मात्र सुरम्य मंदिर है।”

इसीलिए मुनि श्री ने अपने भजन में कहा है — ‘हे विवेकी आत्मा ! अगर तुझे मुक्ति-सुख की सच्ची अनुभूति करनी है तो सत्य-धर्म की इस शैल्या पर शयन कर।’

सत्य दर्शन

सत्य अनंत रूप में असत्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। तथा असत्य जबकि निश्चय ही एक न एक दिन हास्ता है, सत्य की कभी हार नहीं होती। महात्मा गाँधी ने तो यहां तक कहा है :—

“परमेश्वर सत्य है, यह कहने के बजाय ‘सत्य ही परमेश्वर है, यह कहना अधिक उपयुक्त है। किन्तु सत्य का मार्ग जितना सीधा है उतना संकरा भी है। तलवार की धार पर चलने के समान है। नट लोग जिस रस्ती पर एक निगाह रखकर चलते हैं, सत्य की रस्ती उससे भी पतली है।”

सत्य की प्राप्ति और सत्य के दर्शन में क्या कठिनाई है? इस विषय में कहा गया है :—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापेहितं मुखम्।
तत्त्वं पुषत्रपावृणु सत्य-धर्मं दृष्ट्वे॥

—ईशावास्योपनिषद्

—सत्य का मुँह स्वर्णपात्र से ढंका हुआ है। हे ईश्वर ! उस पात्र को तू उठा दे जिससे ‘सत्य-धर्म’ का दर्शन हो सके।

बंधुओ ! आप शायद समझ गए होंगे कि स्वर्ण-पात्र से सत्य से ढंके रहने का क्या अर्थ है? अगर न स्माझ पाए हों तो भली-भाँति समझ लीजियेगा कि स्वर्ण अर्थात् धन; जब तक हृदय में धन की लालसा बनी रहेगी, तब तक सत्य के दर्शन नहीं हो सकेंगे। सत्य के ऊपर लोभ का गहरा आवरण छाया हुआ है, जब तक वह हटेगा नहीं, सत्य का दिखना देना कठिन है।

इसलिये धन लिप्ता तथा अन्य समस्त सांसारिक पदार्थों पर से आसक्ति हटाने पर ही सत्य-धर्म की अन्तर में स्थापना हो सकती है। तथा मुमुक्षु उससे मार्ग-दर्शन पा सकता है। क्योंकि सत्य एक प्रज्ज्वलित दीपक की भाँति है जिसके एक बार जल जाने पर पुनः बुझाया नहीं जा सकता, तथा अन्धकार छिपाया नहीं

जा सकता क्योंकि वह अपना प्रकाश स्वयं ले चलता है। अतः प्रत्येक प्राणी को अगर अपनी आत्मा का कल्याण करना है, तो उसे सर्वप्रथम आत्मा में सत्य का प्रकाश करना होगा। और उस प्रकाश के सहारे से उन्नते के पथ पर बढ़ना होगा।

जब अन्तःकरण सत्य-मय हो जाता है तो मानव का स्वयं ही विकास होने लगता है तथा मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट हो चलता है। क्योंकि अपनी सत्यमय दृष्टि से साधक जो कुछ भी ग्रहण करता है वह सम्यक् होता है।

कबीर को सत्य-धर्म पर कितना दृढ़ विश्वास था ! उनका कथन है :—

साँचे साप न लगई, साँचे काल न खाय।

साँचे को साँचा मिलै, साँचे माँहि समाय ॥

सीधी-सादी भाषा में कितनी सुन्दर बात कही गई है कि सत्य को कभी किसी का श्राप नहीं लगता, उसे काल नहीं खा सकता तथा सत्य-धर्म ग्रहण करने वाले का उसी के समान भव्य प्राणियों से मिलन होता है और अन्त में वह उस सत्य-रूप ईश्वर में ही समा जाता है।

इसलिये, प्रत्येक मुक्ति के अभिलाषी प्राणी को सत्य-धर्म अंगीकार करना चाहिये और विश्वास रखना चाहिए कि उसके ग्रहण करने पर आत्मा में अन्य समस्त सद्गुणों का स्वयं ही आविर्भाव हो जाएगा तथा वह कर्म-रहित होती हुई अन्त में अमरत्व की प्राप्ति करेगी।

• • •

[१९]

मानव जीवन की महत्ता

धर्मप्रीमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

शास्त्रों में वर्णन आता है कि देवता अपना दूसरा शरीर बना सकते हैं, जो वैक्रिय शरीर कहलाता है। तभी कहा है —

‘देवाणः वाच्छाणः।’

— देवताओं में वह शक्ति है, जिसके द्वारा वे अपने शरीर को इच्छित रूप में बदल सकते हैं।

श्री ‘रायप्रसेनी सूत्र’ में सूर्याभ देवता के हुक्म से उनके आभियोगिक देवता ईशान दिशा की तरफ जाकर अपने शरीर का रूपान्तर करते हैं। ऐसा वे क्यों करते हैं? क्योंकि उन्हें आमलकप्पा नगऽ में विराजित भगवान महावीर प्रभु की सेवा में पहुँचना है।

शंका होती है कि देवता अपने स्वाभाविक रूप में क्यों नहीं आते? इसका उत्तर यही है कि अगर देव अपने मूल-रूप में यहां आ जाएँ तो उनके शरीर के तेज को सहन करने की ताकत मनुष्य में नहीं है। मनुष्य की आंखों में वह शक्ति नहीं है कि वह देवताओं के तेज को सहन कर सके। इसीलिये देव मनुष्य लोक में रूप बदल कर आते हैं।

देवत्व में भी भिन्नता

हमें लगता है कि वे देवता कैसे बने? देवता बनने के लिये उन्होंने उत्तम करनी की। हाँ इतनी बात अवश्य है कि आभियोगिक देवताओं की करनी में कुछ कसर रही। अन्यथा वे भी इन्द्र देवता बनते। इन्द्रदेव की करनी उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट थी।

जैसे आपके यहाँ एक सेठ है, और दूसरा गुमाश्ता है। क्या फर्क है दोनों में? क्या सेठ के दो आँखों की जगह चार आँखें हैं? या दो हाथों के स्थान पर चार हाथ हैं? नहीं दोनों का शरीर समान है, दोनों ही मनुष्य हैं, दोनों के अंगोपांग और उनकी शक्ति एक सी हैं। फर्क है केवल की हुई करनी का। या दूसरे शब्दों में पुण्यवानी का। सेठ के पास पुण्यवानी अधिक है अतः उसके वहाँ ढेरों नौकर-चाकर और गुमाश्ते हैं। पर गुमाश्ते की पुण्यवानी में कसर रही है अतः

उसे सेठ के यहाँ गुमास्ता बनना पड़ा है। कहा भी है :-

“वश्यतां नयति पूर्वभवात्तं, पुण्यमेव भुवनानि किमन्यत्।”

— पुण्य के विषय में अधिक क्या कहें? पूर्व-जन्म के संचित पुण्य ही तीन लोक को वशवर्ती अथवा आज्ञानुयायी बना देता है।

इस पुण्य के प्रभाव से ही मनुष्य-मनुष्य की स्थिति में अन्तर हो जाता है। एक राजा बन जाता है और दूसरा भिखारी। तथा केवल मर्त्य-लोक में ही ऐसा नहीं होता, बारहवें देवलोक तक पुण्य का यही करिश्मा चलता है। देवों में भी छोटे-बड़े अपने पुण्य के प्रभाव से बनते हैं। पर बारहवें देवलोक से उपर सभी अहमिन्द्र हैं, वहाँ चाकर-ठाकुर कोई नहीं।

मानव जीवन की श्रेष्ठता

अभी मैंने बताया कि उत्तम करनी करने से पुण्योपार्जन होता है तथा पुण्य के द्वारा इस लोक तथा परलोक में सुख मित्रता है। करनी के अनुसार ही मानव देवगति में जा सकता है, इन्द्र बन सकता है तथा तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन भी कर सकता है। पर ऐसी करनी कहाँ पर की जा सकती है? केवल इस मानव जन्म में ही। उत्तम करनी के लिये मनुष्य-जन्म ही सर्वश्रेष्ठ जन्म है। यही एक क्षेत्र ऐसा है, जहाँ से मानव जैसी करनी करे वैसा फल पा सकता है तथा जहाँ चाहे जा सकता है। पर करनी-करनी में भी बड़ा भारी अन्तर होता है। केवल कुछ न कुछ करने से ही लाभ नहीं होता। करनी अथवा कर्म ऐसे उत्तम किये जाने चाहिये, जिनसे उत्तम फल भी प्राप्त हो।

महात्मा कबीर ने कर्म-कर्म में अन्तर बताया हुए कहा है :—

एक कर्म है बोना, उपजै बीज बहुत॥

एक कर्म है मूँजना, उदय न अंकुर भूत॥

कर्म दोनों ही है, बोना और मूँजना। दोनों में ही परिश्रम पड़ता है, किन्तु उनके फलों में कितना अन्तर है? बीज बंनि पर फसल के रूप में अनेकगुणा अन्न प्राप्त होता है पर मूँजने पर कुछ भी नहीं हासिल होता।

इसलिये, कर्म ऐसे ही करने चाहिये जिनका शुभफल प्राप्त हो सके। व्यर्थ कर्म या कुकर्म करने से आत्मा की हानि ही होती है, लाभ कुछ भी नहीं। कर्म तो चोर, डाकू तथा जुआरी व्यक्ति भी करी हैं पर उसका क्या परिणाम होता होगा इसका अन्दाज आप लगा ही सकते हैं। अपना स्वार्थ-साधन करने के लिये औरों को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति मनुष्य होकर भी मनुष्य नहीं कहला सकते, ऐसे व्यक्तियों के लिये कहा जाता है :—

“तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।”

जो अपनी हित-साधना के लिये पर के हित का विनाश करते हैं, वे मनुष्य के रूप में राक्षस ही होते हैं।

इसीलिये महापुरुष तथा संत-महात्मा बार-बार कहते हैं — मनुष्य-जन्म का लाभ उठाओ! यह दुर्लभ देह बार-बार नहीं मिलती। अगर यह श्रेष्ठ भव पाकर भी तुमने धर्म के मर्म को नहीं समझा, जिनवाणी को हृदयंगम नहीं किया तथा शुभ-कार्य करके पुण्योपाजन नहीं कर सके तो यह देवताओं को भी दुर्लभ मानव पर्याय निरर्थक चली जाएगी।

पंडित पूज्यपाद श्री अभीरुषिजी महाराज ने भी उस मनुष्य का जन्म व्यर्थ बताया है जिसने :—

धर्म न जाण्यो सत करम न जाण्यो,
कछु मरम न जाण्यो मत जैन जिनवाणी को
दानहू न दीनो ना शीयल चित्त भीनो,
तप विधिसु न कीनो नही सेवे गुरु ज्ञानी को।
कीनो नाही तत्व अनतत्व को। वेचार भूरि,
भावना न रुचि चित्त नेक अभिमानी को।

जिस व्यक्ति ने धर्म को नहीं समझा, सत्कर्म क्या होते हैं उन्हें नहीं जाना, तथा जिनधर्म और जिनवाणी के अर्थ को जानने का प्रयत्न नहीं किया और न ही कभी दान दिया, शील का पालन लिया तप किया, और अगम्यज्ञान के धारक गुरु की श्रद्धा एवं विधिपूर्वक सेवा की। इतना ही नहीं, जिसने तत्व-ज्ञान का सही ज्ञान भी अपने अहं के कारण नहीं किया और कभी भी उत्तम भावनाओं को हृदय में स्थान नहीं दिया, उसके लिये कवि ने आगे कहा है —

कहे अभीरिख यथा मालती अरण्य मध्य,
त्यो ही गयो अफल जन्म तिह प्राणी को।

जिस प्रकार शून्य अरण्य में मालती के फूल खिलें, पर कोई भी मानव उनके सौन्दर्य और सौरभ का उपयोग न करे, तथा उनका वहाँ पर खिलना व्यर्थ हो जाए, उसी प्रकार इस संसार में प्राणी मानव जन्म प्राप्त करले किन्तु उससे कोई लाभ न उठाए तो 'मालती अरण्यवत्', उसका अनेकानेक लाभ प्रदान करने वाला यह शरीर निष्फल माना गया समझना चाहिये।

किन्तु प्राणी को यह नहीं भूलना चाहिये कि मानव-जन्म की श्रेष्ठता किसमें है। धन की दृष्टि से मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ नहीं है। धन देवताओं के पास कितना होता है, यह आपके सुनने में आया ही होगा? समूचे भरत-क्षेत्र का धन एक तरफ और वाणव्यन्तर देवता की 'मूँजड़ी' एक तरफ। अतः धन की दृष्टि से अगर मानव-जीवन की श्रेष्ठता मानी जाती तो देवताओं का जीवन श्रेष्ठ कहलाता।

किन्तु ऐसा नहीं है, देवता तो स्वयं ही मानव जीवन के लिये तरसते हैं अतः उसकी श्रेष्ठता धनके अलावा किसी और बात में है। यह साबित हो जाता है। वह श्रेष्ठता क्या है, यह आप जानते हैं? वह है, उत्तमोत्तम करनी कर सकने की क्षमता में। मैंने यही बताया था कि मनुष्य चाहे तो देवत्व प्राप्त करता है, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर सकता है और अपनी आत्मा को कर्म-भुक्त करके मोक्ष में भी जा सकता है। ऐसी क्षमता देवताओं में नहीं है। इसीलिये मनुष्य-जन्म को सभी जन्मों से श्रेष्ठ माना गया है।

पर केवल मनुष्य शरीर मिल जाने से ही तो उसकी श्रेष्ठता साबित नहीं हो जाती। मनुष्य होकर भी अगर वह कुकर्मा कर-करके नरक में चला गया तो फिर क्या लाभ हुआ नर-देह पाने का। इसका लाभ तभी हासिल हो सकता है, और तभी इसकी श्रेष्ठता सच्चे मायने में मानी जा सकती है, जबकि मानव धर्माश्रय करे, दान, शील तप और भावनामय जीवन व्यतीत करे तथा अपनी आत्मा को कर्म-भार से मुक्त करे। अन्यथा तो यह नर-देह एक कोरे लिफाफे के समान ही कीमत-रहित मानी जाएगी।

लिफाफे के अन्दर चाहे दो वाक्य ही लिख आए हों तो उसका मूल्य होता है। पर अन्दर कुछ भी न हो, एक शब्द भी लिखा हुआ न हो तो आप उसे खोलकर प्रसन्न होंगे क्या? नहीं! खाली लिफाफे का कोई महत्त्व नहीं होता, उसका कोई मूल्य नहीं माना जाता। ठीक इसी प्रकार उत्तम क्रिया या उत्तम करनी किये बिना इस शरीर का भी कोई मूल्य नहीं है तथा इसे पाना न पाना समान है। जो प्राणी अपने जीवन को इस प्रकार निरर्थक बिता देते हैं उन्हें देखकर महापुरुष दुःख से कह उठते हैं :—

दुर्लभं मानुषं जन्मामूल्य एवमपि तत्क्षणः।
तथापि काकिणी तुल्यं तद्व्ययं कुर्वते जनाः॥

मनुष्य का जन्म दुर्लभ है, उसका एक क्षण भी अमूल्य है। तो भी बड़ा दुःख है कि मनुष्य कौड़ियों के समान उसका व्यय करते हैं।

मानव शरीर पर अनेकों कवियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएँ की हैं। सभी ने मनुष्य-जन्म को उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न किया है। किसी ने इसे चरखे की उपमा दी है, किसी ने इसे रेल के समान बताया है जैसे :—

इस काय की रेल, रेल में अजब निहाली।'

कवियों का प्रयत्न यथार्थ है तथा चिन्तनीय और मननीय है। प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमप्रभ ने अपने 'सूक्ति मुक्तावली' नामक संस्कृत ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक सुन्दर श्लोक लिखे हैं। उनमें के एक श्लोक में उन्होंने मानव शरीर को वृक्ष के समान बताया है तथा उसके छः फल भी लिखे हैं। श्लोक है :—

जिनेन्द्रपूजा, गुरु-पर्यु पास्ति;
सत्त्वानुकंपा, शुभपात्रदानम्।
गुणानुरागः श्रुतिरागमस्य,
नृजन्मवृक्षस्य फलान्ममूनि॥

आचार्य ने मनुष्य-शरीर को वृक्ष की उपमा दी है और उसके छः फल बताए हैं। क्योंकि वृक्ष है तो उसके फल भी होने चाहिए। फल-हीन वृक्ष किस काम का? तो लोक में जो छः प्रकार के फल बताए हैं उनमें से प्रथम है —

- १) जिनेन्द्र पूजा — भगवान के प्रति असीम भक्ति और श्रद्धा का भाव रखते हुए भक्त जो भी पूजा-पाठ आदि करता है, वह मनुष्य-जन्म का पहला फल है।
- २) सद्गुरु की उपासना — सद्गुरु की सेवा-भक्ति करना तथा उनके सदुपदेशों को ग्रहण करना।
- ३) सत्त्वानुकंपा — प्राणी मात्र पर करुणा और दया की भावना रखना।
- ४) सुपात्र दान — सुपात्र को दान देना तथा शुभ कार्य में खर्च करना।
- ५) गुणानुराग — गुणी जनों के गुणों को देखकर हृदय में प्रसन्नता का अनुभव करना।
- ६) श्रुतिरागमस्य — आगम का श्रवण करना, तथा उनमें रुचि रखना।

ये छः फल मनुष्य-जन्म के बताए हैं जो अभी मैंने संक्षिप्त में आपके सामने रखे हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक का क्रमानुसार विस्तृत विवेचन करेंगे।

जिनेन्द्र पूजा

यह मानव-शरीर रूपी वृक्ष का पहला फल है। 'जिनेन्द्र पूजा' में तीन शब्द आते हैं — जिन, इन्द्र और पूजा! जिन! किसको कहा जाता है —

‘जयति रागद्वेषादि शत्रू इति जिनः।’

राग-द्वेष आदि जो भी आभ्यन्तर शत्रु हैं, इन्हें जो जीत लेता है वह 'जिन' कहलाता है।

राग-द्वेष आत्मा के सबसे बड़े दुश्मन हैं तथा आत्मा को भारी बनाने में मूल कारण बनते हैं। किसी के प्रति आसक्ति होने से जो प्रेम उत्पन्न होता है वही राग कहलाता है तथा कर्म-बंधन का कारण बनता है। तथा राग के विपरीत किसी पर द्वेष रखना, ईर्ष्या करना, तथा निंदा करना ये भी कर्म-बंध के कारण हैं।

इनमें से कोई भी दुर्युग अगर आत्मा में प्रवेश कर जाय वह भी आत्मा

को पतित बनाकर छोड़ता है।

कहते हैं कि एक बार गौतम बुद्ध वे शिष्य आपस में विवाद करने लगे कि — संसार का कौन सा दुर्गुण आत्माओं का पतन करता है?

किसी ने कहा — 'धन आत्मा का पतन की ओर ले जाता है। किसी ने कहा — 'शराब आत्मा को पतित बनाती है।' और किसी ने कहा — 'नाशी मानव के पतन का कारण बनती है।'

विवाद बढ़ गया, पर शिष्य कोई समाधान प्राप्त नहीं कर सके। अतः वे सब बुद्ध के पास पहुँचे और उन्हें अपने विवाद के विषय में बताया।

बुद्ध अपने शिष्यों की बात सुनकर मुस्कराए और बोले — "अगर एक छिद्र रहित सूखे हुए तुम्बे को जल में डाल दिया जाय तो क्या वह डूबेगा?"

'नहीं भगवन्!' सभी शिष्य एक स्वर से झोल उठे।

अच्छ, अगर तुम्बे में एक छिद्र कर दिया जाय तो?" बुद्ध ने पुनः प्रश्न किया।

"वह जल में डूब जायगा भन्ते!"

और उसमें कई छिद्र कर दिए जायें तो?" बुद्ध का प्रश्न था।

"तब भी वह डूबेगा प्रभु!" शिष्य गुरुदेव के प्रश्नों का कुछ चकित होकर उत्तर दे रहे थे।

अंत में तथागत ने कहा — "भिक्षुओ! धन-वैभव तथा सुरा-सुन्दरी आदि सभी आत्मा के लिए छिद्र हैं। जैसे अनेक छिद्र या एक ही छिद्र तुम्बे को जल में डुबा देता है। ठीक इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष आदि सभी दुर्गुण आत्मा के पतन का कारण बनते हैं। दुर्गुण-रूप अनेक या एक ही छिद्र आत्मा के सहज गुणों को नष्ट करके उसे पतित बना देता है।

तो बन्धुओ, आप समझ ही गये होंगे कि राग-द्वेष आदि सभी दोष आत्मा को कर्म-भार से बोझिल बनाते हैं। इनकी कुरामातों के विषय में क्या कहा जाय? मनुष्य-मनुष्य का आपस में झगड़ा होता है, अर्थात् पड़ोसी-पड़ोसी लड़ पड़ते हैं किन्तु एक की गाय या पाला हुआ कुत्ता भी अगर दूसरे के दरवाजे पर आ जाए तो वह व्यक्ति लाठी लेकर उन मूक जानवरों को बुरी तरह से मारता है तथा उन्हें द्वेषपूर्ण निगाहों से देखता है।

अब ऐसे व्यक्तियों से पूछो कि स्तन जानवरों से तुम्हारा द्वेष-क्यों? उन बेयारों पर तुम्हारा क्रोध क्यों? तुम क्यों भूल जाते हो कि सीधे-सादे सन्त कबीर की संसार के समस्त प्राणियों के प्रति कैसी भावना थी। वे कहते थे :—

दया कौन पर कीजिए, का फा निर्दय होय।

सौई के सब जीव हैं, कीरी झुंजर होय॥

कैसी दिव्य-दृष्टि थी उनकी! संसार की समस्त आत्माओं को आत्मवत् समझते थे अतः विचार करते थे — किससे द्वेष? सभी तो परमात्मा की संतान हैं, उनके ही अंश हैं। फिर हमें क्या अधिकार है किसी को भी दुःख या पीड़ा पहुँचाने का?

ऐसी दृष्टि ही कर्म-बंध से बचा सकती है। अन्यथा राग और द्वेष तो ऐसी चीजें हैं जो कि तुरन्त ही आत्मा से चिपक जाती हैं। किस प्रकार चिपकती हैं? यह आचारंग सूत्र की टीका में बताया गया है — जैसे एक व्यक्ति ने अपने घर के बाहर चबूतरे पर पैर धोये और उसके पश्चात् अन्दर गया। पैर गीले होने के कारण घर के फर्श पर की सूक्ष्म रज उनके पैरों से चिपक जाती है। उसी प्रकार राग-द्वेष भी आत्मा से अति-शीघ्र चिपक जाते हैं।

किन्तु महापुरुष इससे बचने का शयल करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य घर के अन्दर फर्श पर बिछी हुई रज को झाड़ू से साफ कर देता है उसी प्रकार महान् आत्माएँ भी राग-द्वेष रूपी कचरे को सामायिक, प्रतिक्रमण तथा अन्य शुभक्रियाओं के द्वारा साफ करते हैं। घर का कचरा अगर बाहर नहीं निकाला जाय तो वह बढ़ता चला जाता है अतः गृहस्थ एक समय ही झाड़ू लगाकर नहीं रह जाता, वह सुबह शाम दोनों वक्त कचरे की सफाई करता है।

इसी प्रकार हमारे यहाँ सुबह भी प्रतिक्रमण करना पड़ता है तथा शाम को भी। श्रावक और साधु दोनों के लिए यही विधान है। जो भव्य-आत्मा अपनी सम्यक् साधना के द्वारा इस राग-द्वेष रूपी कचरे को पूर्णतया साफ कर देती है, दूसरे शब्दों में इन आभ्यन्तर शक्तियों पर विजय प्राप्त कर लेती हैं वे ही 'जिन' कहलाते हैं।

'जिन' कितने प्रकार के

“ठाणांग सूत्र” में तीन प्रकार के 'जिन' कहे गये हैं।

१) अवधिज्ञानी जिन — देवता अवधिज्ञानी जिन कहलाते हैं। पुण्योपार्जन के कारण ही वे देव गति प्राप्त करते हैं। तथा शास्त्रकार उन्हें अवधिज्ञानी जिन कहते हैं।

२) मनःपर्यायज्ञानी जिन — मनःपर्याय ज्ञान मुनिराजों को होता है। मुनिराजों के अलावा अन्य किसी को यह प्राप्त नहीं हो सकता। तथा मुनियों में भी वे ही उसे प्राप्त कर सकते हैं, जो अप्रमादी हों। सम्यक् रूप से समय का पालन करते हों तथा चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर चुके हों।

मनःपर्यायज्ञान जिन्हें होता है वे कहीं तक के प्राणियों के विषय में जान सकते हैं, इस विषय में बताया है — डाई द्वीप के अन्दर जिसमें जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड,

और अर्ध पुष्कर द्वीप हैं। अर्ध पुष्कर द्वीप इज्रलिये कहा गया है कि पुष्कर द्वीप के आधे में पहाड़ है और आधे में मनुष्य की बस्ती। इस प्रकार कुल ढाई-द्वीप हुए।

अब ढाई द्वीप की लम्बाई-चौड़ाई के विषय में आपकी जिज्ञासा हो सकती है कि यह कितना बड़ा होगा। इसका समाधान यह है - एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है, जम्बूद्वीप के चारों ओर दो लाख योजन का लवणसमुद्र है। चार लाख योजन का घातकी खंड, आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र और सोलह लाख योजन का पुष्कर द्वीप है। पुष्कर द्वीप के सोलह लाख योजन में से आठ लाख योजन में मनुष्यों की बस्ती है।

तो मनःपर्यायज्ञानी जिन इस ढाई द्वीप के समस्त संज्ञी अर्थात् मन वाले प्राणियों के मन की बात जान लेते हैं। उनके हृदय में चल रहे प्रत्येक विचार को समझ लेते हैं।

केवलज्ञानी जिन - तीसरे प्रकार के जिन केवलज्ञानी होते हैं। जिन्हें सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जो भूत, भविष्य और वर्तमान काल की प्रत्येक बात को जानने में समर्थ होते हैं वे केवलज्ञानी जिन कहलाते हैं।

बंधुओं, आपको ध्यान होगा कि मूल श्लोक में मानव-शरीर के छः फलों में से पहला फल जिनेन्द्र-पूजा है। जिसमें जिन, इन्द्र और पूजा तीन शब्द निहित हैं। प्रथम शब्द 'जिन' के विषय में आपको विरुद्ध बता दिया गया है, तथा अभी-अभी तीन प्रकार के जिनों के बारे में आपने जान लिया है। अब हम दूसरे शब्द 'इन्द्र' को लेंगे।

जिनों के इन्द्र

जिन तीन प्रकार के हुए, पर उनके इन्द्र कौन? तीर्थंकर महाराज। देवाधिदेव तीर्थंकर उनके इन्द्र हैं तथा उनकी पूजा कल्ला मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का पहला फल है।

पूजा कैसी हो?

पूजा दो प्रकार की होती है। प्रथम द्रव्य-पूजा और दूसरी भाव-पूजा। द्रव्य पूजा करने में अनेक पदार्थों का योग मिलाना पड़ता है तथा आरम्भ-समारम्भ करना भी आवश्यक हो जाता है। क्योंकि द्रव्य पूजा करने वाले अनेक प्रकार के पदार्थ काम में लेते हैं। यथा-फल, फूल तथा अन्य प्रकार के खाद्य पदार्थ।

दूसरी है भाव-पूजा। भाव-पूजा द्रव्य पूजा से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगता। जिनेश्वर भगवान ने अहिंसा का विधान छहों प्रकार के जीवों का रक्षण करने के लिए बनाया है। इसलिए भाव-पूजा को ही उत्तम माना गया है। भगवान पर श्रद्धा रखना, उसके वचनों पर विश्वास रखते हुये उनके

निर्देशित मार्ग पर चलना ही भाव-पूजा और सच्ची पूजा है। एक श्लोक में भाव-पूजा का महत्त्व बताते हुए लिखा है :-

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मित मुखी लोचनैः सोऽर्च्यते,
यस्तं वंदति चैकशस्त्रिजगतां साऽहर्निशं ब्रह्मते।
यस्तं स्तौति परब्रह्मदमनस्तोमेन स स्तूयते,
यस्तं ध्यायति कृत्स्नकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः।

जो प्राणी जिनेश्वर भगवान की पूजा करता है, उसकी पूजा देवांगनाएँ स्वयं ही अत्यन्त हर्षित होती हुई तथा मधुर मुस्कारों से चेहरे पर लिए हुए करती हैं।

पर वे पूजा किस पुजारी की करती हैं? वृक्ष से तोड़कर लाये हुये फूलों से जिनेश्वर की पूजा करने वाले पुजारी को नहीं, वरन् अन्तरात्मा की प्रगाढ़ श्रद्धा रूपी सुमनों से जो जिनेन्द्र की पूजा करता है उसकी। कहा भी है -

“भक्त्या तुष्यन्ति केवलम्।”

भगवान केवल भक्ति से अर्थात् श्रद्धापूर्वक जाप करने से ही प्रसन्न होते हैं।

दृढ़ श्रद्धा और अन्तरतम की प्रगाढ़ भक्ति जिसके हृदय में जिनेन्द्र के प्रति होती है वही पुरुष देवांगनाओं द्वारा पूजित होता है तथा देवताओं को अपने चरणों में झुका सकता है। वे ही देवता जो सच्चे भक्तों को, सच्चे धर्म के अनुयायियों को तथा पतिव्रता नास्तियों को धर्म से ढिगाने आते हैं, स्वयं ही हार मान लेते हैं।

जो जिनेन्द्र भगवान को सुबह-शाम वंदन करते हैं वे सन्त-मुनिराज अन्य प्राणियों के द्वारा रात-दिन वंदन करने लायक बनते हैं। आप देखते ही हैं, दो वक्त नियमित रूप से वंदन करने वाले सन्तों को रात-दिन प्राणी वंदन करते हैं। यह भाव-पूजा का ही माहात्म्य है। साधु का इतना महत्त्व क्यों माना जाता है इस विषय में बताया गया है :-

महाव्रत पंच आदि सप्तविंश गुण नामें,
जानि दुःख मूल जग भोग भये त्यागी हैं।
निशदिन करत अभ्यास जिन आगम को,
आत्म स्वरूप साधवे की मति जागी है।
पुद्गल चाह तजी, बाराविध धारे रूप,
परीषह दुःकर सहत शिवनागी है।
कहे अमीरिख सबे करम कलंग मेरि,
पामें मोक्षवास ऐसे साधु बड़भागी हैं।

बंधुओ, दिन-रात वंदन करने योग्य व्यक्ति सहज ही नहीं बन जाता। उसको

कितना त्याग करना पड़ता है? कितने बंधनों में बँधना पड़ता है? मन को कितना संयमित करना पड़ता है? इसका अन्दाज लगाने से नहीं लगता। फिर भी पूज्यपाद श्री अमीरुद्दीन जी महाराज ने संक्षेप में समझाने का आयास किया है। कहा है -

वही बड़भागी अर्थात् बड़े भाग्यवान् मन्त हैं जो पाँच दुष्कर महाव्रतों का पालन करते हैं, सत्ताईस गुणों से युक्त होते हैं तथा जगत के भोगों को दुःख का मूल मानकर त्याग देते हैं।

जिनागमों को निरन्तर पढ़ते हैं, उन्हें समझते हैं तथा उन पर गहन चिन्तन करते हुए आत्म-स्वरूप में रमण करने का प्रयत्न करते हैं।

सच्चे संत अपने नश्वर शरीर के मोह का सर्वथा त्याग करके बारह प्रकार की तपस्या में संलग्न रहते हैं तथा नाना प्रकार के भयंकर कष्ट सहन करके भी मुक्ति-प्राप्ति के प्रयत्न को नहीं छोड़ते।

कवि ने कहा है - ऐसे ही बड़भागो साधु आत्मा पर चढ़े हुए कर्म-रूपी कलंकों का समूल नाश करके मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि ऐसे ज्ञानी, त्यागी, आत्मा के सही स्वरूप को जानने वाले और भगवान् के सच्चे उपासक ही अन्य प्राणियों के लिये वंदनीय बनते हैं।

श्लोक में अपनी बात बताई गई है कि जो भगवान् की स्तुति करता है, उसकी स्तुति इंद्र-लोक में होती है। दृढ़वती अरुणक श्रावक की स्तुति इंद्र महाराज ने की थी। कामदेव श्रावक की प्रशंसा भी इंद्र को करनी पड़ी। तो जो अपने धर्म पर दृढ़ रहता है तथा भगवान् की स्तुति और पूजा करता है, उसके गुण-गान देवलोक में भी होते हैं।

इन सबके अलावा भगवान् का ध्यान, उनके विषय में चिन्तन और उनकी आन्तरिक पूजा जो व्यक्ति करता है, उसका ध्यान योगी भी करते हैं। योगी भी उनकी प्रशंसा और स्तुति करते नहीं थकते।

मतलब यही है कि जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करना मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का पहला फल है। भक्ति के बिना ध्यात्म-रूप परमात्मा की प्राप्ति संभव नहीं है। भक्ति को चाहे आप भक्ति कहलें श्रद्धा कहलें, यकीन कहलें या अंग्रेजी में 'बिलीव' कहें। बात एक ही है। विश्वास ही मुमुक्षु को अपनी मंजिल तक पहुँचने का मार्ग बताता है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने तो कहा है :-

"Faith is the root of all blessings."

विश्वास सारे वरदानों का आधार है।

तात्पर्य यही है जब आत्मा में उच्च श्रद्धा पैदा होती है तभी भगवान् की

भक्ति, चिन्तन-मनन, स्वाध्याय और पूजा सार्थक हो सकती है। और इसके लिये मन को साधने की आवश्यकता सर्वप्रथम एवं अनिवार्य चीज है। संसार के सभी महापुरुष मन की शुद्धता, पवित्रता और मन के संयम पर जोर देते हैं। कहते हैं :-

मोक्ष मिले नहीं गायन से, शिव नाहि मिले तन भस्म रमाये।
छाड़ के गेह वसे वन हूँ नहीं मोक्ष मिले बस-ध्यान लगाये।
चारहूँ धाम भ्रमे न मिले शिव नाहि मिले सुख मौन रहाये।
कंद भखे न मिले शिव अमृत ब्रह्म मिले मन को वश लाये।

जोर-जोर से भजन-कीर्तन करने में, घण्टे बजा-बजा कर आरती करने से अथवा शरीर पर भस्म रमाने और तिलक-छापे लिखने से मोक्ष नहीं मिलता। न ही मोक्ष घर छोड़कर वन जाने और वहाँ पर बगुले के समान ध्यान लगाने से ही मिलता है। मोक्ष चारों धाम के मंदिरों में सिर पटकने से या मौन ले लेने से भी नहीं मिलता। अन्न-त्याग कर केवल कंद-मूल का भक्षण करने से भी मुक्ति रूपी अमृत प्राप्त नहीं होता वह तो मन को वश में कर लेने पर ही मिल सकता है।

मन पर संयम करने पर ही मानव सच्चे आनन्द की अनुभूति कर सकता है। अन्यथा उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य और उससे भी अधिक मिल जाने पर भी शांति नहीं मिल सकती।

राज्य की सीमा कहाँ है ?

मिथिला नरेश महाराजा जनक के राज्य में एक ब्राह्मण रहता था। उससे एक बार कोई बड़ा भारी अपराध हो गया।

ब्राह्मण को दरबार में उपस्थित किया गया। जनक उसके अपराध से बहुत कुपित हुए और उसे अपने राज्य की सीमा से बाहर निकल जाने का आदेश दिया।

ब्राह्मण ने महाराज के आदेश को शिरोधार्य किया पर हाथ जोड़कर पूछा - “महाराज ! मैं इसी वक्त आपके राज्य में बाहर निकल जाता हूँ, किन्तु कृपया मुझे बता दीजिये कि आपके राज्य की सीमा कहाँ है ?”

ब्राह्मण के प्रश्न से विद्वान एवं अज्ञानी जनक के मन को एक गहरा झटका लगा। वे सोचने लगे इस पृथ्वी पर तो अनेक शक्तिशाली राजा राज्य कर रहे हैं। अतः मुझे तो अपना राज्य मिथिला ही लगता है। पर फिर ख्याल आया कि राज्य मेरा कहाँ से आया ? क्या यह मेरे साथ चलेगा ?

ज्यों-ज्यों जनक की विचार-धारा आगे बढ़ी उनके अधिकार की सीमा संकुचित होती चली गई पहले प्रजा पर, फिर सेवकों पर और फिर अपने अंतःपुर पर ही

उन्हें अपना अधिकार लगा। पर जब जन्मक चिंतन की और भी गहराई में उतरे तो उन्हें लगा कि इन पर भी मेरा अधिकार कहाँ से आया? यह सब नाशवान हैं, मेरा अधिकार तो केवल मेरी आत्मा पर ही है।

ऐसा विचार आने पर वे बोले - “बन्धु, मेरे राज्य की सीमा कहीं नहीं है, संसार की किसी भी वस्तु पर मेरा अधिकार नहीं है। आप जहाँ चाहे, प्रसन्नतापूर्वक रहिये।”

यह होता है मन का संयम। मन गर इस प्रकार का संयम होने पर ही मुक्ति का अभिलाषी पुरुष दृढ़ श्रद्धा सहित जितेन्द्र की सच्ची पूजा कर सकता है तथा देवताओं को भी अपने चरणों पर झुका सकता है।

बंधुओं, आज आपने मनुष्य-जन्म के पहले फल जिनेन्द्र-पूजा के विषय में ज्ञान किया। बाकी पाँच फलों के विषय में हम सुविधानुसार अगली बार विवेचन करेंगे।

• • •

[२०]

बलिहारी गुरु आपकी...

धर्म प्रेमी बंधुओ! माताओं एवं बहनों!

कल के प्रवचन में मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के छः फलों का उल्लेख किया गया था। उनमें से पहला फल जिनेन्द्र पूजा था और उसके विषय में आपको कल विस्तारपूर्वक बताया गया था।

आज हमें मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष के दूसरे फल 'गुरुपर्युपास्ति' पर विचार विमर्श करना है। 'गुरु-पर्युपास्ति' में दो पद हैं एक गुरु और दूसरा पर्युपास्ति। गुरु शब्द का अर्थ है सद्गुरु। यह आप लोग सभी जानते हैं, पर गुरु के अन्य और भी अर्थ होते हैं।

व्याकरण शास्त्र में स्वर दो प्रकार के माने गए हैं। ऋस्व और दीर्घ। ऋस्व स्वर होते हैं - अ, इ, उ तथा दीर्घ स्वर या गुरु कहलाते हैं - आ, ई, ऊ, ए, ऐ और ओ, औ आदि। तो आप समझ गए होंगे कि व्याकरण में दीर्घ को गुरु कहते हैं।

किन्तु ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो वहाँ दीर्घ को गुरु नहीं कहा जाता। वरन् बृहस्पति नाम का एक ग्रह है। जिसे गुरु कहते हैं। तो ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से गुरु का अर्थ बृहस्पति लेना पड़ेगा।

अब गुरु शब्द का तीसरा अर्थ लिखा जाएगा। धर्म-शास्त्र की दृष्टि से गुरु धर्मोपदेशक को कहा जाता है। अर्थात् जो धर्म के विषय में पढ़ाये, धर्म के विषय में समझाए और धर्म विषयक उपदेश दे वह गुरु माना जाएगा।

तो गुरु शब्द का अर्थ व्याकरण के दृष्टि से अलग है, ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से अलग है और धर्मशास्त्र की दृष्टि से भी अलग है। हमें यहाँ गुरु शब्द को धर्मशास्त्र की दृष्टि से ही लेना है क्योंकि हमारा विषय आध्यात्मिक-विवेचन को लेकर है।

अब हमारे सामने पर्युपास्ति शब्द आता है। पर्युपास्ति में 'परि' और 'उप' उपसर्ग है। परि का अर्थ चारों तरफ से, उप का अर्थ है नजदीक, तथा अस्ति का अर्थ है रहना। इस प्रकार पर्युपास्ति का अर्थ हुआ नजदीक रहना। पर नजदीक किसके रहना? इसका उत्तर पहले ही दे दिया गया है, गुरु पर्युपास्ति अर्थात्

गुरु के नजदीक रहना।

बलिहारी गुरु आपकी

हमारे आध्यात्मिक शास्त्रों में गुरु का बड़ा भारी महत्त्व माना गया है, इसीलिए मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का दूसरा फल गुरु की सेवा करना बताया है। कोई अगर कहे कि गुरु की सेवा हम क्यों करें? तो उसके उत्तर में यही कहा जा सकता है - हमारे शास्त्रों में तीन तत्वों की पहचान करनी चाहिए ऐसा उपदेश है। वे तीन तत्व हैं - देव, गुरु और धर्म। गुरु जो कि देव और धर्म के बीच में हैं इसलिये देव और धर्म की पहचान कराते हैं। किस प्रकार पहचान कराते हैं इस विषय में कहा गया है :-

“अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाद्यनशलाकया।

चक्षुरून्मीलितं येन, तस्मैश्रीः गुरवे नमः॥”

अज्ञान रूपी अन्धे हो गए हैं उन चक्षुओं को ज्ञान रूपी अंजना की शलाका से उन्मीलित करने वाले गुरुओं को हम नमस्कार करते हैं।

वास्तव में ही अपने चर्म-चक्षुओं के द्वारा यद्यपि हम संसार के प्रत्येक पदार्थ को देख सकते हैं किन्तु जिन ज्ञान-रूपी नेत्रों से हम अपनी अन्तरात्मा को देखते हैं उन्हें ऊघाड़ने में गुरु के अलावा और कोई भी समर्थ नहीं होता।

अंधेरे में जिस प्रकार व्यक्ति को कोई भी अन्य पदार्थ दिखाई नहीं देता, यहां तक कि अपने हाथों में जुड़ी हुई अंगुलियों तक को वह नहीं देख पाता, उसी प्रकार अज्ञान रूपी अन्धेरे में ज्ञानमय नेत्रों के बिना मानव अपनी आत्मा के निजी गुणों को नहीं पहचान पाता। वह यह भी नहीं जान पाता कि इस संसार में हेय क्या है और उपादेय क्या है? पाप क्या है, और पुण्य क्या है? संवर क्या है, और निर्जरा क्या है? बंध क्या है, और मोक्ष क्या है? इन्हीं सब बातों को जानने के लिए गुरु की आवश्यकता है और केवल गुरु ही मानव के अंतर्चक्षुओं को ज्ञान-रूपी अंजन के द्वारा ज्योतिर्मय बनाकर उन्हें यह सब देखने में समर्थ बना सकते हैं।

इसीलिए गुरु का महत्त्व सर्वोपरि माना गया है, यहाँ तक कि परमात्मा से भी पहले उन्हें नमस्कार करना चाहिए। कबीर जैसे संत कह गए हैं -

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, हा के लागू पाय ?

बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दिया बताय।

मानव अगर परमात्मा-पद प्राप्त करना चाहता है, अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा बनाने की आकांक्षा रखता है तो उसे गुरु की शरण में जाना अनिवार्य है। गुरु के आभाव में अन्य कोई भी शक्ति उसे ऐसा करने में समर्थ नहीं बना सकती।

देव, गुरु और धर्म में गुरु का पद मध्यस्थ है और मध्यवर्ती होकर वे देव और धर्म की पहचान कराते हैं। नमस्कार मंत्र में भी आप जानते ही हैं कि पाँच पद होते हैं। अरिहन्त और सिद्ध फलें, उसके पश्चात् आचार्य अर्थात् गुरु और बाद में उपाध्याय तथा साधु।

मध्यवर्ती होने का महत्व आप जानते ही होंगे। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा। आप अपनी तस्वीर खिंचवाते हैं। अगर परिवार के सम्पूर्ण सदस्यों के साथ तस्वीर खिंचवाई जाती है तो आप अपने पिता, दादा या अन्य गुरुजनों को सबके मध्य में बिठाते हैं क्योंकि वे आपसे बड़े और पूज्य होते हैं। इसके अलावा कोई बड़ा नेता, मिनिस्टर या अन्य सन्माननीय व्यक्ति आ जाएँ तो आप उसे अपने शिक्षकों के भी मध्य में बैठने के लिए कुर्सी प्रदान करते हैं, तथा तस्वीर खिंचवाते हैं।

इससे साबित होता है कि व्यक्ति सबसे अधिक महान् और उच्च होता है उसे अन्य सब के मध्य में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त होता है। इसी प्रकार गुरु को महान् होने के कारण देव, गुरु तथा धर्म में और नमोकार मंत्र के पाँच पदों में भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण मध्य-स्थान दिया गया है।

गुरु कैसे होने चाहिए ?

बन्धुओं, अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि गुरु कैसे होने चाहिए ? आज के युग में गुरु कहलाने वालों की कमी नहीं है। अपने प्रत्येक शिक्षक को आप गुरु कहते हैं। किन्तु उनके द्वारा जो शिक्षा छात्रों को प्राप्त होती है, क्या वह पूर्ण कही जा सकती है ? नहीं, आज तो शिक्षा आदर्श और पूर्ण कदापि नहीं मानी जा सकती। आज के शिक्षक अपने विषय की पाठ्य-पुस्तकें छात्रों को पढ़ा देते हैं, उनमें रही हुई बातें रटा देते हैं। और छात्र भी जैसे-तैसे विषय को रट-रटाकर परीक्षाएँ पास कर लेते हैं और डिग्रीयों प्त लेते हैं। पर उससे क्या होता है ? केवल ऊँची-ऊँची पदवियों और नौकरियों ही तो प्राप्त हो सकती हैं। उस शिक्षा से शिक्षार्थियों का जीवन कहाँ उच्च बनता है ?

जिस शिक्षा के द्वारा छात्रों में शिष्टता, सदाचार, विनय, अनुशासन, कर्तव्यपरायणता तथा सेवा आदि की भावनाएँ जन्म न लें, उनमें नैतिकता और धार्मिकता के अंकुर न फूटें उस शिक्षा से क्या लाभ हो सकता है ? कुछ भी नहीं। उल्टे उसका परिणाम भयानक ही दिखाई देता है। अगर दिन हम सुनते हैं कि अमुक स्कूल के विद्यार्थियों ने अपने मास्टर्स को गालियाँ दी और पीटा अथवा अमुक कालेज के छात्रों ने प्रोफेसर को छूरा दिखाकर मार डालने की धमकी देते हुए परीक्षा के समय अपनी कॉपी में नम्बर बढ़वा लिए। बात-बात में विद्रोह करना तो स्कूल और कॉलेज के छात्रों का खेल ही हो गया है।

यह सब क्यों होता है ? इसलिए कि, आज के शिक्षक छात्रों को महीने

मर तक पुस्तक-ज्ञान करके अपनी तनखाह लेना ही अपना परम कर्तव्य समझते हैं। इतने मात्र से ही उनके कर्तव्य की इति श्री हो जाती है। छात्रों का चरित्र-निर्माण होता है या नहीं इस बात से उन्हें कोई मतलब नहीं रहता। उनका एकमात्र और मुख्य उद्देश्य शिक्षण के द्वारा अर्थोपार्जन करना होता है। इसलिए महापुरुष ज्ञान के सच्चे अभिलाषी को सीख देते हैं :-

लोभी गुरु तारे नहीं, तारे गुरु तारण हार।

जो न तिरणो चाहिए, निर्लोभी गुरु धार॥

क्या सीख दी गई है इस पद्य में? यही कि अगर तू संसार-सागर से पार उतरना चाहता है तो ऐसा गुरु खोज, जो कि स्वयं भी इस संसार-सागर को तैर कर पार करने में समर्थ हो और दूसरों को भी पार उतारने की क्षमता रखता हो।

सच्चे गुरु केवल अपनी वाणी से ही शिष्यों को शिक्षा नहीं देते वरन् अपने जीवन से भी मूक शिक्षा देते हैं। शिष्य उनके वाणी से आध्यात्मिक या पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करता हुआ उनके जीवन से भी निर्लोभ, निःस्वार्थी, नैतिकता, सदाचार तथा चरित्र-निर्माण की शिक्षा प्राप्त करता चला जाता है। सद्गुरु किसी प्रकार के लोभ या स्वार्थ की पूर्ति के लिए अपने शिष्यों को ज्ञान दान नहीं देते। उनका उद्देश्य अपने शिष्यों का जीवन-निर्माण करना होता है। और इसलिये उनका ज्ञान-दान सर्वांगीण होता है। वे अपने शिष्यों को मन, वचन और शरीर से पूर्ण शुद्ध, पवित्र और उच्च बनाने का प्रयत्न करते हैं। तथा इसी उद्देश्य को सामने रखकर पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा संयम की साधना कराते हुये लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान प्रदान करते हैं।

शिष्य कैसे होने चाहिये?

अभी हमने सद्गुरु अर्थात् सच्चे गुरु के महत्त्व और लक्षणों के विषय में जाना, पर अब यह जानना भी आवश्यक है कि शिष्य के लक्षण और कर्तव्य क्या हैं? आज के युग में देखा जाता है कि स्कूल या कॉलेज का समय होते ही छात्र अपनी पुस्तकें लेकर वहाँ पहुँचते हैं और बंधे हुए समय में किताबें पढ़-पढ़कर फुट्टी की घन्टी बजते ही वहाँ से घर के लिए खाना हो जाते हैं। स्कूल के समय से पहले और बाद में शिक्षकों से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। परिणाम यह होता है कि स्कूल में वे किताबी ज्ञान तो कुछ हासिल कर लेते हैं पर जीवन-निर्माण के लिए जो ज्ञान आवश्यक है वह उन्हें नहीं मिल पाता।

इसलिये हमारे श्लोक में मनुष्य जन्मस्वी वृक्ष के दूसरे फल में 'गुरुपर्युपास्तिः' लिखा गया है। अर्थात् गुरु के अधिक से अधिक नजदीक या उनके आस-पास ही रहना। जब तक गुरु का सामीप्य अधिक से अधिक न मिले, तब तक छात्र को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसीलिए तो प्राचीन कालमें गुरु वनों

या जंगलों के किन्हीं सुरम्य स्थानों में आश्रम का निर्माण कर वहीं रहते थे तथा उनसे ज्ञान-प्राप्ति के इच्छुक शिष्य भी जहाँ के पास रहकर अपने प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करते हुए इहलौकिक और परलौकिक ज्ञान का अर्जन करते थे।

घर छोड़कर गुरु के पास रहने में यद्यपि उन्हें अनेकों कठिनाइयों तथा कष्टों का सामना करना पड़ता था किन्तु गुरु की सेवा में निरत रहने से उन्हें कोई भी कष्ट महसूस नहीं होता था। क्योंकि वे गली-भौंति समझते थे कि :-

यथा खनन् खनित्रेण, भूतले वारि विन्दति।
तथा गुरुगता विद्या, शुश्रूषाधिगच्छति॥

— चाणक्य

जैसे कुदाली से खोदकर मनुष्य पाताल के जल को पाता है, वैसे ही गुरुगत विद्या सेवा से प्राप्त होती है।

गुरु के अभाव में

बिना गुरु की सेवा किये, बिना उनके सम्पर्क में रहे और बिना कष्टों को सहन किया ही व्यक्ति अगर महापंडित बनना चाहे तो यह कैसे सम्भव होगा? कवि दलपतराय जी ने कहा भी है :-

पढ़ के न बैठे पास, अक्षर न बाँचि सके,
बिना ही पढ़े से कहो, आवे कैसे फारसी?

कोई व्यक्ति गुरु के समीप जाकर बैठे ही नहीं, अक्षरों को पहचानने और उन्हें पढ़ने का प्रयत्न भी न करे पर चाहे कि मैं फारसी भाषा का विद्वान बन जाऊँ तो यह कैसे सम्भव हो सकता है? उसके लिये तो काला अक्षर मँस के बराबर ही रहेगा। उर्दू लिपि में हम देखते ही हैं कि उसमें आड़ी-टेढ़ी लकीरें और बिन्दियाँ मात्र होती हैं पर वे लकीरें व्यर्थ नहीं होतीं उनका मतलब भी होता है और वह समझ सकता है उन्हें मेहनत करके जानने की कोशिश करने वाला व्यक्ति ही।

जौहरी के मिले बिना, पारख न जाणि सके,
हाथ नग लिए रहे, संशय न शरसी।

जब तक व्यक्ति जौहरी की संगति में नहीं रहेगा, तब तक वह हीरा, माणिक या पन्ना किसी जवाहरात की परख नहीं सीख सकेगा। हथेली पर नग को रखे हुए भी वह नहीं जान पाएगा कि यह कितना रत्न है अथवा कितनी कीमत का है?

हमारा चातुर्मास जब बम्बई में था तो एक श्रावक नीलम लेकर आया। किसी दूसरे व्यक्ति ने उससे पूछा कि किसलिए लाए हो इसे? बोला - "बेचने!"

पर जब दाम पूछे गए तो कहने लगा - 'कीमत तो इसकी मुझे मालूम नहीं है, जौहरी को दिखाने पर पता चलेगा।' तो बताओ, बिना जौहरी को गुरु बनाए क्या वह श्रावक नीलम की कीमत जान सकता था? नहीं, बिना जौहरी की संगति किये वह बहुमूल्य पदार्थ की पहचान और उसकी कीमत नहीं आंक सकता।

कवि ने आगे कहा है :-

वैद्य के न मिल्या कहूँ, बूँटी क्यों बताई देत,
बिना भेद पाये, वह औषध है छार सी।

कहा है कि वैद्य से बिना मिले जड़ी-बूटियों की पहचान और उनके गुण अथवा नाना प्रकार की कीमती भस्मों के प्रभाव को कौन जान सकता है?

मान लीजिए, किसी के पिता नामांकित वैद्य थे। वे घर में नाना प्रकार की दवाइयाँ, काढ़े, अवलेह या भस्म बनाया करते थे। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनका लड़का, जिसने वैद्यक का नाम भी कभी पसन्द नहीं किया, क्या किसी को साधारण सिर-दर्द की दवा भी दे सकता है? नहीं, उसके लिये तो सब जड़ी-बूटियाँ घास-फूस के समान, और भस्में चाहे वे अभ्रक, लौह या अन्य किसी भी कीमती पदार्थ की ही क्यों न हों, सब के समान ही हैं।

अन्त में कवि ने कहा है -

दाखे दलपतराय, देखलो ये साखला थीं,
बिना गुरु-ज्ञान जैसे अंधेरे में आरसी।

कवि दलपतराय जी का कथन है - इन दृष्टान्तों से भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार अंधेरे में रखे हुए दर्पण में चेहरा दिखाई नहीं दे सकता, उसी प्रकार अज्ञान का अंधकार होने पर चाहे पोथियों का अंबार भी लगा रहे, मनुष्य उसमें से कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो उसे गुरु के संपर्क में जाना ही होगा, उसकी सेवा में बैठना होगा तथा विनय और श्रद्धापूर्वक उनसे ज्ञान हासिल करना होगा।

इसी विषय में मराठी भाषा के प्रसिद्ध कवि संत तुकाराम जी कहते हैं :-

सद्गुरु वांचो नी सांपडेना सौंय,
धराचे ते पाय आधी-आधी॥१॥

सद्गुरु के बिना मानव को सही मार्ग मिलना संभव नहीं है। सद्गुरु की अथवा संतों की संगति करने पर तथा उनसे ज्ञान-वर्चा करने पर ही उसे इस सांसारिक भूल-भूलैया से निकलने का रास्ता मिल सकेगा।

पद्य में केवल गुरु ही नहीं, वरन् सद्गुरु का उल्लेख किया है। इस पर गहराई से विचार करना चाहिये। गुरु कहलाने वाले तो अनेक व्यक्ति हमें मिल

सकते हैं। जो धन लेकर अथवा अन्य किसी स्वार्थ साधन के उद्देश्य को लेकर शिक्षा प्रदान करते हैं, किन्तु वह शिक्षा या ज्ञान मानव के जीवन को वैसा महान नहीं बना सकते जैसा कि सद्गुरु बिना किसी भी स्वार्थ या लोभ-लालच के ज्ञान-दान देकर बना सकते हैं।

सच्चे गुरु की एक और बड़ी भासी विशेषता यह होती है कि उनकी दृष्टि में सभी ज्ञानार्थी समान होते हैं। सभी गर उनका वात्सल्य भाव एकसा रहता है। चाहे छात्र हो या शिक्षक, अमीर हो या गरीब, ऊँची जाति का हो या नीची जाति का, वे समान स्नेह-पूर्वक उसे अपनाते हैं। तथा ज्ञान-दान देते हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञानाभ्यास जरूर कराऊंगा!

कहते हैं कि एक गरीब वेश्या का बालक जो कि ज्ञान-प्राप्ति का बड़ा इच्छुक था अपनी मां से बोला - "मुझे ज्ञान प्राप्त करना है, मैं उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ।"

पुत्र की बात माता को अत्यन्त प्रिय लगी पर एक तो अर्थाभाव दूसरे अपने बालक को अकुलीन समझकर डरने लगी कि इसे कौन पढ़ाएगा? फिर भी उसने हिम्मत करके अपने पुत्र को स्कूल में भर्ती होने के लिए भेजा। पर परिणाम वही निकला जिसकी उसे आशंका थी। यद्यपि वह बहुत काल से अपनी वेश्यावृत्ति का त्याग कर चुकी थी किन्तु फिर भी वेश्या-पुत्र मानकर उसे किसी भी स्कूल या पाठशाला में स्थान नहीं दिया गया।

माता बहुत ही निराश हुई पर दुबारा साहस करके उसने पुत्र को एक संत के पास ज्ञानाभ्यास करने के लिये भेजा।

लड़का धर्मगुरु के पास आया और अत्यन्त विनयपूर्वक बोला - 'गुरुदेव! मुझे आप ज्ञान-दान देंगे क्या?'

संत ने बालक की विनयशीलता और ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा को पहचानकर कहा - "बेटा! तुम अपने पिता की अनुमति लेकर आ जाओ मैं तुम्हें विद्याभ्यास कराऊँगा।"

संत की बात सुनकर बालक का चेहरा उतर गया तथा उसकी आँखों में आँसू भर आए। रुँधे हुए कण्ठ से वह बोला - 'भगवन्! मेरे पिता को तो मैं पहचानता भी नहीं हूँ तथा मेरी मां को भी उनका नाम मालूम नहीं है। यही मां ने मुझे आपसे कह देने के लिए कहा है।'

पलक झपकते ही संत सारी बात समझ गए। अत्यन्त दयाई होकर तथा बालक व उसकी माता की सत्यवादिता से प्रभावित होकर उन्होंने बालक के मस्तक पर हाथ रखकर कहा - "कोई बात नहीं! वत्स! तुम कल से समय पर विद्याभ्यास

के लिये आ जाया करना।" बालक ने गद्गद होकर संत के चरण-स्पर्श किये और अगले दिन आने की स्वीकृति देकर घर चला गया। उसकी माता ने भी जब यह समाचार सुना तो ईश्वर का लाख-लाख शुक्रिया अदा किया।

इधर जब लोगों ने सुना कि उनके धर्म-गुरु ने एक वेश्या पुत्र को विद्याभ्यास कराना स्वीकार किया है तो वे भारी विरोध करने लगे। चारों ओर उनकी निन्दा तथा आलोचना होने लगी। कुछ व्यक्ति तो संत को समझाने उनके पास भी आए।

किन्तु संत ने स्पष्ट कहा - "घृणा पाप से करनी चाहिये, पापी से नहीं। धर्म और ज्ञान पतित-पावन हैं। वे पापी से पापी का भी उद्धार करते हैं। संसार के प्रत्येक मानव को चाहे वह किसी भी कुल का क्यों न हो उन्हें अपनाने का अधिकार है। तप कर्म के द्वारा तो वेश्या भी अपने पापों का प्रायश्चित्त करके पवित्र बन सकती है। फिर यह बालक तो एकदम निर्दोष है। मैं इसे ज्ञानाभ्यास अवश्य कराऊँगा।"

संत की बात सुनकर लोगों की आँखें खुल गई और वे एक-एक करके वहाँ से चले गये।

वास्तव में ही सद्गुरु ऐसे होते हैं। इसीलिए संत तुकारामजी कहते हैं कि सच्चे गुरु की शरण में जाओ, तभी तुम्हें ज्ञान हासिल हो सकेगा। इतना ही नहीं आगे भी उन्होंने कहा है —

आपुल्या सारिखे करती तात्काल,
नाही कालबेल तथा लागी॥१॥

बताया है कि संतों की शरण में जाना से वे तुम्हें तत्काल ही अपने जैसा बना देंगे। जरा भी समय उसमें नहीं लगेगा।

शास्त्रों में वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक ने भगवान के पास जाकर बारह व्रत अंगीकार किये। और घर पर आकर अपनी पत्नी शिवानन्दा से कहा —

"मैंने तो भगवान से बारह व्रत ग्रहण कर लिए हैं। अच्छा हो कि तुम भी उन्हें अंगीकार लो।"

उनकी पत्नी तुरन्त तैयार हो गई और भगवान के समीप इस इच्छा से आई। इधर मुनिशर्जों के लिए, तो देरी ही क्या है? ग्राहक जिस वक्त भी माल लेने आये वे अविलम्ब देने के लिए तैयार रहते हैं। इसीलिये कहा गया है कि संत अपनी शरण में आने वाले को तुरन्त ही अपने जैसा बना देते हैं।

पारस पत्थर से भी महान

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि हम सांसारिक प्राणी तो लोहे के समान हैं और हमारे गुरु पारसमणि! जिस प्रकार लोहा पात्रस का स्पर्श करके सोना बन जाता

है, उसी प्रकार साँसारिक प्राणी संत-समागम से सुवर्ण के समान मूल्यवान बन सकता है। इस विषय में भी संत तुकाराम जी का कथन है —

लोहपरीसाशी न साहे उण्मा,
सद्गुरु महिमा अभाधरि ॥३॥

कहा है कि लोहे को सोना बना देने वाले पारस की उपमा तो संत के लिए बहुत ही कम है। सद्गुरु की महिमा तो रस्स से भी बढ़कर है।

क्योंकि पारस ने अपने स्पर्श से लोहे को सोना बनाया तो क्या हुआ? काले रंग से पीला रंग प्राप्त हुआ तथा जो लोहा सेर के भाव से बिकता वह तोले के भाव से बिकने वाला बन गया। अर्थात् उसके मूल्य में अभिवृद्धि हो गई। पर सद्गुरु के सम्पर्क से तो एक तुच्छ और अधम प्राणी भी स्वयं उनके समान ही बन जाता है। तो सद्गुरु का महत्त्व पारस से भी अधिक हुआ या नहीं?

उदाहरणस्वरूप - राजा सम्प्रति शिफार खेलने, अर्थात् जीव-हिंसा करने आया था पर उसे संत-समागम होते ही वह स्वयं संत बन गया। राजा श्रेणिक उद्यान में हवाखोरी के लिए गया था पर अनार्थी मुनि ने अपने धर्मोपदेश से उसे धर्ममार्ग में प्रविष्ट करा दिया। राजा परदेशी जो कि अपने हाथ खून से हर वक्त रंगे रहता था, केशी मुनि के प्रभाव से साधु बन गया और चंद दिनों में ही समस्त कर्मों का क्षय करके संसार-मुक्त हो गया।

यह प्रभाव किसका? संत या सद्गुरु का ही तो है। सद्गुरु के अलावा संसार में और किसकी ताकत है जो नर को नारायण बना सके तथा आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित कर सके? आधुनिक युग में विज्ञान की शक्ति सबसे महान् शक्ति मानी जाती है जिसके द्वारा मानव चन्द्रलोक की और मंगललोक की भी सैर कर सकता है तथा अपने एक अणुबम से पृथ्वी को प्राणी रहित कर देने की क्षमता रखता है। किन्तु क्या वह किसी मानव को महामानव बना सकता है? किसी मानव के कर्मों का नाश कर सकती हैं? किसी आत्मा को शाश्वत शान्ति और अक्षय सुख अर्थात् मोक्ष दिला सकने की क्षमता रखता है? नहीं, वह शक्ति सद्गुरु के अलावा और किसी में भी नहीं हो सकती। फिर भी संसार इस बात को समझने की कोशिश नहीं करता। अतः अपने अन्तिम चरण में कवि कड़े शब्दों में कहते हैं —

तुका म्हणे कसे आंधले! जन,
गेले विसरुन खन्या देव ॥४॥

अर्थात् यह दुनियाँ कैसी अंधी है जो बोलते, चलते और धर्मोपदेश करते हुए देव को छोड़कर दूसरी तरफ चलती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि वह सम्यक्ज्ञान हासिल करे। क्योंकि

ज्ञान के अभाव में आत्म-कल्याण की आकांक्षा कभी पूर्ण नहीं हो सकती। कहा भी है —

“ज्ञानाभावतया कर्माणि नश्यन्ति न संशयः।”

— तत्त्वामृत

सम्यक्ज्ञान पूर्वक सात्विक भावनाओं का आराधन करने से कर्म नष्ट हुआ करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

इसलिए आवश्यक है कि मुमुक्षु प्राणी सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करे। और ज्ञान-प्राप्ति कैसे की जा सकती है इस विषय में मैं काफी बता चुका हूँ। संक्षेप में इतना ही कि व्यक्ति कितना भी चतुर और कुशाग्र बुद्धिवाला क्यों न हो, सद्गुरु के अभाव में सच्चा तथा निःसार-मुक्त करने वाला ज्ञान-प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा भी गया है —

बिना गुरुभ्यो गुणनीरधीम्यो,
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोपि।
आकर्ण - दीर्घामितलोचनोऽपि,
दीपं बिना पश्यति नांधकारे॥

अर्थात् गुणसागर गुरु के बिना अति विचक्षण बुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्वों को नहीं जान सकता। जिस प्रकार कि कानों तक फैले हुए विशाल नेत्रों वाला व्यक्ति दीपक की सहायता के बिना अन्धकार में कुछ भी नहीं देख सकता।

इसीलिए गुरु के लिए कहा गया है ‘गुरुस्तु दीपवत् मार्गदर्शकः।’ यानी गुरु दीप के समान मार्गदर्शन करते हैं।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होंगे कि मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का दूसरा फल गुरु की उपासना क्यों बताया गया है, तथा गुरु का महत्त्व प्राचीन कवियों ने गोविन्द अर्थात् ईश्वर से भी बढ़कर क्यों माना है? कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमें इस मानव-पर्याय को सार्थक करार के लिए सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए तथा उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा को अजर-अमर बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

समय हो चुका है, अतः मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के तीसरे फल ‘सत्त्वानुकम्पा’ पर हम कल विचार विमर्श करेंगे।

[२१]

अमरत्वदायिनी अनुकम्पा

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

जैनाचार्य श्री सोमप्रभसूरी ने एक श्लोक में मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के छः फल बताए हैं। उनमें से पहला फल जित्तेन्द्र पूजा और दूसरा फल सदगुरु की सेवा भक्ति करना है। इन दोनों के विषय में पिछले दो दिनों में विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है। आज हम तीसरे फल सत्त्वानुकम्पा का विवेचन करेंगे।

मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष का तीसरा फल है सत्त्वानुकम्पा। इसका अर्थ है — प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करना अर्थात् दया भाव रखना। शास्त्रों में कहा गया है

“सर्व्वेपाणा सर्व्वेभूया सर्व्वेजैवा सर्व्वे सत्ता न हंतव्या।”

—आचारंग सूत्र

— सभी प्राणी, भूत तथा जीव सत्त्व हैं, इनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। दशवैकालिक सूत्र में भी यही बात कही गई है —

“अहिंसा निउणा दिट्ठा, सर्व्वभूएसु संजमो।”

अहिंसा कैसी होनी चाहिए? प्राणी, भूत मात्र पर संयम रखना, यानी किसी भी जीव को नहीं सताना। इसे सत्त्वानुकम्पा कहते हैं।

सत्त्व क्या ?

“सन्तो भावः सत्त्वं।” जो हमेशा टिक कर रहने वाला जीव है उसे ही सत्त्व कहते हैं। प्राण, भूत, या सत्त्व इहा पर अनुकम्पा अर्थात् करुणा और दया का भाव रखना ही भगवान का आदेश है।

अनुकम्पा का शाब्दिक अर्थ आगर करना है तो कहा जा सकता है — दुःख के कारण जो जीव थर-थर काँप रहा है, उसकी भयाकुल स्थिति को जानकर उसके प्रति दयार्द्र हो जाना अनुकम्पा कहलाती है। दूसरे शब्दों में किसी भी दुखी प्राणी का अवलोकन कर हृदय में कम्पन होना और उसे दुख से मुक्ति दिलाने की भावना का जाग्रत होना अनुकम्पा है। सम्यक्दृष्टि मनुष्य का हृदय ऐसा ही सात्विक सुकोमल तथा अनुकम्पा युक्त बन जाता है।

अनुकम्पा या दया, धर्म का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इतना ही नहीं अगर हम जैन-धर्म को दयाधर्म भी कहें तो अतिशयोक्ति नहीं है। वास्तव में ही जैन धर्म का दूसरा नाम दया धर्म है। क्योंकि धर्म में से अगर दया निकाल दी जाय तो वहाँ कुछ भी शेष नहीं रह जाता। दया के अभाव में धर्म थोथा, निस्सार और पाखंड मात्र ही रह जाता है।

दया का मूल अहिंसा

जिस व्यक्ति के हृदय में अनुकम्पा की भावना होगी, वही अपने मन, वचन तथा शरीर को हिंसा से बचा सकेगा। दूसरे शब्दों में अहिंसा के मार्ग पर चल सकेगा। अहिंसा मनुष्य की प्रकृति का एक अकिंमाज्य अंग है तथा आत्मा का निजी गुण है। किसी भी मनुष्य के अन्दर अगर मनुष्यता जैसी कोई वस्तु है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में मनुष्य कभी सच्चा मनुष्यत्व प्राप्त नहीं कर सकता। अहिंसा का महत्व इतना अधिक क्यों माना गया है? इस विषय में हमारे शास्त्र कहते हैं —

सख्ये जीवा वि इच्छन्ति, जीविनं न मोरेज्जिउं।

तम्हा पाणिवहं धोरं, निगंथा वज्जयंति णं॥

— दशवैकालिक सूत्र

— संसार के सभी जीव, चाहे वे गरिद्र हों, रोगी हों, दुखी या किसी भी अवस्था में हों, जीवित ही रहना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ जैन मुनि इस महा भयावह हिंसा का सर्वथा त्याग करते हैं।

बन्धुओं, यह भली-भाँति जान लेना चाहिये कि अनुकम्पा या अहिंसा का महत्व केवल जैनधर्म या जैनशास्त्रों में ही नहीं बताया गया है, वरन् सभी धर्मों में एकस्वर से अहिंसा को ग्राह्य और हिंसा को त्याज्य माना है। समयाभाव के कारण मैं सभी धर्मों के उदाहरण आपको नहीं दे पाऊँगा पर कुछ के उदाहरण आपके सामने रख रहा हूँ।

वेदों में अनेक स्थानों पर अहिंसा के प्रमाण मिलते हैं तथा —

‘न किंदेवा मिनीमसि, न किप्र यो पयामसि।’

— ऋग्वेद १०-१३४-७

अर्थात् — हे देवताओं! हम न किसी को मारें, न किसी को दुखी करें। मनु-स्मृति में एक स्थान पर कहा गया है —

‘यस्मादण्वपि भूतानां, द्विजात्रोत्पद्यते भयम्।

तस्य देहाद्विमुक्तस्य, भयं नास्ति कुलञ्चन॥”

— अध्याय ६-४०

— जिस द्विज से जीवों को तर्जिक भी भय नहीं लगता, वह जब परलोक में जाता है तो उसे किसी से भी भय नहीं लगता। अर्थात् जिस ब्राह्मण ने इस जीवन में अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किया है, वह इतरलोक में पूर्णतः निर्भय रहता है।

ईसाई धर्मशास्त्र इज्जील का मत भी है —

Thou Shalt not Kill'

— तू किसी की भी हिंसा नहीं करेगा।

इनके अलावा जिस मुस्लिम जोते को हम निर्दयी मानते हैं, उनके एक बड़े आलिम फाजिल महापुरुष शेख सानि ने अपनी फारसी भाषा में लिखी हुई 'करीमा' नामक पुस्तक में अनुकम्पा के विषय में लिखा है —

करम मायए ग़ादमानी बुवद,

करम हार्फिले जिंदगानी बुवद।

फारसी भाषा में दया को करम या रहम कहते हैं, तथा करम या रहम करने वाले ईश्वर को करीम और रहीम के नाम से सम्बोधित किया जाता है। करम करने वाला करीम और रहम करने वाला रहीम।

तो 'करीमा' पुस्तक के इस पन्ने में यही कहा गया है — जिस व्यक्ति ने करम को हासिल किया, अर्थात् संसार के जीवों पर मेहरबानी की समझो कि उसने अपनी जिन्दगी को सफल बना लिया।

आगे कहा है —

वराये करम दः जहाँ कार नेस्त,

वजी गर्मज़ार हेव बाज़ार नेस्त।

अर्थात् दया के बिना दुनियाँ में, कोई काम, काम नहीं है। कर का मतलब है कार्य। तथा कारखाने का अर्थ है कार्य करने का स्थान। तो शेखसादी साहब संसार को कारखाना मानते हैं, जिसमें किये जाने वाले सभी कार्य दयापूर्ण हों।

आगे कहते हैं — इससे बढ़कर! कोई गर्म बाज़ार दूसरे का नहीं है। बाकी सब ठण्डे बाज़ार हैं। आप जानते ही हैं कि जब तक बाज़ार गर्म होता है, अर्थात् भाव चढ़े हुए होते हैं, आप उससे कमाई करते हैं और बाज़ार भाव ठंडा होने पर या मंदा होने पर कुछ भी लाभ नहीं उठाया जा सकता।

तो कविने बहुत ही गूढ़ बात फ़हरी है कि दया का बाज़ार गर्म है और इस बाज़ार से अपने रहम रुपी माल का जो भी लाभ उठा सको उठा लो!

अब मराठी भाषा में क्या कहा गया है यह देखिये! इसमें हिंसक या दया हीन मनुष्य को बुरी तरह फटकारा है। कहा है —

धिक भूमिवरी, जन्म आचा खरी,
नाहिं केली जरी, न्यानें भूत दया।

— जिस मनुष्य के हृदय में प्राणिमत्ता के लिए अनुकम्पा नहीं है। तथा दूसरों के दुखों को देखकर जिसका हृदय दण से पिघलता नहीं है, उस मनुष्य को बार-बार धिक्कार है तथा इस पृथ्वी पर उसका रुन्म लेना निरर्थक है।

इस प्रकार जैन-धर्म के अलावा अन्य धर्मों में भी अहिंसा तथा दया को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। भगवद्गीता में दो प्रकार की सम्पत्ति मानी गई है। प्रथम दैवी सम्पत्ति और दूसरी आसुरी सम्पत्ति।

दोनों में अन्तर.....।

प्रश्न उठता है कि दैवी सम्पत्ति किसे कहते हैं तथा आसुरी सम्पत्ति किसे ?

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, संतोष तथा सहनशीलता आदि सद्गुण दैवी सम्पत्ति कहलाते हैं। तथा झूठ, कपट, हिंसा, क्रोध एवं कषाय आदि दुर्गुण आसुरी सम्पत्ति में आते हैं।

आश्चर्य की बात तो यह है कि दैवी सम्पत्ति बड़ी कठिनाई से जुटती है। उसके लिये महान परिश्रम, त्याग और संयम की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु आसुरी सम्पत्ति अनचाहे और सहज ही इकट्ठी हो जाती है। उदाहरणस्वरूप कोई व्यक्ति किसी राजा, महाराजा या अन्य किसी महान व्यक्ति को अपने घर पर आमंत्रित करे तो उसे कितनी सफाई, सजावट करनी पड़ती है। खान-पान के प्रबंध का तो पूछना ही क्या है, वह तो आमंत्रण देने वाले स्वयं की प्रतिष्ठा का माप-दंड ही बन जाता है। किन्तु इतना सब करने पर भी हो सकता है कि आमंत्रित मेहमान किसी कारण वश न भी आए। प्रायः हम देखते हैं कि बड़े-बड़े नेता या अन्य महापुरुष अपने आने की स्वीकृति दे देने पर भी नहीं आ पाते और निमन्त्रण देने वाले व्यक्ति निराश होकर चुपचाप बैठ जाते हैं।

किन्तु आपको मालूम ही होगा कि शत्रु के कंगले और मिखारी तो आपके द्वार पर थोड़ी सी भी हलचल देखते ही उझर खड़े हो जाते हैं। क्या आप उन्हें कभी निमन्त्रण देते हैं? नहीं, उन्हें व्यक्ति-निमन्त्रण की आवश्यकता ही नहीं रहती। वे तो बिना बुलाये ही आने को तैयार रहते हैं और आ जाने पर भगाये नहीं भागते। चाहे उन पर कितने भी कटुवाक्यों और गालियों की बौछार क्यों न की जाय।

बंधुओं, आपने समझ लिया होगा कि सद्गुण भी उन महान् या बड़े आदमियों के सदृश होते हैं, जिन्हें बुलाने की लाख वेशिशों की जाती हैं तब भी उनका आना संदिग्ध होता है। अर्थात् सद्गुणों का गम जिसे हम दैवी सम्पत्ति कहते हैं उसका मिलना अत्यन्त कठिन होता है।

किन्तु दुर्गुण जो कि मंगते और गैभेखारियों के समान होते हैं, मौका पाते ही आ धमकते हैं तथा प्रयत्न करने पर भी लौटने का नाम नहीं लेते। यही आसुरी सम्पत्ति का सहज ही प्राप्त होना कहलाता है।

सद्गुणों की अपेक्षा दुर्गुण शक्तिशाली अधिक होते हैं। हम प्रायः देखते भी हैं कि सहनशीलता, नम्रता या विनय आदि सद्गुणों को तो इन्सान तनिक सी भी मान हानि या कष्ट पाते ही त्याग देता है किन्तु क्रोध, कषाय या वैर-भाव पर वह सहज ही काबू नहीं पाता। कभी-कभी तो ईर्ष्या, द्वेष या वैर-भाव मनुष्य के हृदय पर उसके जीवन-पर्यन्त सिक्का जमाएँ ही रहते हैं। परिणाम यह होता है कि उसे न इस लोक में शांति मिलती है और न उसके बाद भी उसकी आत्मा शांति को प्राप्त होती है।

ऐसे आसुरी संपत्ति के अधिकारी जीव को ही बार-बार चेतावनी दी जाती है :-

“किं न पश्यसि दोषममीषाम् तापमत्र नरकं च परत्र॥”

भावार्थ है — ‘क्या तू कषायों के इन दोषों को नहीं देखता है? कषाय यहाँ पर भी दुःख देते हैं और मरने पर आत्मा वहाँ नरक में ले जाते हैं।’

कहने का अभिप्राय यही है कि आसुरी भावनाएँ अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं और वे दैवी भावनाओं पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने का प्रयत्न करती हैं। किन्तु कहा जाता है — “बहुरत्ना वसुन्जरा।” इस पृथ्वी पर कोई-कोई नर पुंगव ऐसे भी अवतीर्ण होते हैं जो आसुरी भावनाओं पर सम्पूर्णतया विजय प्राप्त कर ही लेते हैं। उन पर कितने भी कष्ट क्यों न आए, कितनी भी कठिनाईयाँ उन्हें क्यों न उठानी पड़े, यहाँ तक कि जान पर भी खेल जाने की स्थिति उनके सामने क्यों न आ जाय, वे अपनी दैविक भावनाओं को बेकाबु नहीं होने देते।

आसुरी भावनाओं के विजेता

सेठ सुदर्शन एक ऐसे ही महापुरुष थे जिन्होंने स्वयं तो आसुरी भावनाओं पर पूर्णतया विजय प्राप्त कर ही ली थी साथ ही अपने प्रभाव से महापापी अर्जुनमाली जैसे आसुरी भावनाओं के अधिकारी को भी अपने जैसा बना दिया था।

‘अन्तमड सूत्र’ में वर्णन आता है कि जब एक यक्ष ने अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश कर लिया तो वह नित्य। छःपुरुष और एक स्त्री, इस प्रकार सात प्राणियों की हत्या करने लगा।

सम्पूर्ण नगर-निवासी उससे आतंकित थे और नगर से बाहर जाने की हिम्मत नहीं करते थे। पर जब भगवान महावीर वहाँ पधारे और नगर के बाहर ही उद्यान में ठहरे तो सुदर्शन सेठ भगवान के दर्शन की आकांक्षा को नहीं रोक सके। दर्शनार्थ

जाने के लिए तैयार होकर उन्होंने अपने माता-पिता संज्ञा देने की आज्ञा माँगी।

पुत्र की बात सुनकर माता-पिता चौंक पड़े। तथा भय-विह्वल स्वर से बोले — “अर्जुनमाली के डर से राजा श्रेणिक ने जो मुनादी करवादी है कि कोई भी नगर से बाहर न जाय, चाहे कैसा भी जरूरी कार्य क्यों न हो। फिर तुम क्यों मौत के मुँह में जाना चाहते हो? तुम्हें भगवान् को वन्दन करना है तो यहीं से करलो। भगवान् तो सबके मन की बात जानते हैं।”

पर सुदर्शन सेठ माने नहीं। कहा — “भगवान् तो सबके मन की बात जानते हैं पिताजी! पर मुझे तो यहाँ से उनके दर्शन नहीं हो सकते। किसी दूर-देश में उनके होने पर तो भाव-वन्दन किया जा सकता है। पर जबकि वे इसी नगर के बाहर विराजमान हैं तो मुझे यहाँ बैठे-बैठे उनको वन्दन करने से कैसे तृप्ति हो सकती है? मैं तो उनके दर्शन प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ।”

माता-पिता ने बहुत समझाया और उन्हें रोकने की कोशिश की, किन्तु दृढ़ विचारों वाले सुदर्शन सेठ माने नहीं और भगवान् के दर्शनार्थ चल दिये।

मार्ग में उन्होंने देखा कि विकराल और खड़े किये अर्जुनमाली उन्हीं की ओर भागा चला आ रहा है। मुद्गर वाला हाथ उसने ऊँचा उठा रखा है।

कोई साधारण व्यक्ति होता तो अर्जुनमाली की भयावनी शक्ति देखकर ही दम तोड़ देता। किन्तु दैवी भावनाओं के स्वामी सुदर्शन सेठ उसे देखकर रंच-मात्र भी नहीं घबराए। मन ही मन भगवान् को नमस्कार करते हुए बोले “प्रभु! अगर इस उपसर्ग से बच गया तो आपके प्रत्यक्ष दर्शन करूँगा, अन्यथा यहीं से वन्दन कर रहा हूँ।”

ऐसी भावना भाते हुए धर्म-परायण सुदर्शन सेठ सागरी संधारा लेकर वहीं बैठ गए तथा ध्यान में लीन हो गए।

इतने में ही अर्जुनमाली दौड़ता हुआ उनके समीप आया और मुद्गर उठाए हुए ही उन पर झपटा। पर बड़े आश्चर्य की बात हुई कि उसका हाथ में उठाया हुआ मुद्गर नीचे नहीं गिरा तथा हाथ सन्नत ही वह ऊपर की ओर ज्यों का त्यों बना रहा। अर्जुनमाली ने सुदर्शन सेठ की मस्तक पर मुद्गर गिराने की बहुत कोशिश की पर नाकामयाब ही रहा।

अन्त में दैवी भावना ने आसुरी भ्रान्ता पर विजय प्राप्त की। अर्जुन माली गश खाकर गिर पड़ा और यक्ष उसी क्षण उसके शरीर से निकल गया।

ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि अगर अर्जुनमाली के पास देव का जोर था तो सुदर्शन श्रावक के पास तो देवाधिदेव का बल था। देवाधिदेव पर जोर कैसे चलता? जिस प्रकार गवर्नर पर क्लैक्टर का, क्लैक्टर पर तहसीलदार का और एस.पी. पर साधारण सिपाही का अधिकार नहीं कर सकता। उसी प्रकार देवाधिदेव पर

देव का भी अधिकार नहीं हो सकता।

सुदर्शन श्रावक के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा तथा समता दैवी शक्ति है तथा हिंसा आसुरी। पर आसुरी शक्ति कितनी भी अधिक क्यों न हो, अन्त में तो उसे दैवी शक्ति से परास्त होना ही पड़ता है।

सुदर्शन सेठ ने अर्जुनमाली को अपनी हत्या करने के लिये दौड़कर आते हुए देखा। किन्तु उनके हृदय में उसके प्रति तनिक भी क्रोध की भावना नहीं आई। उल्टे उनका हृदय अनुकम्पा से भर गया कि इसकी आत्मा पापों के बीज से कितनी भारी होती जा रही है और इसके कारण इसे कितने कष्ट जन्म-जन्मातरों तक भुगतने पड़ेंगे।

इन शुद्ध भावों के परिणामस्वरूप ही उन्हें तत्क्षण उपसर्ग से मुक्ति मिल गई और भगवान के दर्शनार्थ उन्हें अवेले नहीं जाना पड़ा। अर्जुनमाली भी साथ गया और उसने भगवान से दीक्षा ग्रहण कर अपनी आत्मा का कल्याण किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव के हृदय में अपने कष्ट दुश्मन या कि अपने हत्यारे के प्रति भी अनुकम्पा की भावना होनी चाहिए। तभी उसे मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का फल मिलेगा।

दया से होने वाले लाभ

दया का महत्व बताते हुए एक जैनग्रन्थ संस्कृत में लिखते हैं :—

क्रीडा भूःसुकृतस्य दुष्कृतरजः संहार वात्या भवो —

दन्वन्नैर्व्यसनानि मेघपटली संकेत दूती श्रियाम्।

निःश्रेणिस्त्रिदिवीकसः प्रिय सखी मुक्तेः कुण्ठ्यर्गला,

सत्त्वेषु क्रियतां कूर्णं भवतु क्लेशैरशेषैः परैः॥

आचार्य ने दया के अनेक अग्रार्थजनक लाभ बताए हैं। इसमें सर्वप्रथम तो यह बताया है कि दया सुकृत्यों को क्रीडा भूमि है। अर्थात् इसके विद्यमान रहने पर यही अन्य अनेकानेक पुण्यकार्य किये जा सकते हैं। जब तक उसमें अन्य शुभ भावनाएँ पनप नहीं पाती।

दूसरा लाभ बताया है — दया दुष्कृत्य रूपी पापों की रज को उड़ाकर ले जाने वाली हवा के समान है। जिस प्रकार तेज हवा मिट्टी को उड़ाकर ले जाती है, उसी प्रकार अनुकम्पा रूपी हवा पाप रूपी मिट्टी को हटा देती है तथा आत्मा को निर्मल बनाती है।

तीसरा लाभ - जन्म-मरण रूपी इस संसार सागर में दया ही वह नौका है जिसके सहारे से जीव इस समुद्र को पार कर सकता है। प्राणी अपने हृदय में करुणा और दया की भावनाओं को स्थान देता है उससे कभी भी कुकर्म होना

सम्भव नहीं होता और इसी कारण शनैः-शनैः वह संसार-सागर से पार हो जाता है। अर्थात् जन्म-मरण से छूट जाता है।

दया से चौथा लाभ है — जो व्यक्ति जया अथवा अनुकम्पा की भावनाओं को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करे। वे अनेकानेक व्यसनों से भी परे रह सकेंगे। क्योंकि दुर्व्यसनों के कारण अन्य अनेक प्राणियों को दुख पहुँचता है। यथा-चोरी करने से जिसका धन चुराया जाता है, जुए और शराब की लत होने से व्यर्थ धन का व्यय होने पर कुटुम्ब के व्यक्तियों का अर्थाभाव का कष्ट सहन करना पड़ता है तथा प्रायः फौके करने की नौबत भी आ जाती है। दुराचार से पत्नी को मानसिक कष्ट बना रहता है। इसी प्रकार अभी दुर्व्यसन किसी न किसी को पीड़ा तथा दुख पहुँचाते ही हैं। श्री अमीरुद्दिन जी महाराज ने अपने एक पद्य में बताया है कि इन दुर्व्यसनों के कारण किस प्रकार प्राण्डव, यादव, रावण तथा ब्रम्हदत्त आदि कुलीन और बड़े-बड़े राजाओं ने अपने सम्पूर्ण वंश का तो नाश किया ही, स्वयं भी कुगति में जा पहुँचे। पद्य में कहा है :—

जूवा खेली पांडवा गमायो राज साज म्ब,
मांस भखी बकराय नरक सिंघायो है।
मदिरा प्रसंग सब जादव को नाशभयो,
वेश्या संग धम्मिलकुमार नेह गायो है॥
आखेट तें ब्रम्हदत्त, सत्यघोष ले अदत्त,
परदारा संग दशकंध दुःख पगो है।
कहे अमीरिख घने कुगति परे हैं तारें,
व्यसन तजन उपदेश दरसायो है॥

पद्य में दिया गया उपदेश कितना यथार्थ है? वास्तव में ही जुआ, चोरी, मदिरा, शिकार तथा दुराचार ने जब ऐसे महान् राजा-महाराजाओं को भी कहीं का न रखा, तो फिर साधारण प्राणी की तो बिसात ही क्या है कि वह इन व्यसनों में पड़ा रहकर भी औरों को इनके दुःखदायी प्रभाव से रक्षा सके।

इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य अनुकम्पा को हृदय में स्थान दे तथा दुर्व्यसन जनित नाना प्रकार के अनर्थों से बचे। अनुकम्पा में महान् शक्ति है। जैसा कि श्लोक में कहा गया है — व्यसन-रूपी भयंकर अग्नि को भी दयारूप मेघपटल अपनी शीतल व शान्तिमय वर्षा से शान्त कर देते हैं।

आगे कहते हैं — श्री का वरण करण के लिये भी दया संकेत रूपी दूती का काम करती है। अभी-अभी हमने श्री अमीरुद्दिन जी महाराज के पद्य से जाना है कि दया हीन तथा दुर्व्यसनी व्यक्तियों का सुख और शान्ति के साथ-साथ ही लक्ष्मी ने भी परित्याग कर दिया था। इसमें स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मी भी उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों का वरण करती है, जो संयमी सदाचारी और दयावान होते

हैं। दया-हीन व्यक्ति कभी भी श्री-सम्पन्न नहीं हो सकता।

दया से अगला लाभ है, सुगति की प्राप्ति होना। हृदय में दया को धारण करने वाला प्राणी कभी निकृष्ट या निम्न गति में नहीं जाता, निश्चय ही वह ऊँचाई की ओर बढ़ता है। इसीलिये कहा गया है कि दया स्वर्ग के लिये एक नसैनी के समान है। जिसके सहारे से जीव उपर की ओर बढ़ता है।

इतना ही नहीं, दया को मोक्ष प्राप्ति का कारण भी माना गया है। दया मानव की आत्मा के लिये एक अन्तरंग सखी का काम करती है तथा उसे प्रतिपल सुकृत्य करने की प्रेरणा और सलाह देती है। परिणाम यह होता है कि जीव कभी पथभ्रष्ट नहीं होता तथा निरन्तर सन्मार्ग पर चलता हुआ अन्त में मोक्ष-धाम को प्राप्त करता है। इसीलिये दया को श्लोक में कुमति के महाभयानक और विशाल काय द्वारा की अर्गला माना है।

हमारे जैन-शास्त्र इसीलिये बार-बार कहते हैं —

जगत के जी तौको आतम ममान जान,
सुख अभिलाषी सब दुःख से डरत हैं।
जाणी हम प्राणी पालो दया हित आणि—
यही मोक्ष की निम्राणी जिनवाणी उचरत है।

जिनवाणी क्या कहती है? यही कि जगत के समस्त जीवों को अपनी आत्मा के समान समझो! और यही मानकर कि समस्त प्राणी दुःख से डरते हैं तथा सुख की अभिलाषा रखते हैं, तुम दया का पालन करो! दयारूपी इस नसैनी के सहारे से ही तुम मुक्ति-महल की ओर चढ़ सकोगे।

अपने श्लोक में आचार्य ने दया-पालन से प्राप्त होने वाले कई लाभ बताते हुए अन्त में केवल इतना ही कहा है — 'अगर तुमसे और-और धर्म-क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, नाना प्रकार के उपसर्ग और परीषद सहन नहीं होते तथा अन्य कड़े नियमों का पालन भी नहीं हो पाता तो उन सबको परे रहने दो, पर एक दया की भावना को दृढ़ता से धारण किये रखो तो भी निश्चय ही तुम्हारी आत्मा का कल्याण हो जायगा।

सन्त तुलसीदास जी ने भी स्पष्ट और सरल शब्दों में यही कहा है :—

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्रान॥

सन्त ने दया-पालन पर कितना जोर दिया है? कहा है — जब तक तुम्हारे शरीर में प्राण विद्यमान हैं, झुका त्याग मत करना, क्योंकि धर्म का मूल ही दया है।

वास्तव में ही दया एक ऐसा अलौकिक गुण है, जिसके प्रभाव से अन्य

सभी सद्गुण धीरे-धीरे मानव के हृदय में प्रवेश कर जाते हैं। जैसे चुम्बक लोहे की सभी वस्तुओं को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार एक दया ही अगर चित्त में बनी रहे तो वह अन्य सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। तथा मनुष्य-पर्याय को सार्थक बना देती है।

जो व्यक्ति सच्चे हृदय से दया को अपना लेता है वह मरते-मरते भी उसे नहीं छोड़ता। एक उदाहरण है —

पानी पी लो!

रणक्षेत्र में दो घायल योद्धा पड़े हुए थे। उनमें से एक इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध लेखक और वीर सर फिलिप सिडनी थे जो महारानी एलिजाबेथ के शासन काल में हुई लड़ाई के समय घायल होकर रणक्षेत्र में गिर पड़े थे, और दूसरा एक साधारण सिपाही था।

सर फिलिप सिडनी की प्यास बुझाने के लिये कुछ सिपाही दौड़कर गए और बड़ी कठिनाई से खोजकर एक प्याले में थोड़ा सा जल लाए।

सर फिलिप ने प्याला हाथ में लिया और पानी पीने का प्रयास करने लगे किन्तु वे जल पीते उससे पहले ही उनकी दृष्टि समीप ही पड़े हुए उस घायल सिपाही पर पड़ी जो अत्यन्त तृषातुर था तथा एक टक उनके हाथ में रहे हुए प्याले की ओर देख रहा था।

सिडनी को दया आई। उन्होंने विचार किया कि मरना तो हम सभी घायल व्यक्तियों को है। कुछ समय पीछे या पहला। फिर ऐसी हालत में भी मुझे अगर किसी की सेवा करने का मौका मिल रहा है तो इससे बढ़कर सौभाग्य मेरा और क्या हो सकता है?

यह विचार आते ही उन्होंने अपने पास पड़े उस सिपाही की ओर प्याला बढ़ा कर कहा — “भाई! तुम प्यासे हो, लो यह प्याला, और जल पीकर अपनी प्यास बुझाओ।”

सिपाही सिडनी की दया-भावना से गदगद हो गया। बोला — “नहीं सर! आपको भी तो प्यास लगी है। आप ही इस जल को ग्रहण कीजिये।”

तब सिडनी ने जबर्दस्ती प्याले को सिपाही के हाथों में थमा दिया। यह कहते हुए — “इस समय पानी की आवश्यकता मुझसे अधिक तुमको है। लो पी लो!”

इस प्रकार दयालु सर फिलिप सिडनी मृत्यु शैया पर पड़े हुए भी परोपकार से नहीं चूके। स्वयं प्यासे रहते हुए भी उन्होंने दूसरे घायल सिपाही को जलप्रदान कर दिया। अपने मुँह में उसमें से एक बूँद भी नहीं डाली। दयालुता का इससे बढ़कर उदाहरण और क्या हो सकता है?

ऐसी दया को जब व्यक्ति अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है, तभी वह जगत के समस्त प्राणियों में मैत्री तथा बन्धुभाव को देखता है। उसके अन्तःस्तर में 'बसुधैव-कुटुम्बकम्' का उदार स्वर सदैव ध्वनित होता है। परिणामस्वरूप वह कभी भी, किसी भी प्राणी को कष्ट-मय अवस्था में नहीं देख सकता। अपने तन, मन, और धन की सम्पूर्ण शक्ति से उसका दुःख व संकट को दूर करने के लिये दौड़ पड़ता है।

राजा मेघरथ का कबूतर के साथ कौनसा रिश्ता था? कोई नहीं। फिर भी उन्होंने उस कपोत की प्राण-रक्षा के लिये एक-एक करके अपने अंगों को काट डाला और तब भी वजन कम होने पर स्वयं ही तराजू के पलड़े पर बैठ गए। अनुकम्पा की पवित्र भावना को लेकर अपने प्राणों का भी बलिदान दे देने वाले महापुरुषों को कोटिशः प्रणाम है।

पर-दुख कातर ऐसे महापुरुष ही अस्तव में मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के फलों को सच्चे रूप में प्राप्त करते हैं। तथा 'अमृतमवत् सर्वभूतेषु' की भावना को सार्थक करने में सफलता हासिल करते हैं।

बन्धुओ, आज सत्त्वानुकम्पा को आपने समझा है। हमारा अगला विषय होगा 'शुभ पात्र दानम्'।

● ● ●

[२२]

दुर्गति-नाशक दान

धर्मप्रीमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनों!

आज हमें मनुष्य -जन्म रूपी वृक्ष के छः फलों में से चौथे फल पर विचार करना है। वह चौथा फल है — 'शुभपात्र दान'। इसका भावार्थ यही है कि दान शुभ कार्य के लिये दिया जाय तथा योग्य पक्ष को दिया जाय।

शुभ-पात्र शब्दों का रहस्य

यद्यपि केवल 'दान' शब्द भी अपने आप में सम्पूर्ण है और प्रत्येक वह, जो कुछ दिया जाता है दान कहलाता है। किन्तु आचार्य सोमप्रभसूरी ने दान से पहले शुभ पात्र शब्द क्यों जोड़े हैं, हमें इसके रहस्य को भी जान लेना चाहिये।

जिस प्रकार अंधेरे में डेला फेंकने से निशाना चूकने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार बिना पात्र की पहचान किये दान देने से भी परिणाम उलटा निकलने की सम्भावना होती है। उदाहरण स्वरूप एक इन्द्रि किन्तु सदाचारी विद्वान को दान दिया जाए तो वह उस दान का उपयोग अपनी ज्ञान वृद्धि में और उसके पश्चात् औरों की ज्ञान-वृद्धि में करेगा।

किन्तु वही दान अगर एक कसाई को प्राप्त हो गया तो कसाईयों की पूरी एक टुकड़ी को प्रोत्साहन मिल जाएगा। आपको यह सुनकर आश्चर्य हुआ होगा। किन्तु मैं एक पद्य से इसे स्पष्ट कर देता हूँ कि कसाईयों की वह टुकड़ी कौनसी है?

पद्य में बताया गया है :—

प्रथम कसाई पशु मारवे की सल देत,
दूसरो कसाई जो पशु लो मारि डारे है।
तीजो अंग न्यारो करे, चौथो मोल लेनेवालो,
पाचवो कसाई मांस बेज सो उच्चारे है।
छटो जो पकावे मांस, सातमो पकसे थाल,
आठमो कसाई खावे नरतन हारे है।
मनुस्मृति में यो अमीरिख मनुजी कहत,
हिंसक कसाई दुष्ट आर्ता ही हत्यारे हैं।

बन्धुओं, यह पद्य मनुस्मृति के आधार पर पं. श्री अमीच्छा जी महाराज ने लिखा है। अर्थात् मनुस्मृति में आठ प्रकार के कसाई या हत्यारे माने गये हैं।

इसमें पशुओं को मारने की सलाह देने वाले, पशु को मारने वाले, अंग-भंग करने वाले, खरीदनेवाले, तथा मौस बेचने वाले तो कसाई हैं ही अपितु बड़े-बड़े राजपूत राजा-महाराजा तथा अन्य बड़े-बड़े घराने और उँची जाति के व्यक्ति भी कसाईयों की श्रेणी में आते हैं जिनके घर मांस पकता है और खाया जाता है।

अब बताइये कितने व्यक्ति आगे इनमें? एक टुकड़ी नहीं हुई क्या? अरे एक टुकड़ी तो क्या, पूरी एक सेना भी कसाईयों की कही जाय तो अतिशयोक्ति नहीं है। आज के युग में मौस और मदिरा से गरहेज रखने वाले ही कितने?

तो मैं कह रहा था कि आपका दिया हुआ दान अगर घोखे से किसी कसाई के पास पहुँच जाय तो ये आज्ञा प्रकार के कसाई तो महापाप के भोगी बनेंगे ही, साथ ही आप भी इनके पाप-कार्य में मूल कारण बनकर अछूते नहीं रहेंगे। नॉवे कसाई की श्रेणी में आ जाएँगे।

यही हाल शराबी, जुआरी, दुसवारी अथवा किसी भी अन्य दुर्जन व्यक्ति को दान देने से होता है। ऐसे व्यक्ति को दान देने से धन का अपव्यय तो होता ही है साथ ही किसी न किसी प्रकार से उलटे कर्म-बन्धन की संभावना बनी रहती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी दान के तीन रूप बताए हैं — सात्त्विकदान, राजसदान तथा तामसिक दान। इनमें से प्रथम कर्तव्य का यानी सात्त्विक दान ही उत्तम है। शेष दोनों ही प्रकार के दान हीन कर्मों के माने जाते हैं। और जैसा कि मैंने अभी बताया है उनसे लाभ के बजाय हानि को आशंका ही बनी रहती है।

आशा है आप लोग अब शुभ-पात्र शब्दों का रहस्य समझ गए होंगे तथा अनुभव कर रहे होंगे कि सुपात्र को देना, अथवा सत्कार्य में लगाना ही अपने धन का सदुपयोग करना है। तथा सात्त्विक दान ही वास्तव में सच्चा दान कहलाता है।

दान का महत्त्व

दान का सीधा और सहज अर्थ लिया जाय तो यही होता है कि किसी को कुछ देना। किन्तु हमारे धर्मशास्त्रों में इसका कुछ विशेष अर्थ लिया जाता है। धर्म-ग्रन्थों के अनुसार धर्म के चार अंग माने गए हैं — दान, शील, तप और भावना। इन चारों में दान को सर्वश्रेष्ठ तथा प्रथम माना गया है।

धर्ममय जीवन का प्रारम्भ दान से ही माना जाता है। तीर्थंकर भी संयम ग्रहण करने से पूर्व एक वर्ष तक निरन्तर दान देते हैं, जिसे वर्षादान कहा जाता

है। दान-क्रिया का प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ हुआ है। दान की महिमा अपरम्पार है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। संसार के सभी धर्मों ने दान की महिमा को एक स्वर में स्वीकार किया है। क्योंकि इसके द्वारा आत्मिकगुणों का पूर्ण विकास होता है।

मानव-जीवन की श्रेष्ठता दान-रूप धर्म का आवरण करने में ही है। ऐसा न होने पर उसमें तथा एक पशु में कोई भ्रान्तर दिखाई नहीं देगा। उदर-पूर्ति तो पशु भी कर लेते हैं और मानव भी करे तो उसमें उसकी क्या महत्ता है? इसलिये प्रत्येक ज्ञानवान और विवेकी मानव को इस पशु-वृत्ति से अपने आपको ऊँचा उठाकर दान-धर्म को अंगीकार करना चाहिए तथा अपने जीवन को सार्थक करना चाहिये।

सद्गुरुस्थ का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य दान देना ही है। जिस मानव के हृदय में दान देने की भावना नहीं होती उसका हृदय बंजर भूमि के समान गुणहीन होता है। दान के गुण कहीं तक गिनाएँ जायें, एक श्लोक में कहा गया है:-

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराग्यपि यातिः राशम्।

परोपि बन्धुत्वमुपैति दानै -
दानं हि सर्वं व्यसनानि हन्ति॥

दान से समस्त प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से विर शत्रुता का नाश हो जाता है। दान से पराया व्यक्ति भी अपना हो जाता है तथा अधिक क्या कहा जाय? दान से समस्त विपत्तियों का नाश होता है।

दिया हुआ दान कभी निष्फल नहीं जाता, वह शुभ कर्मों के रूप में ब्याज सहित पुनः मिल जाता है। ज्ञानियों का कथन है:-

“ब्याजे स्यात् द्विगुणं वित्तं, व्याजारे च चतुर्गुणम्।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, दानेऽनन्तगुणं भवेत्॥”

ब्याज से दुगुना, व्यापार से चौगुना, खेत से शतगुना, किन्तु दान देने से अनन्त गुना लाभ होता है। अन्य व्यवसायों में तो फिर भी हानि की संभावना रहती है किन्तु दान देने से जो पुण्योपार्जन किया जाता है उसमें कभी टोटा आने की सम्भावना नहीं होती। इससे साबित होता है कि दान का महत्त्व कितना अधिक है।

दाता की भावना कैसी हो?

अभी हमने दान के महत्त्व को समझा कि दान से अनन्तगुना लाभ होता है। तथा उसमें घाटे की आशंका नहीं रहती। किन्तु एक शर्त उसके साथ अवश्य है कि दान देते समय देने वाले की भावना पूर्ण-रूप से विशुद्ध हो। दान-दाता के हृदय में दान देते समय किसी भी प्रकार के स्वार्थ-साधन की भावना नहीं

होनी चाहिये।

दानदाताओं की सूची में अपना नाम सबसे ऊपर लिखवाने की इच्छा से कि लोग उन्हें दानी मानें, दान देने से छावृद्धि हो, याकि सब प्रशंसा करें, इन भावनाओं को लेकर दान देने से उसका कोई महत्त्व नहीं होता।

ईसाईयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल में दान की सही परिमाणा बताई है। कहा है:-

“तुम्हारा दायें हाथ जो देता हो उसे बायें हाथ न जानने पाए।”

कितनी सुन्दर और सही परिमाणा है? वास्तव में दान वही कहलाता है जो किसी को दिखाने के लिए न दिया जाय। अपितु किसी अभावग्रस्त या दुःखी प्राणी को देखकर उसका हित करने और उसे सुखी बनाने की इच्छा से दिया जाय। दाता के हृदय में स्नेह, करुणा, अनुकम्पा और असमर्थ व्यक्ति का दुख दूर करने की भावना होनी चाहिये।

दान की श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता देने वाले की भावनाओं पर अवलम्बित होती है। प्रेम तथा भक्तिपूर्वक दी गई वस्तु चाहे वह मूल्यवान हो या सामान्य श्रेष्ठ दान कहलाएगी। कहा भी है:-

“दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवीवि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुगङ्गा।”

इस संसार में निःस्वार्थ भाव से देने वाले और निःस्वार्थ भाव से ही लेने वाले दुर्लभ हैं। किन्तु अगर देने वाला वास्तव में ही किसी भी प्रकार के बदले की आशा रखे बिना देता है। और लेने वाला भी केवल संयम निर्वाह के लिए ही निस्वार्थ भाव से लेता है, तो दोनों ही उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

दान का कितना सुन्दर माहात्म्य है? तथा कितना प्रभाव है? जो कि देने वाले और लेने वाले, दोनों पर ही समान रूप से पड़ता है। बशर्ते कि देने वाले का हृदय निस्वार्थी और निष्कपट हो तथा लेने वाला भी ऐसी ही भावनाओं का अधिकारी और सुपात्र हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि दान जीवन को अलंकृत करने वाला सबसे बड़ा आभूषण है जिसके अभाव में मानव-जीवन असुन्दर और निरर्थक जान पड़ता है। पर राजा हरिश्चन्द्र और कर्ण जैसे महादानी इस संसार में बिरले ही होते हैं। एक अनुभवी विद्वान का कथन है :-

“शतेषु जायते शूरः, सहस्रेषु च पांडितः।
वक्ता दश सहस्रेषु, दाता भवति षा न वा॥”

अर्थात् - सैकड़ों पुरुषों में से कोई एक व्यक्ति ही शूरवीर निकलता है

तथा हजारों में से एकाध सच्चा पंडित। वक्ता तो दस हजार व्यक्तियों में से भी मुश्किल से एक निकल पाता है। और दाता का मिलना तो महा मुश्किल है। शायद लाखों या करोड़ों व्यक्तियों में ढूँढ़ने जायें तो भी मिले या न मिले। कहा नहीं जा सकता।

इसीलिये संसार के सभी धर्म पुकार-फुहार कर कहते हैं कि दान दो सच्चे दानी बनो!

शेखसादी अपनी पुस्तक करीमा में कहते हैं :-

सखावत कुनद नेक बख्ता इखतियार,
के मर्द अज सखावत बुकद बखतियार।

फारसी भाषा में सखावत दान को कहते हैं। शेखसादी ने कहा है - 'ऐ नेक बख्त! अच्छे नसीब वाले इन्सान! अर्ख्तियार कर। अर्थात् दान देना सीख। दीन-दुखियों की तरफ देखकर, असहाय बहनों को देखकर तथा निराश्रित बच्चों को देखकर दिल में रहम पैदा कर तथा देने के लिए हाथ बढ़ा।'

सखावत अथवा दान करने का आग्रह क्यों किया गया है? इसलिए कि दान देने से ही मनुष्य का नसीब खुलता है दूसरे शब्दों में पुण्य कर्मों का संचय होता है। आप लोग व्यवसाय में कम्पनियों या फैक्टरियों के हिस्से (शेयरों) खरीदते हैं, कि भविष्य में इनसे लाभ होगा। दया तथा दान आदि भी ऐसे ही हिस्से हैं जिनमें केवल इसी जन्म में नहीं, वरन् अनेक जन्मों तक भी लाभ की सम्भावना होती है। पर वह लाभ हो कैसे, जबकि आप प्रयत्न ही न करें। बिना बीज बोये भी कभी फसल लहलहाती है? नहीं। फसल पाने के लिए बीज बोना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अगर पुण्य-कर्म रूपी फसल करना है तो दान रूपी बीज भी जीवन में बोने पड़ेंगे।

आगे कहा गया है :-

सखावत बसे ऐवरा मीमियास्त।
सखावत हमा दर्द हाग दवास्त॥

शेख सादी साहब ने बड़ी मार्मिक भाव कही है। वे कहते हैं - सखावत यानी दान ऐसी चीज है जो इन्सान के समस्त ऐबों पर पर्दा डाल देता है।

हम प्रायः देखते हैं कि अनेक सेल्-साहूकार गरीबों का खून चूस-चूसकर धन इकट्ठा करते हैं तथा उस धन को अपने भोग-विलास, मदिरा-पान या सैर-सपाटे में उड़ाते हैं किन्तु समय-समय पर कोई उग्रेटी-सी स्कम भी दान के नाम पर दे देते हैं तो लोग उन्हें दानी मानकर बड़ी प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। इसी को कहते हैं दान के द्वारा अपने अनेकानेक अवगुणों को ढक देना। शेर में दूसरी बात यह बताई गई है कि तमाम दर्दों की दवा भी सखावत ही है। दान के अन्दर शारीरिक

और मानसिक, सभी प्रकार के दुःखों को नष्ट करने की ताकत है। आपके दिल में प्रश्न खड़ा हुआ होगा कि यह किस तरह? क्या दान से बीमारियाँ भी दूर होती हैं? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अवश्य होती हैं।

आपने सुना होगा और पढ़ा भी होगा कि दान देते समय अगर उत्कृष्ट रसायन आ गई, अर्थात् भावना उत्कृष्ट हो गई तो तीर्थंकर नाम-कर्म-गोत्र का बन्ध हो जाता है। यह चमत्कार नहीं तो क्या है? वस्तु साधारण थी। किन्तु भावना के असाधारण होते ही दान देते-देते तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन कर लिया तो उसे भविष्य में कोई भी रोग, कैसी भी पीड़ा और किसी भी प्रकार के कष्ट की सम्भावना न रही। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की वेदनाओं से सदा-सदा के लिए मुक्ति मिल गई।

तो शखावत सभी दर्दों की दवा हो गई या नहीं? इसीलिये शेखसादी ने कहा है कि शखावत तमाम दर्दों की दवा है। जो इन्सान इसे समझ लेता है वह संसार के समस्त दुःखों से छूट जाता है।

दान की भावना चारों भावनाओं में श्रेष्ठ है यह मैंने अभी बताया था। दान देने वाले व्यक्ति का हृदय दुखी जीवों की कुछ सहायता कर पाने का मौका मिलने से आत्मसन्तुष्टि का अनुभव करता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है :-

“As the purse is emptied the heart is filled.”

— विक्टर ह्यूगो

ज्यों-ज्यों धन की थैली दान में खाते होती है, दिल भरता जाता है।

अर्थात् तिजोरी में से दिया गया रुपया-पैसा उसी क्षण सन्तोष धन के रूप में अनेक गुना होकर हृदय रूपी खजाने में आ जाता है।

इसीलिये वेदों में भी कहा गया है :-

“शतहस्तैः समाहर ऋग्वहस्तैः संकिर।”

— अथर्ववेद

सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बाँटो।

अगर व्यक्ति ऐसा नहीं करता है, यानी धन इकट्ठा तो करता जाता है किन्तु सत्कार्य में उसे नहीं लगाता, दान नहीं देता तथा अभावग्रस्त प्राणी के अभाव को दूर नहीं करता तो वह धन उसके लिए नाना प्रकार के दुःखों का कारण बन जाता है।

दान न देने का परिणाम

एक कवि ने अपने श्लोक में बताया है कि दान न देने से मनुष्य को क्या-क्या हानियाँ उठानी पड़ती हैं। श्लोक इस प्रकार है:-

लक्ष्मी दयादाश्चत्वारः, धर्म-राजाग्नि-तस्कराः।

ज्येष्ठ-पुत्रापमाने न, त्रयः कुप्यन्ति क्रोधवाः॥

लक्ष्मी के चार पुत्र होते हैं। धर्म, राजा, अग्नि और तस्कर। इनमें से ज्येष्ठ पुत्र का अगर अपमान किया जाय तो अन्य तीनों बन्धु क्रोधित हो जाते हैं।

आप लोगों की समझ में बात आई नहीं होगी। आए भी कैसे? ये कवि लोग बातें ही इस प्रकार करते हैं। सीधी बात करना तो जानते ही नहीं ठीक है न?

तो कवि के कहने का अर्थ यह है कि धन के अथवा लक्ष्मी के चार पुत्र हैं - धर्म, राजा, अग्नि और चोर। इनमें से अगर पहले का अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र धर्म का अपमान किया जाय तो बाकी सब क्रोधित हो जाते हैं। अब प्रश्न हमारे सामने यह है कि धर्म का अपमान कैसे होता है?

धर्म का अपमान तब होता है जब मनुष्य -

नीति तजी अनरीति करे जु - हिराहित बैन नहीं चित धरे।

सत्य असत्य विज्ञान नहीं - उर धर्म अधर्म समान विचारे॥

अर्थात् जो मनुष्य नीति का त्याग करके अनीतिपूर्ण कार्य करता है। जिनागम तथा महापुरुषों के द्वारा कहे गए हितकारी वचनों का अनादर करता है। सत्य और असत्य के अन्तर को नहीं समझता तथा अधर्म को ही धर्म मानकर क्रोध, कपट, हिंसा तथा असत्य आदि दुर्गुणों को अपनाकर दान, शील, तप और उत्तम भावनाओं से परे रहता है तो समझना चाहिये कि वह धर्म का अपमान करता है।

दूसरे शब्दों में परोपकार तथा दान-पुण्य करना ही लक्ष्मी के ज्येष्ठ पुत्र धर्म का दूसरा नाम है। जो व्यक्ति लोग और लालच के वशीभूत होकर केवल धन-संचय करते रहते हैं। उसे दीन-दुखी और पीड़ाग्रस्त प्राणियों के लिये खर्च नहीं करते, यानी दान में नहीं देते तो धर्म का अपमान होता है और इसके कारण धर्म के अन्य तीन बन्धु कुपित हो जाते हैं।

परिणाम यह होता है कि धर्म-कार्य में व्यय न किये जाने वाले तथा अनीतिपूर्वक अत्यधिक इकट्ठा कर लिये जाने वाले धन को राजा छीनना प्रारम्भ कर देता है।

आज हम देखते हैं कि सरकार इनकम टैक्स, सैलटैक्स, सुपर टैक्स, वैल्यु टैक्स आदि नाना प्रकार के टैक्स लगाकर अधिक धन इकट्ठा करने वाले लोगों से पैसा छीनती है। अधिक क्या कहा जाय व्यक्ति के मर जाने पर भी मृत्यु-टैक्स

लगा कर बचा-खुचा धन लेना नहीं छोड़ती। अगर एक करोड़पति मर गया तो अपना टैक्स लिये बिना वह लाश को भी उठाने नहीं देती।

इस प्रकार धर्म-कार्य में खर्च न करने पर प्रथम तो राजा या सरकार ही धन छीनने का प्रयत्न करती है पर अगर उससे बच जाय तो मौक पाकर लक्ष्मी का दूसरा पुत्र अग्नि उसे स्वाहा कर देता है। आए दिन सुनने को, अखबारों में पढ़ने को मिलता है कि अमुक दुकान में, अमुक फैक्टरी में या अमुक कारखाने में आग लग गई और इतना नुकसान हुआ।

अब तस्कर की बारी आती है। चारों की आँख लोगों के धन पर ही टिकी रहती है। अगर धर्म, राजा और अग्नि से वह बचा रहा तो दौंव लगते ही चोर उसका सफाया कर देते हैं तथा लक्ष्मी का एक पुत्र होने के नाते वे भी अपना हिस्सा वसूल करते हैं।

सारांश कहने का यही है कि अगर व्यक्ति ने अपने धन को शुभ-कार्यों में लगाकर धर्म को संतुष्ट नहीं किया तो राजा, अग्नि और चोर ये तीनों भाई नाराज होकर किसी न किसी प्रकार उसे लूटने का प्रयत्न करेंगे।

इसलिये सर्वश्रेष्ठ उपाय तो यही है कि उसे दानादि धर्म-कृत्यों में लगाकर पुण्य-फल के रूप में संचित किया जाय। संत कबीर भी यही बात बहुत पहले कह गए हैं :-

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दास।

दोऊ हाथ उलीचिये, छी सयानो काम॥

महापुरुषों की बात चाहे वह कितनी भी सरल और सीधी भाषा में कही गई हो, मानव के लिये अत्यन्त शिक्षाप्रद और हितकारी होती है। कबीर का कथन है - अगर नाव में जल किसी सुरख से अन्दर आकर अधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाय तो बिना विलम्ब किये उसे दोनों छत्रों से उलीच देना चाहिए ताकि नाव में बैठने वालों की रक्षा हो सके।

और इसी प्रकार अगर घर में प्रचुर धन इकट्ठा हो जाय तो फौरन उसे सत्कार्यों में खर्च करना प्रारम्भ कर देना चाहिये ताकि धन के कारण जन्म लेने वाले दुर्गुण पनप न पाएँ और आत्मिक गुणों की रक्षा हो सके।

अगर ऐसा नहीं किया जाएगा अर्थात् द्रव्य को शुभ-कार्य में न लगाकर मनुष्य उसके संचय में ही लगा रहेगा तो वह धन उसे कहीं का न रखेगा।

जीवन की सबसे बड़ी भूल

अधिकांश व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि जब तक हाथ-पैर चलते हैं, तब तक धन इकट्ठा कर लें, उसके पश्चात् जब वृद्धावस्था आएगी, इसका मोह छोड़कर

परलोक की कमाई कर लेंगे।

ऐसा विचार करने वाले बड़े भ्रम में रहते हैं क्योंकि तृष्णा तो आकाश के समान अनन्त है जो कि कभी भी शांत नहीं होती। एक-एक दिन करते वृद्धावस्था आ जाती है और उसके पश्चात् जीवन की अन्तिम अवस्था भी। किन्तु लोभ की आग कभी बुझ नहीं पाती वह तो अधिकाधिक प्रज्ज्वलित होती जाती है।

एक उर्दू कवि ने इसीलिये कहा :-

मुँह से बस न करते हरगिज 'खुदा' के बंदे।
इन हरीसों को खुदा गर सारी खुदाई देता॥

लोभियों को अगर ईश्वर सारे जगत की मिलिक्यत सौंप दे तब भी ये खुदा के बन्दे मुँह से बस नहीं कहते।

यानी उसमें भी अधिक पाने की लालसा करते हैं। ऐसे पुरुष उस धन के स्वामी नहीं कहला सकते वस् धन ही उनका स्वामी कहलाता है। वे अर्थ का उपयोग नहीं करते किन्तु अर्थ ही उनका ग्रपभोग करता है। वे धन का जितना संचय करते हैं, उससे कई गुना अधिक उपाजों करने की आकांक्षा रखते हैं। इस वजह से धन से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता उनके अधिक धन पाने की लालसा से ढक जाती है।

वास्तव में देखा जाय तो लोभी व्यक्ति अत्यन्त करुणा का पात्र होता है। वह सुख की सामग्री प्राप्त करके भी सुख से प्रादा वंचित ही रहता है। लोभ उसके सभी सुखों का नाश करके केवल दुख, लालसा, तृष्णा जनित संताप और चिन्ता ही उसे देता है। उसका सारा जीवन ही हाय-हाय करते बीतता है। इसीलिये एक कवि उसे चेतावनी देता है :-

गर हिरसो-हवा के फंदे में, तू अपनी उमर गंवाएगा,
न खाने का फल देखेगा, न पीने का सुख पायेगा।
इक दो गज कपड़ा तार सिवा कुछ भंग न तेरे जाएगा,
ऐ लोभी बंदे! लोभ भरे, तू मरकर भी पछताएगा।

वस्तुतः लोभी व्यक्ति जिस प्रकार इस लोक में सुख से वंचित रहता है, उसी प्रकार अगले भव में सुख को प्राप्त नहीं कर पाता। मृत्युकाल आ जाने पर जब उसे यह लगता है कि यह सारी सम्पत्ति मुझसे छूट रही है, तो उसकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है और धन पर रही हुई गहरी ममता के कारण मरकर नरकगामी होता है।

भगवद्गीता में बताया भी है :-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

क्रोधः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्नयं त्यजेत्॥

नरक के तीन द्वार हैं, जो आत्मा का विनाश करने वाले हैं। वे हैं - काम, क्रोध और लोभ। अतएव इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।

बंधुओ, मेरे कहने का आशय यही है कि मानव को लोभ और लालच का त्याग करके अपने धन को सुकार्यों में लगाना चाहिये तथा सुपात्र को दान देना चाहिये। क्योंकि कुपात्र को दिया हुआ दान भी निरर्थक चला जाता है।

दान तो जल के समान है, जिसे जिधर बहाओ उधर बहने लगता है।

संत तुकाराम जी कहते हैं -

उदक नेले तिकड़े जावे, सहज केले तैसे ब्रावे।

मोहरी कांदा ऊस, एक वाफा भिन्न रस।

उदक पानी को कहते हैं। पानी को आप जिधर ले जाएँगे, उधर ही चला जाएगा। जिस वृक्ष की जड़ में डालेंगे, कैसा ही फल प्रदान करेगा। नींबू को पानी दिया जाय तो नींबू, अनार को पानी दिया जाय तो अनार और नीम को पानी दिया जाय तो निंबोली प्राप्त होगी।

एक किसान अपने खेत में एक डोरी क्यारी के अन्दर तीन प्रकार की चीजें बोता है। उनके लिये जमीन एक है, वृक्षों का पानी एक है, सींचने वाला एक है, आकाश एक है, हवा एक है। अर्थात् सभी कुछ एकसा है किन्तु बीज अलग-अलग है तो फल भी अलग-अलग तरह के मिलेंगे।

तुकाराम जी ने यही कहा है -- एक मोहरी यानी राई का बीज डाला, एक काँदे का और एक गन्ना बोया। इस प्रकार राई में तीखापन है, प्याज दुर्गंध वाला तथा गन्ना मिठास मय। पानी एक ही पिलाया। किन्तु गन्ना उत्तम, राई मध्यम और कांदा निकृष्ट निकला। अब चाहने गर भी तीनों को एक जैसा उत्तम नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि जैसे बीज बोरस वैसा ही फल मिलेगा। दुर्गंध वाले कांदे को लाख प्रयत्न करने पर भी सुगंधमय नहीं बनाया जा सकेगा। कहा भी है :-

बड़ा होय सो बड़ी विचारे, ओछी विचारे बांदो।

केसर कस्तूरी में डाटो, पण बाण न छोड़े कांदो॥

मले ही काँदे को गन्ने के साथ एक ही क्यारी में उगाया है, किन्तु गन्ने की मिठास वह प्राप्त नहीं कर सकता।

इन उदाहरणों के द्वारा कवि मनुष्य को यही शिक्षा देता है कि अपना पैसा सत्कार्य में लगाओ, सुपात्र को दान करो। अगर कुपात्र को वह दे दिया गया तो फिर लाख प्रयत्न करने पर भी शुभ परिणाम नहीं ला सकेगा।

एक भजन में भी दान का बड़ा महत्व बताते हुए लोगों को दानी बनने की प्रेरणा दी है। कहा है :-

पुण्य कमाना हो तो प्यारे दानी बाने!
नाम कमाना हो तो प्यारे दानी बाने!
धन दौलत यहां पर रह जासी,
दिया लिखा ही संग में जासी,
यश कमाना हो तो प्यारे दानी बाने!
अनाथ रक्षा विद्यालय में,
गऊ रक्षा और कन्यालय में,
धर्म कमाना हो तो प्यारे दानी बाने!

कवि कहता है - प्रिय बंधुओ, अगर तुम्हें पुण्य कमाना है और अपना नाम अमर करना है तो तुम दान करना सीखो।

हमने पंजाब में देखा। एक ही भाई एक कॉलेज चला रहे थे तथा सैकड़ों विद्यार्थी उस कॉलेज से ज्ञान-लाभ ले रहे थे। छोटी सादड़ी मेवाड़ में भी गौदावत छगनलाल जी सेठ ने सवा लाख रुपया एक मुस्त गुरुकुल में लगाया तो आज भी चल रहा है तथा उसके द्वारा अनेक बालक अपने जीवन-निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं। बीकानेर में भी देखते हैं कि अगरचन्दजी मेरौदान जी सेठिया ने एक साथ तीन लाख, सत्तर हजार रुपया संवत् १९७७ में निकाला था एक बृहत् पुस्तकालय का निर्माण किया। उस पुस्तकालय में हजारों पुस्तकें हैं जो ज्ञान-पिपासु व्यक्तियों की तृप्ति शान्त करती हैं। हैदराबाद के श्रीमंत राजा बहादुर सुखदेवसहाय जी, ज्वालाप्रसाद जी ने भी लाखों रुपयों का दान देकर शास्त्रोद्धार का महान् कार्य करवाया है। करीब-करीब प्रत्येक स्थानक में उनके द्वारा पहुँचाए हुए अमूल्य शास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

बंधुओ, ऐसा दान ही दान कहलाता है तथा पुण्य कर्मों के बन्धन का कारण बनता है। इसलिये अगर दान करना है तो बड़ी सावधानी से और शुभ-पात्र में ही करना चाहिये।

कवि ने आगे कहा है - यह धन-दौलत तो सब यहीं रह जाने वाली है। एक कौड़ी भी साथ नहीं जायेगी। साथ जाएगा केवल तुम्हारे हाथ से दिए हुए दान का फल। इसलिये अनाथ तथा असहाय प्राणियों की तथा गाय जैसे मूक पशुओं की रक्षा में अपना धन लगाओ। आज के बालक जो कि भविष्य में समाज के कर्णधार बनेंगे, उन बालक बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा में अपना पैसा खर्च करो तभी उससे सचा लाभ हासिल हो सकेगा। तभी तुम्हें सही अर्थों में धर्म-लाभ होगा।

किन्तु कवि के शब्दों में एक भाव और भी छिपी हुई है। वह यह कि तुम सब कुछ करो पर उसे अपना कर्तव्य समझ कर करो। यह मत समझो कि

अगर तुम दीन-दुखियों की सहायता कर रहे हो या अपना पैसा स्कूल, कॉलेज या विद्यालय में लगा रहे हो तो औरों पर उपकार कर रहे हो। नहीं, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह तन, मन और धन जैसे भी सक्षम हो, औरों की सहायता करें। क्योंकि धन केवल उसी का नहीं होता जो उसे इकट्ठा कर लेता है, बल्कि उस प्रत्येक व्यक्ति का होता है जिसको धन की जरूरत है। एक पाश्चात्य विद्वान फ्रैंकलिन ने भी कहा है -

“Wealth is not his that has it, but his that enjoys it.”

धन उसका नहीं है, जिसके पास है, बल्कि उसका है जो उसका उपयोग करता है।

एक दाना भी मेरा नहीं है

बहुत समय पहले गुजरात में एक बार भयंकर अकाल पड़ा। अनावृष्टि के कारण खेतों में एक दाना भी पैदा न हुआ। लोग भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे।

देश की यह विषम स्थिति देखकर एक जैन श्रावक जगडूशाह ने गाँव-गाँव में सदाव्रत खोल दिये और भूखों को अन्न बाँटा जाने लगा।

गुजरात के महाराज ने जगडूशाह के विषय में यह सब सुना और एक दिन उन्हें सम्मान से अपने राजमहल में बुलावाया। स्वागत सत्कार के बाद महाराज ने उनसे कहा —

“सेठजी! आपकी दानवीरता की मैं बड़ी भारी प्रशंसा सुनी है। साथ ही यह भी सुना है कि आपके यहाँ सैकड़ों कोठार धान्य से भरे हुए हैं। मैं अपनी प्रजा को जीवित रखने के लिये उस अनाज को खरीदना चाहता हूँ। क्योंकि राज्य का अन्न-भंडार समाप्त हो गया है। क्या आप उस अनाज को मुझे बेचेंगे? मैं आपसे वह जबर्दस्ती लेना नहीं चाहता, केवल प्रजा की रक्षा के लिए खरीदना चाहता हूँ?”

जगडूशाह ने राजा की बात बड़े ध्यान से सुनी और फिर उत्तर दिया — “महाराज! आपका प्रजा-प्रेम सराहनीय है। पर मेरे पास जो धान्य के कोठार हैं, उनमें से तो एक दाना भी मेरा नहीं है, फिर मैं आपको क्या बेचूँ?”

“तब फिर वह सब किसका है सेठजी?” राजा ने बहुत चकित होकर पूछा।

“आप स्वयं ही देख लीजिये।” जगडूशाह ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया।

यह सुनकर राजा ने सेठजी के धान्य-कोठारों में से एक खुलवाकर देखा तो मालूम हुआ कि उसमें एक ताम्रपत्र रखा है और उस पर खुदा हुआ है —

“यह अन्न गरीबों का है ”

बारी-बारी से सभी कोठार खुलवाए गये और सभी में ऐसे ही ताम्रपत्र निकले।

यह देखकर जगद्विशाह की उदारता और दानवीरता के समक्ष महाराज का मस्तक झुक गया। वे कह उठे — “सेठजी, इस देश के वास्तविक राजा आप हैं, मैं नहीं।”

“यह आप क्या कहते हैं महाराज! सच्ची बात तो यह है कि हम सभी एक दूसरे के हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, उस सब पर देश के प्रत्येक प्राणी का अधिकार है।”

कितने सुन्दर विचार थे जगद्विशाह के? वास्तव में ही जब प्रत्येक देने वाले की भावना ऐसी हो, तभी उसका दिया हुआ दान सार्थक होता है तथा यश और कीर्ति उसे बिना चाहे प्राप्त होती है। यश और कीर्ति के लिए दिया हुआ दान ये चीजें भले ही दिला दें उस पुण्य-फल को नष्ट कर देता है जो निस्वार्थ भाव से दान दिये जाने पर प्राप्त होता है।

भजन में आगे कहा गया है —

फकत अकेला जाना तुम को,
लौट नहीं आना है तुम को,
लाभ कमाना हो तो प्यारे दानी बनो।
बार-बार नहिं नखतन पावे,
गया समय वापिस नहिं आवे,
भाग्य जगाना हो तो प्यारे दानी बनो।

इस संसार से तुम्हें अकेला ही जानना है। जिस पत्नी, पुत्र, पिता आदि सगे-सम्बन्धियों के लिए तुम रात-दिन परिश्रम करते हो तथा जिनके मोहवशात् अनेक-अनेक कर्माँका बन्धन करते चले जाते हो वह सब कुछ तुम्हारी आँखें मुंदते ही छूट जाएगा।

क्योंकि मृत्यु के पश्चात् तो अगर पुनः मनुष्य भी बन गये तो पराया मानकर तुम्हें कौन अपनाएगा या पशु-योनि प्राप्त करली तो घर में भी कैसे घुसने दिया जायेगा ?

वास्तव में तो यह नर-देह पुनः प्राप्ता सम्भव ही नहीं है। इसलिये इसी जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना बुद्धिमानी है। बीता हुआ समय पुनः लौटकर नहीं आता। अतः इस अल्प-काल में ही आत्म-कल्याण का प्रयत्न कर लेना चाहिए और उसका सबसे सीधा मार्ग है निःस्वार्थ भाव से दान देना। जो व्यक्ति इस प्रकार का दान देगा, उसका भाग्य निश्चय ही जाग जाएगा।

दान की महिमा अपरम्पार है। जो व्यक्ति इस बात की सत्यता को सही

रूप में समझ लेते हैं, उनके हृदय स्वतः ही भोग-विलास तथा लोभ-लालच से दूर भागते हैं। वे भली-भाँति समझ लेते हैं कि आत्मा का वास्तविक धन तो चैतन्य है, और उसी के विकास तथा संचय में आत्मा का कल्याण है।

आत्म-कल्याण के इच्छुक प्राणी अपने मन और इन्द्रियों पर भी पूर्णतया काबू रखते हैं। वे जानते हैं कि कोई भी प्राण इन सबकी सहायता के बिना नहीं होता। इस विषय में सुप्रसिद्ध पाश्चात्य लेखक टॉलस्टॉय ने एक बड़ा सुन्दर रूपक लिखा है। वह इस प्रकार है :—

पापी कौन है।

एक बार मनुष्य के शरीर और आत्मा में बहस छिड़ गई। दोनों एक दूसरे को बुरा भला कहने लगे। शरीर मारे क्रोध के तम्क कर बोला —

“मैं तो जड़ हूँ मिट्टी का पिण्ड। मोह और आसक्ति पैदा करने वाली वस्तुओं को देख भी नहीं सकता। फिर भला मैं पाप कैसे कर सकता हूँ?

शरीर की इस बात पर आत्मा का भी क्रोध आ गया। आग-बबूला होकर बोली — मेरे पास तो पाप करने के साधन नहीं हैं, मैं पाप कैसे कर सकती हूँ? इन्द्रियों के बिना भी कोई कार्य हो सकता है क्या? जब भगवान ने शरीर और आत्मा की ये बातें सुनीं तो वे मुसकरा दिये और बोले — “लड़ना बेकार है। क्योंकि तुम दोनों ही बराबर के जिम्मेवार हो! शरीर के कर्णों पर जब आत्मा आ बैठती है, तब दोनों के सहकार से ही पाप का जन्म होता है।”

भगवान की इस बात को सुनकर दोनों ही खामोश हो गये?

बन्धुओ, इस उदाहरण के रहस्य को आप समझ गए होंगे कि अगर मानव पापों का जन्म नहीं होने देना चाहता है, अर्थात् पाप-कर्मों के बन्ध से बचना चाहता है तो उसे अपने मन, वचन तथा शरीर, इन तीनों ही योगों को पूर्णतया विशुद्ध रखना होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि मुँह से तो वह भजन-कीर्तन करे और मन से अपने वैरी का अनिष्ट चाहता रहे। या कि हाथों से दान देता रहे और काल्पनिक आँखों से दाताओं की लिस्ट में अपना नाम पढ़ता रहे अथवा वाह-वाह! या प्रशंसा के स्वरों को सुनता रहे।

इन सब स्वार्थमय भावनाओं को छोड़कर ही जब वह दान-धर्म की आराधना करेगा तो इस लोक में यश और परलोक में अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकेगा।

[२३]

गुणानुराग ही मुक्ति-मार्ग है

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

मनुष्य-जन्म रूपी वृक्ष के छः फल बहाए गए हैं। जिनमें से पहला जिनेन्द्र पूजा, दूसरा गुरु की सेवा, तीसरा प्राणी मात्र गर दया करना और चौथा है सत्-पात्र को दान देना। इन चारों का वर्णन पिछले चार दिनों में किया गया है। आज पाँचवाँ फल जो कि गुणानुराग है, उस पर विचार करना है। गुणानुराग का अर्थ है — गुणों को देखकर प्रेम भाव उत्पन्न होना तथा हृदय में प्रसन्नता का भाव आना।

गुण भी और अवगुण भी

प्रायः देखा जाता है कि संसार में जितने भी प्राणी या पदार्थ हैं सभी में गुण तथा अवगुण दोनों ही होते हैं। सभी गुणवान् हों, ऐसा नहीं होता तथा सभी निर्गुणी हों यह भी नहीं होता। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ में जहाँ कुछ गुण मिलते हैं, वहाँ कुछ न कुछ अवगुण भी पाए जाते हैं। संक्षेप में न एक ही स्थान पर केवल गुणों का ही भंडार होता है, और न एक ही स्थान पर अवगुणों का समूह। एक श्लोक में इसी बात की पुष्टि सुन्दर उदाहरणों के साथ की गई है। कहा है :—

यत्रास्ति लक्ष्मीर्विनयो न तत्र,
ह्याभ्यागतो यत्र न तत्र नक्ष्मीः।
उभौ च तौ यत्र न तत्र विद्या,
नैकत्र सर्वो गुणसंनिपातः ॥

जहाँ लक्ष्मी रहती है वहाँ नम्रता नहीं है, और जहाँ अतिथि सत्कार की भावना होती है लक्ष्मी नहीं रहती। और जहाँ दोनों हैं वहाँ विद्या का ही अभाव रहता है, अतः यह निश्चित है कि एक स्थान पर सब गुण समूह नहीं रहते।

पदार्थों की दृष्टि से देखा जाय तब भी यही बात है। गुलाब के फूल के साथ कांटे होते हैं और कमल कीचड़ में रहता है। कस्तूरी जीवन-दायिनी होते हुए भी काले रंग की होती है तथा किण्वक-फल सुन्दर होते हुए भी प्राण-नाश का कारण बनता है।

इस प्रकार सृष्टि के समस्त प्राणी और पदार्थ जहाँ कुछ गुण रखते हैं, वहाँ अवगुणों को भी छिपाये रहते हैं। किन्तु इस साधारण नियम के अपवाद स्वरूप एक स्थान ऐसा भी है जहाँ समस्त गुण ही गुण हैं, अवगुण एक भी नहीं। आपके हृदय में जानने की उत्सुकता होगी कि कौन सा है वह स्थान जहाँ केवल गुण ही गुण हैं, अवगुणों का नाम भी नहीं है।

सर्वगुण सम्पन्न कौन ?

सर्वगुण सम्पन्न केवल तीर्थंकर भैं होते हैं, जिनमें एक भी अवगुण नहीं होता। भक्तान्तर स्तोत्र में श्री मानतुंगाचार्य भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए एक श्लोक में कहते हैं —

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैर्योषै —

स्त्वं संश्रितो निरवकाशातया मुनीश !

दोषैरुपात्त - विविधाश्रयजात गर्वै :

स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।

— हे भगवन्! आप अनन्त गुणों के धारक हैं। संसार में जितने भी गुण हैं, वे सम्पूर्ण गुण आप में आश्रित हैं। पर समस्त गुण आपके आश्रय में हैं इसमें भी आश्चर्य की कोई बात नहीं है। क्योंकि उन गुणों को एक साथ रहने के लिये अन्यत्र कोई स्थान ही नहीं है।

देखिये, कवि के कहने का ढंग भी कितना सुन्दर है कि — समस्त गुण आपके आश्रय में हैं। अर्थात् और कोई भी व्यक्ति ऐसे महान गुणों को अपने पास रखने की क्षमता नहीं रखता। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने घर में हाथी नहीं बाँध सकता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य समस्त गुणों के समूह को अपने आश्रय में नहीं रख सकता। यानी सर्वगुण सम्पन्न नहीं बन सकता। समस्त गुणधारी महान् और अवतारी पुरुष तो विरले ही हो सकते हैं जैसे तीर्थंकर प्रभु। उनके अलावा और कौन व्यक्ति अहिंसा, क्षमा, दया, अक्रूर्या सरलता, तप, त्याग तथा संयमादि अगणित गुणों का अपने में समावेश कर सकता है ?

श्लोक में आगे कहा गया है —

दोषैरुपात्त-विविधाश्रयजात गर्वै :,

स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि।

हे भगवन्! संसार के समस्त गुणों ने तो एक साथ रहने का स्थान अन्यत्र न पाकर तुम्हारे अन्दर ही प्रवेश किया। किन्तु अवगुणों ने सहज ही विविध जनों का आश्रय पाकर वहीं अपना अड़्डा जग लिया। तथा अपने उन क्षुद्र स्थानों को पाकर ही घमण्ड में ऐसे घूर हुए कि स्वप्न में भी तुम्हारे पास आने की कोशिश नहीं की।

दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लोमड़ी के समान अंगूर खट्टे हैं, यह कहकर अवगुण दूर से ही चलते बने और अपने लिये उपयुक्त स्थानों पर ऐसे जा छिपे कि पुनः कभी आपके समीप आने का उन्हें साहस ही न हुआ। स्वप्न में भी उन्हें आपकी ओर निहारने की हिम्मत नहीं पड़ी।

कुछ भी हो, निष्कर्ष यही है कि संसार के अन्य प्राणियों में गुण और अवगुण कम या अधिक मात्रा में सभी के पास होते हैं, किन्तु भगवान के पास दोषों का काम नहीं है। वे समस्त दोष-रहित तथा सम्पूर्ण गुण-सहित होते हैं।

गुणानुराग

जिन व्यक्तियों का गुणों के प्रति अनुराग होता है, वे दूसरों के गुणों को देखकर प्रमुदित होते हैं। दानी पुरुष को देखकर उसकी सहायता करते हैं। तपस्वी को देखकर मन में श्रद्धा का भाव लाते हैं। शीलवान के प्रति अपना मस्तक झुकाते हैं तथा संयमी पुरुष के लिए हृदय में पूज्य भावना रखते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति में जो भी गुण होता है, उसके लिये वे महान् आदर का भाव रखते हैं। गुणानुरागी व्यक्ति सदा यही भावना रखता है :—

गुणी जनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।
बने जहाँ तक उनकी सेवा — करके यह मन सुख पावे॥
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं, ब्रह्म न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहण का भाव रहे निरदृष्टि न दोषों पर जावे॥

किन्तु सुन्दर भावना है कि — गुणोजनों को देखकर मेरा मन खुशी से भर जाय। मले ही मुझ में गुणों का अभाव हो। त्याग और तपस्या आदि मुझसे न हो पाएँ, और धन के अभाव में दान का लाभ भी न उठा सकूँ। पर मैं चाहता हूँ कि गुणज्ञ पुरुषों की सेवा अपनी शक्ति के अनुसार करूँ तथा उससे ही मन में असीम प्रसन्नता का अनुभव करूँ।

कबहूँ मन गाना चढ़े, कबहूँ गिरे पाताल।
कबहूँ चुपके बैठता, कबहूँ जावे चाल॥

पर मन की गति विचित्र होती है —

इसलिये आशंकित होता हुआ कवि प्रार्थना करता है — हे प्रभु! मेरे मन को सदा दृढ़ बनाये रखना ताकि मैं कभी भी गुणीजनों के प्रति कृतघ्न न बन जाऊँ, मेरे मन में कभी उनके प्रति द्रोह और द्वेष की भावना न आ जाय। मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि मेरे हृदय में सदा गुण-ग्राहकता का भाव बनाये रखना तथा मेरी दृष्टि किस के भी दोषों की ओर मत जाना देना।

पश्चात्त्य विद्वान् एमर्सन का कथन है —

Every man I need is my superior in some way. In that I learn of him."

प्रत्येक मनुष्य जिससे मैं मिलता हूँ किसी न किसी रीति में मुझसे श्रेष्ठ होता है। इसलिए मैं उससे शिक्षा लेता हूँ।

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो जिज्ञासा होती है कि एक विद्वान को ऐसा सोचने की क्या आवश्यकता है? वह स्वयं भी तो बुद्धिमान और ज्ञानवान है। उसे अन्य प्रत्येक व्यक्ति से क्या लेना है? पर नहीं, संसार में गुण अनन्त हैं और एक व्यक्ति यह समझे कि मैं अपनी तीव्र बुद्धि से पढ़-लिखकर ज्ञानी बन गया, अब मुझे और कुछ प्राप्त करने लगे आवश्यकता नहीं है। तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक छोटे से छोटे व्यक्ति में भी कोई न कोई गुण अवश्य होता है।

गुणग्राही बादशाह

हजरत इब्राहीम बलख के बादशाह थे। एक बार उन्होंने एक गुलाम खरीदा और अपनी स्वामादिक उदारतापूर्वक उससे पूछा —

“तेरा नाम क्या है?”

“जिस नाम से हुजूर मुझे पुकारें।”

“तू खायेगा क्या?”

“जो आप खिलायें।”

“तुझे कपड़े कैसे पसन्द हैं?”

“जो आप पहना दें।”

“अच्छा तू काम क्या करेगा?” — हजरत ने फिर पूछा!

“जो आप कराएँ।”

“तू क्या चाहता है?”

“हुजूर! गुलाम की चाह क्या? जो आपकी इच्छा हो वही मेरी चाह है।”

यह सुनते ही बादशाह तख्त से उतर पड़े और बोले — “तुम मेरे उस्ताद हो। आज तुमने मुझे बता दिया कि अल्लाह की भक्ति कैसे की जानी चाहिए।”

बन्धुओं, इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि गुणग्राही व्यक्ति किस प्रकार गुणों का संचय किया करते हैं। अपनी गुणग्राहकता के कारण एक बादशाह ने भी अपने खरीदे हुए गुलाम से भक्ति कैसे ली जाय यह सीख लिया।

इतना ही नहीं, सच्चे गुणग्राही पुरुष तो पूर्ण निर्गुणी से भी शिक्षा लेने से

• [२७३]

नहीं चूकते।

एक बार लुकमान हकीम से किसी व्यक्ति ने पूछा — “आपने तमीज किससे सीखी?”

लुकमान ने सहज भाव में उत्तर दिया — ‘बदतमीजों से।’

“वह कैसे?” व्यक्ति ने साश्चर्य प्रश्न किया।

“क्योंकि मैंने उन लोगों में जो कुछ बुरी बातें देखी उनसे परहेज किया।”

उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस व्यक्ति की वास्तव में ही गुण-दृष्टि होती है वह बुराइयों में से भी अच्छाइयों को लेते हैं। पर ऐसे महापुरुष तो क्वचित् ही मिलते हैं। साधारणतया तो हम इससे उल्टा ही देखते हैं।

उल्टी जग की रीति.

आपने प्रायः सुना होगा, जवासिया एक छोटा सा झाड़ होता है। वर्षा ऋतु में जबकि सारी पृथ्वी हरी-भरी हो जाती है, वह सूख जाता है। और जब ग्रीष्म ऋतु आती है तथा धरती पर के सभी लहलहाते वृक्ष सूखने लगते हैं, उनके पत्ते झड़ते हैं तब वह हरा-भरा हो जाता है, फूल आ जाता है। अर्थात् पृथ्वी पर के फले फूले और हरे-भरे वृक्षों को वह नहीं देख सकता तथा ईर्ष्या की आग के मारे स्वयं ही सूख जाता है। पर जब अन्य वृक्ष सूख चलते हैं तो उसे इतनी खुशी होती है कि स्वयं ही लहलहा उठता है।

यही हाल इन्सान का भी है। संसार में बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो औरों की उन्नति को देखकर सच्ची खुशी का अनुभव करते होंगे। एक सुभाषित में कहा गया है :—

नागुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी।

गुणी च गुणारागी च, दुर्लभः सन्नो जनः॥

इसका अर्थ है :— अवगुणी व्यक्ति गुणवानों को नहीं जान सकता। यानी जिसमें स्वयं ही गुण नहीं हैं वह गुणियों को पस्ख कैसे कर सकता है? गुणवानों को तो गुणवान ही पहचान सकते हैं।

किन्तु दुख की बात यह है कि गुणवान जो होते हैं वे गुणवानों को जानकर भी उनका आदर नहीं करते। तथा उनकी सराहना करने के बदले उलटा मत्सर भाव रखते हैं। एक विद्वान दूसरे विद्वान को देखकर ईर्ष्या करता है और एक श्रीमंत दूसरे श्रीमंत की धन-वृद्धि से जलता है। तो यह उलटी रीति ही हुई न?

अरे भाई! जब तुम्हारे पास भी लाखों की सम्पत्ति है तो तुम्हें दूसरों की धन-वृद्धि से क्यों जलन होती है? और जब कि तुम स्वयं भी विद्वान हो तथा औरों के द्वारा प्रशंसा-प्राप्त व्यक्ति हो तो तुम्हें दूसरों की बढ़ती हुई कीर्ति

से नफरत क्यों? इससे तो साबित होता है कि तुम सच्चे अर्थों में गुणवान या विद्वान् नहीं हो। केवल विद्वत्ता का वाना पहने हुए ईर्ष्यालु व्यक्ति हो। तथा तुम्हें गुणवान कहना ही गुणों का अपमान करना है।।

इसीलिये श्लोक में आगे कहा है :—

सच्चे गुणी और गुणानुरागी मनुष्य मिलना बड़ा दुर्लभ है। ये दोनों चीजें एक ही स्थान पर नहीं मिल सकतीं। व्यक्ति स्वयं गुणवान् हो तथा दूसरों के गुणों को देखकर आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव करता हो तो उससे बढ़कर अच्छाई और क्या हो सकती है?

छिद्रान्वेषण मत करो

कविकुल-भूषण पूज्यपाद श्री तिलोकाक्षि जी महाराज अपने एक कवित्त के द्वारा प्राणी को सदुपदेश देते हैं कि तू औरों की निंदा मत कर, औरों के दोष मत देख! अगर देखना ही है तो अपने स्वयं के दोष देख! जिससे आत्म-शुद्धि हो सके।

काव्य इस प्रकार है :—

छिद्र पर देख निंदा करे केम, छोड़ के छिद्र सुगुण लहीजे।
बबूल देख के काँटा ग्रहे मत, छाया ते शीतल होय सहीजे॥
तुच्छ असार आहार है धेनु को क्षीर विगथ तामे सार कहीजे।
तिलोक कहत स्वछिद्र को टालत, काहे को अन्य का छिद्र ग्रहीजे॥

कहा गया है 'हे प्राणी! तू दूसरों का छिद्रान्वेषण क्यों करता है? पर दोष दर्शन करके उनकी निंदा करने से मुझे कौन सा लाभ होने वाला है? कोई नहीं, अतः दूसरों के दोष देखना छोड़कर! उनमें जो गुण हैं केवल उन्हें ही ग्रहण करना सीख।'।

'बबूल का पेड़ तेरे समक्ष है तो क्या यह आवश्यक है तू उसमें से काँटे ग्रहण करे ही? नहीं, काँटों को छूने की आवश्यकता नहीं है। असह्य धूप है, पैरों में जूते नहीं हैं, तथा पास में कोई अन्यवृक्ष नहीं है तो दो घड़ी तू बबूल की छाया में बैठकर विश्राम कर। शूल वृक्ष पर हैं तो रहने दे। छाया में तो शूल नहीं है? तू केवल छाया को ही क्यों नहीं देखता? काँटों को किसलिए देखे जा रहा है? बबूल के शूल-रूपी छिद्रों को देखने से मुझे क्या लाभ है? और न देखे तो कौन सी हानि है? फिर व्यर्थ का कार्य करना ही किसलिये? उसे न करना ही अच्छा है।' वह तो अज्ञानी व्यक्तियों का कार्य है कि :—

दोष पराया देखि के, चर्त हसंत हसंत।

अपने याद न आवई, जिम्का आदि न अंत॥

अर्थात् — दूसरे में तो अगर एक भी दोष दिखाई दे जाय तो व्यक्ति हँसने लगता

है तथा प्रसन्न होता है किन्तु अपने उन दोषों को नहीं देखता जिनकी कोई गिनती ही नहीं है। यानी न जिनकी आदि है और न अन्त ही।

इसीलिये कवि श्री तिलोकऋषि जी महाराज का कथन है कि तू ऐसा उलटा काम कर ही मत। दूसरे के अवगुणों को देख-देखकर अपने अवगुणों में वृद्धि मत कर।

एक गाय है। वह घास खाती है तथा कभी-कभी मलिन पदार्थ भी ग्रहण कर लेती है। किन्तु उससे तुझे क्या मतलब है? गाय क्या खाती है, और क्या नहीं इसकी चिन्ता छोड़कर तुझे तो केवल घासका दूध, दही, मक्खन और घी आदि सार पदार्थ ही ग्रहण करना है।

अन्त में कहा गया है — 'अरे अन्तनी! अगर तुझे दोष ही देखने हैं तो औरों के क्यों देखता है? अपने ही क्यों नहीं देखता! औरों के दोष देखने से आखिर तुझे क्या लाभ होगा? अपने स्वयं के देख लेगा तो कुछ आत्म-सुधार तो कर सकेगा! इसलिये उचित यही है कि अपने आप में झाँक, आत्मनिरीक्षण कर। जिन्होंने ऐसा किया है, उनका कहना भी है :—

बुरा जो देखन में चला, बुरा न दीखा कोय।

जो घट सोधा अपना, सो स्मा बुरा न कोय॥

वस्तुतः सच्चे महापुरुष अपना ही दोष-दर्शन करते हैं।

गनीमत है

कहते हैं कि सन्त उसमान हैरी किसी रास्ते से जा रहे थे। कुछ दूर चलने के बाद एक मकान की खिड़की से किसी ने बिना देखे ही थाली भर राख नीचे फेंक दी।

राख हैरी के मस्तक पर गिरी। पर उन्होंने बिना झुंझ-उधर देखे हुए हाथों से राख झड़ाई और हाथ जोड़कर ऊपर की ओर देखते हुए बोले —

“दयामय प्रभु! तुझे लाख-लाख धन्यवाद!”

यह सब देखकर एक व्यक्ति ने जो कि उनका कुछ दूर पर ही खड़ा था, पूछा — “महात्मन्! इसमें भगवान को धन्यवाद देने की क्या बात है?”

उसमान हैरी मुस्कराते हुए बोले — “माई, मैं तो आग में जलाये जाने लायक हूँ। लेकिन उस मेहरबान ईश्वर ने मुझे राख से ही निपटा दिया।”

सच्चे महापुरुष ऐसे ही होते हैं। आज के व्यक्तियों में इतनी सहन-शीलता तथा ईश्वर के प्रति ऐसा अटूट विश्वास कहाँ पाया जाता है? आप लोगों में से किसी के साथ अगर ऐसी घटना घट जाती तो क्या होता जानते हैं? उस गली में ही महाभारत खड़ा हो जाता। तथा गली-गलौज की बौछार होने लगती। उस

अवसर पर प्रभु का स्मरण करना किसी का याद आता क्या? नहीं, उल्टे कटु-वाक्यों के अविष्कार का प्रयत्न किया जाता। ऐसा क्यों होता? क्योंकि आपकी दृष्टि दोष-दृष्टि होती है। दूसरे के अपराध पर ही झटपट निगाह जा सकती है।

आपकी चतुराई में तो कोई कर्मी है नहीं! अनाज खरीदने के लिये अगर आप बाजार जाते हैं तो भले ही निन्यानवे दाने गेहूँ के अच्छे हों पर एक भी दाना घुना हुआ हो तो फौस आपकी दृष्टि उसे पकड़ लेती है। दाने सभी तो सड़े हुए नहीं थे एक ही खराब था। पर उन सबको छोड़कर आपने सड़े हुए को ही क्यों देखा? क्योंकि बुराई जल्दी दिखाई देती है अच्छाई नहीं। अवगुण शीघ्र मिल जाते हैं, गुणों को खोजना पड़ता है।

गुणों का महत्त्व

गुण अपने आप में सम्पूर्ण होते हैं। उनमें कोई दोष नहीं होता जिसे हटाने की आवश्यकता होती हो तथा कोई अभाग नहीं होता, जिसे पूरा करने की जरूरत पड़ती हो। इसलिये उन्हें किसी की स्फुटारिश की आवश्यकता नहीं होती। अपने पद से ही वे सब स्थानों पर आदर प्राप्त कर लेते हैं। कहा भी है :—

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, पितृवंशो निरर्थकः।

वासुदेवं नमस्यन्ति, वासुदेवं न ते जनाः॥

गुणों का ही सर्वत्र सम्मान होता है पिता के वंश का नहीं। लोग वासुदेव (कृष्ण) की ही वन्दना करते हैं, उनके पिता वासुदेव की नहीं।

गुणी व्यक्ति चाहे वह अमीर हो या गरीब, छोटा हो या बड़ा अपने गुणों के कारण ही प्रत्येक स्थान पर सम्मान प्राप्त करता है।

चावल के पाँच दाने —

‘ज्ञाता धर्म कथा सूत्र’ में गुण का महत्त्व बताते हुए एक उदाहरण दिया गया है — धन्ना सेठ के चार पुत्र-वधुएँ थीं। ‘चारों बहुओं में से कौनसी बहु मेरे घर का भार संभालने लायक है इसकी परीक्षा की जाय।’ यह विचार एक दिन सेठजी के मन में आया और उन्होंने चारों को अपने पास बुलाया।

जब चारों वधुएँ उपस्थित हो गईं तो उन्होंने प्रत्येक को शालि के पाँच-पाँच दाने दिये और कहा — “जब मैं इन्हें माँगूँ तो मुझे वापिस देना।”

चारों अपने-अपने हाथों में चाकन के वे पाँच-पाँच एक सरीखे दाने लेकर अन्दर गईं पर सबके हृदय में भावनाएँ अलग-अलग प्रकार की पैदा हुईं।

बड़ी बहू ने सोचा — ‘ससुर! सटिया गए हैं शायद, जो घर में हीरे, पन्ने, मोती, माणिक तथा अतुल धन-राशियों के होते हुए भी बहुओं को चावल के दाने देने बैठे। उपर से तुरंत यह की माँगने पर पुनः लौटना होगा।’ मारे क्रोध

और तिरस्कार के उसने उन चावलों को फेंक दिया। मन में कहा — “जब मांगेंगे भंडार भरे पड़े हैं पाँच दाने लाकर दे दूँगी।”

दूसरी बहू ने विचार किया — ‘अब इन्हें कहाँ सम्भाल कर रखूँ? गुम-गुमा जाएँगे। चलो, बड़ों की दो हुई चीज है तो प्रसाद के समान ही है, खा ही जाऊँ। और उसने वे दाने खा लिये।

तीसरे नम्बर की बहू ने सोचा — ‘गृह्ण ससुर की आज्ञा का पालन करना चाहिए। उन्होंने जब इन्हें संभाल कर रखने के लिये ही दिये हैं तो सुरक्षित स्थान पर रख लेती हूँ जब मांगेंगे तो उनके दाने लौटा दूँगी।’ और उसने पाँचों दानों को तिजोरी में अपने आभूषणों के साथ रख दिया।

चौथी बहू सबसे छोटी, पर बड़ी बुद्धिमान थी। उसने विचार किया — पिताजी ने आज जो पाँच-पाँच चावल के दाने दिये हैं वे क्या यों ही दिये होंगे? क्या घर के कर्णधार बहुओं से मजाक करेंगे? नहीं जरूर ही इन दानों के दिये जाने के पीछे कोई रहस्य है। उनके मन में कोई महत्त्वपूर्ण उद्देश्य छिपा हुआ है। अतः बहुत सोच-विचार कर उसने चावल के उन दानों को अपने पीहर भेज दिया और कहलाया कि जब तक मैं इन्हें वापिस न मंगवाऊँ तब तक इन्हें पुनः-पुनः बीज समझकर बोया जाय।

धीरे-धीरे समय बीत चला और कई वर्ष बाद अचानक सेठजी ने चारों बहुओं से अपने दिये हुए चावलों की माँग की।

पहली और दूसरी, दोनों ने भंडार में से दाने लाकर दे दिये। तीसरी ने तिजोरी में से लाकर दिये और सबसे छोटी बहू ने चावल के दानों के लिये अपने पीहर गाड़िया भेजीं।

घना सेठ की परीक्षा हो चुकी। उन्होंने दाने फेंक देने वाली बड़ी बहू को घर की झाड़ू-बुहारी करने का काम सौंपा। दाने खा जाने वाली बहू को खाना बनाने के लिये रसोई का कार्य दिया। संभाल कर रख लेने वाली तीसरी बहू को सम्पत्ति का रक्षण करने के लिए भंडार की चाबियों प्रदान की और सबसे छोटी बहू, जिसने दानों की वृद्धि की थी, इसे सम्पूर्ण घर का उत्तर-दायित्व संभला दिया।

ऐसा सेठजीने क्यों किया? केवल गुणों की परख कर लेने के कारण। इस उदाहरण से साबित हो जाता है कि गुणों का ही सम्मान व आदर होता है। चाहे वे बड़ों में हों या छोटे में, पुरुष में हों या स्त्री में। कान्न भी है

“गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न चालिंगं न च वयः।”

पूजा का स्थान केवल गुण ही है। उम्र अथवा लिंग नहीं।

एक वृद्ध भी, अगर उसमें गुण नहीं हैं तो किसी के सम्मान का पात्र

नहीं बन सकता, जितना कि एक गुणवान् युवक। और एक निर्गुणी पुरुष सम्मान नहीं पा सकता, जितना कि एक गुणवती नारी। गुणों की दृष्टि से पुरुष और स्त्री में कोई भेद नहीं माना जाता।

उदाहरणस्वरूप हम सभी प्रातःकाल के समय में सोलह सतियों के नाम लेते हैं, उनका स्मरण करते हैं। आप पुरुष हैं, श्रावक हैं, और हम साधु। फिर हमें सतियों के नाम लेने की क्या जरूरत है? क्यों हम उनको स्मरण और वन्दन करके अपने हृदय में प्रसन्नता और सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं।

केवल इसलिये कि उनमें शील, संयम और तपादि महान् गुण थे। उनके गुणों का ही स्मरण किया जाता है और उनके गुणों को ही नमस्कार सब करते हैं। पुरुष और स्त्री की देह तो नश्वर है किन्तु गुण सदा अमर रहने वाले हैं। देह मरती है गुण नहीं मरते।

संक्षेप में प्राणी अपने गुण से महान् बनते हैं। वैभव-शाली, वृद्ध पुरुष या ऊँची-ऊँची पदवियां प्राप्त कर कुर्सी धारि बन जाने से नहीं। कहा भी गया है :—

गुणैरुत्तमत्ता यान्ति, नीचैरासनमस्थितैः।

प्रासादशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते॥

—चाणक्य

अर्थात् — गुणों से ही मनुष्य महान् होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं। महल के ऊँचे शिखर पर बैठने से भी कोआ गरुड नहीं हो सकता।

कहने का अभिप्राय यही है कि महत्त्व केवल गुणों का होता है, लिंग या वय का नहीं। हम श्रमणों में तो अगर एक व्यक्ति तीस या चालीस वर्ष का भी हो पर गुणवान् और योग्य न हो तो उसे दीक्षा का अधिकारी नहीं माना जाता किन्तु अगर एक बालक कुशाग्र-बुद्धि, नम्र और गुणवान् हो तो उसे साढ़े आठ वर्ष की उम्र के पश्चात् ही दीक्षा दी जा सकती है। ऐसा शास्त्र कहते हैं।

आप की सरकार का तो नियम है कि अठारह वर्ष की उम्र होने पर नौकरी में ले लेना और तीस वर्ष अथवा जो भी समय नियत किया गया हो उसके पश्चात् रिटायर कर देना। सरकारी नौकरी में केवल डिगिरियों को देखा जाता है, वहाँ आत्मिक गुणों से कोई मतलब नहीं। व्यक्ति में हों चाहे नहीं।

पर हमारे यहाँ ऐसा नहीं है। मात्र अगर योग्य है, उसमें उत्तम गुणों का निवास है तो साढ़े आठ वर्ष की उम्र से साठ वर्ष की उम्र तक भी वह दीक्षा ले सकता है। और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि यहां रिटायर होने का काम ही नहीं है। जीवन के अन्त तक भी वह सुख-शांति और अपनी शारीरिक योग्यता अनुसार संयम का पालन करे, कर्मों की निर्जस करता हुआ सुगति प्राप्ति

का प्रयत्न करे इसकी सम्पूर्णतया छूट है।

गुणों का गर्व मत करो!

बन्धुओ, अभी मैंने गुणों का महत्त्व आगको बताया है, और यह भी बताया है कि गुणों की सर्वत्र पूजा होती है। पर सभ्र ही यह भी बताना आवश्यक है कि मनुष्य गुणों के साथ ही साथ कहीं गर्व का भी संचय न करले। अन्यथा उसके समस्त गुणों पर पानी फिर जाएगा।

आचार्य चाणक्य का कथन है :—

परस्मदुत गुणो यस्तु, निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।

इन्द्रोऽपि लघुतां याति, स्वयं प्रख्यापितैः गुणैः ॥

जिस गुण का दूसरे लोग वर्णन करते हैं उससे निर्गुण भी गुणवान होता है। किन्तु अपनी प्रशंसा स्वयं करने पर तो इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।

समझने की बात है कि एक गुणहीन व्यक्ति जिसके पास न धन है, न विद्या। न उसमें त्याग करने की क्षमता है और न ही तपस्या करने की शक्ति। अर्थात् कोई भी गुण उसमें नहीं है। किन्तु अगर उसका हृदय गुणीजनों को देखकर प्रफुल्लता से भर जाता है, अपने सर्वान्तःकरण से वह गुणियों की प्रशंसा करता है और उनके गुणों की सराहना करते नहीं झकता, तो संसार उसे भी महापुरुष मानता है तथा गुणवान की संज्ञा देता है।

किन्तु दूसरी ओर जो व्यक्ति संयम, लग्न, त्याग और दानादि अनेक गुणोंका धारक होता है, वह भी अगर अपने गुणों का अहंकार करे तो उसके सब गुण निष्फल हो जाते हैं। आत्म-प्रशंसा सर्वप्रथम विनय गुण का और उसके पश्चात् अन्य गुणों का नाश करती है।

अभी मैंने कहा था कि गुणों को किसी की सिफारिश की आवश्यकता नहीं होती। कस्तूरी में सुगन्ध है। इस बात को सौगन्ध खाकर कहने की क्या आवश्यकता है? उसकी सुगन्ध तो स्वयमेव ही चारों ओर फैल जाती है और लोग उसे पहचान लेते हैं। एक फारसी भाषा के कवि ने कहा है :—

मुश्क आनस्त कि खुद बबोयद।

न आंकि अत्तार बगोयद॥

अर्थात् - सुगन्ध वह है जो अपने अग्न फैले, न कि जिसका वर्णन अत्तार यानी गँधी करे।

जिस प्रकार सुगन्ध छिपी नहीं रह सकती उसी प्रकार सद्गुण भी छिपे नहीं रहते। इसलिये वाणी के द्वारा उनके प्रकटन की आवश्यकता नहीं होती। पर

जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, समझना चाहिए कि वे स्वयं अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारते हैं।

रावण, कौरव और कंस क्या सर्वथा गुण-हीन थे? नहीं, वे अनेक गुणों के धारक तथा धनुर्विद्या-धारी शक्ति-सम्पन्न योद्धा थे। किन्तु फिर भी उनका पतन और कुल-नाश हो गया। यह क्यों? केवल इसलिये कि उन्हें अपने गुणों का गर्व था। यह अवगुण ही उनके समूल-नाश का कारण बना तथा सदा के लिये कलंकित भी बना गया। एक अंग्रेजी की कहावत है —

“Pride goes before, and shame follows after.”

— पहले गर्व चलता है और उसके बाद कलंक आता है। इसीलिये कबीर ने कहा है :—

कबिरा गर्व न कीजिये, कबहुँ न हँसिये कोय।
अबहुँ नाव समुद्र में, को जाने का होय॥

कितनी सच्ची शिक्षा है कि — किसी अन्य के अवगुणों को देखकर कभी उसका उपहास मत करो तथा अपने गुणों का गर्व मत करो! अभी तो स्वयं तुम्हारी जीवन नौका भी संसार-सागर के मध्य में ही है। कौन जानता है कि पार उतरोगे या नहीं। ”

वस्तुतः सच्चा गुणवान वही है जो अपने आप में सदा कमियाँ देखता है।

गुरु लाना

कहा जाता है कि यूनान का राजा सिकन्दर जब भारत-विजय की आकांक्षा से खाना हुआ तो उसने अपने गुरु अस्तु से पूछा — “आपके लिये भारत से क्या लाऊँ?”

अस्तु बोले — “मेरे लिये वस्त्रों से ऐसा गुरु लाना जो मुझे ब्रह्मज्ञान दे सके।”

यह अस्तु का उत्तर था जो कि स्वयं महाज्ञानी और गुरु-पद पर प्रतिष्ठित थे। फिर भी उन्होंने अपने आप में कमी महसूस की तथा अपने शिष्य सिकन्दर से गुरु लाने की ख्वाहिश प्रकट की। गुरुवानों का सच्चा लक्षण यही है कि वे अपने आप में उद्यता नहीं, वरन् लघुता महसूस करते हैं। और उनकी लघुता की भावना ही उनकी महत्ता का प्रतीक होती है।

जो भव्य प्राणी इस प्रकार अपनी अहंकार-रूप दुर्बलता का त्याग कर देते हैं, वे ही इस लोक में प्रशंसा और परलोक में कल्याण के भाजन बनते हैं।

इसलिये बन्धुओं, हमें अपनी बुद्धि और विवेक को जागृत करते हुए अनन्त पुण्यों के उदय से प्राप्त होने वाले इस मानुष्य जन्म को सार्थक करने का प्रयत्न

करना चाहिए। और यह तभी हो सकेगा जबकि हम गुणानुरागी बनेंगे।

अगर हममें, प्रत्येक अन्य प्राणी के छोटे से छोटे गुण को भी ग्रहण कर लेने की लालसा बनी रहेगी तो एक दिन ऐसा अवश्य आएगा कि संसार के समस्त सदगुण हमारे हृदय में निवास करने को आतुर होंगे। दूसरे शब्दों में मनुष्य-जन्म-रूपी वृक्ष का पाँचवाँ फल गुणानुराग एक दिन हमें यह क्षमता प्रदान कर देगा कि उसके बल पर हम मोक्ष-पथ की समस्त कठिनाइयों को पाट कर सकेंगे।

समय हो चुका है तथा आप भी मनुष्य-जन्म-रूपी वृक्ष के पाँचवे फल 'गुणानुराग' पर काफी सुन चुके हैं। अब इसका छोटे फल 'शास्त्र श्रवण' पर कल विचार किया जायेगा।

• • •

[२४]

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं...

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

मनुष्य जन्मरूपी वृक्ष के छ: फल आचार्य श्री सोमप्रभसूरी ने अपने एक श्लोक में बताये हैं। उनमें से पाँच फलों का वर्णन आपके सामने हो चुका है। आज छठे 'शास्त्र-श्रवण' पर आपके सामने कुछ कहना है।

शास्त्र-श्रवण मानव जीवन को ऋतु बनाने का सर्वोत्तम साधन है। जब तक मनुष्य शास्त्र-श्रवण नहीं करता तब तक उसे यह मालूम नहीं पड़ता कि उसके लिए हेय क्या है और उपोदय क्या है? अर्थात् उसके लिए छोड़ने योग्य क्या है, और ग्रहण करने योग्य क्या है?

शास्त्र का महत्त्व बताते हुए कहा भी है —

“सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्यः शास्त्रं एव सः।

अर्थात् शास्त्र सबके लिए नेत्र के समान है जिसे शास्त्र का ज्ञान नहीं, वह अन्धा है।

मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओं से जगत् के समस्त दृश्यमान पदार्थों को देखता है। किन्तु शास्त्र-श्रवण से जो उसके ज्ञान-नेत्र खुलते हैं, उनके द्वारा वह अपनी आत्मा को देखता है तथा आत्मिक गुणों की पहचान करता है। इसलिए अवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि व्यक्ति जहाँ तक भी बन सके, शास्त्र-श्रवण करे।

शास्त्र-श्रवण किसलिये?

अगर व्यक्ति धर्मशास्त्र सुनता है तो उसका चित्त एक अनिर्वचनीय सन्तुष्टि और प्रसन्नता से भर जाता है। हृदय में रहे हुए पापपूर्ण एवं कलुषित विचार नष्ट होते जाते हैं तथा उनके स्थान पर पवित्र एवं शांतिदायक विचार जन्म ले लेते हैं।

शास्त्र-श्रवण का मन पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। भले ही कभी-कभी उनकी भाषा समझ में न आये किन्तु एक अवर्णनीय सन्तुष्टि मन पर इस प्रकार छा जाती है कि मानस शुद्ध और पवित्र बनने लगता है।

जिस प्रकार एक मंत्रवादी सर्प के विष को उतारने का मंत्र पढ़ता है तो

जिस व्यक्ति को सर्प ने काटा है, उसकी समझ में मंत्र की भाषा और उसका अर्थ नहीं आता। किन्तु तब भी उसका मन भय-रहित तथा आशापूर्ण हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप वह विष-रहित होने लाभा है।

इसी प्रकार शास्त्रों की भाषा कभी समझ में नहीं भी आती है, तब भी मनुष्य का मन एक नैसर्गिक पवित्रता के प्रकाश से भर जाता है और उसके फलस्वरूप पाप की कालिमा धीरे-धीरे मिटने लगती है।

इसलिए शास्त्र-श्रवण प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार पौष्टिक भोजन से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म श्रवण से आत्मा को बल मिलता है। एक भजन में कहा गया है —

एक वचन जो सत्गुरु केरो, जो राखे दिल मायं रे प्राणी।

नीच गति में ते नहि जावे, इम भाखे जिनराय रे प्राणी।

भजन शास्त्रानुकूल, पारमार्थिक, एवं अत्यन्त तात्त्विक है। भले ही इसकी भाषा सरल और सीधी है किन्तु शास्त्र-सम्मत है। मूत्र पाठ में भी आता है—

“एगमचि आयरियं धम्मियं सुवचणं सोज्जा।”

जो एक वाक्य भी भगवान के वचनों में से सुन लेता है वह नीच गति में नहीं जाता। कवि ने भी कह दिया है कि अगर एक वचन भी सत्गुरु का सुनकर हृदय में धारण करले तो वह प्राणी निकृष्ट गति में नहीं जाता ऐसा जिनराज का कथन है।

एक बात और कही गई है कि सत्गुरु के वचन को जो दिल में रखले अर्थात् उसे ग्रहण करले तो वह कुगति में नहीं जाता। सुनने का सार भी यही है कि उसे ग्रहण किया जाय। भले ही व्यक्ति प्रतिदिन का सुना हुआ सभी याद न रख सके पर दो शब्द, या दो वाक्य भी वह हृदयंगम करले तो धीरे-धीरे हृदय में ज्ञान का उज्ज्वल आलोक जरूर प्रसारीत होगा। एक न एक दिन आत्मा के द्वार खुलेंगे तथा उसमें धर्म का प्रवेश होकर रहेगा।

इसीलिये महापुरुषों के द्वारा पुनः-पुनः कहा जाता है कि शास्त्र के वचनों पर विश्वास रखना चाहिए तथा शास्त्र की आज्ञाओं का पालन करना चाहिए। चाहे साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जो भी शास्त्र के आदेशों के अनुसार चलता है वही अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। अन्यथा तो सारी रत पानी बरसने पर जहाँ मिट्टी गद्गद् हो जाती है, पत्थर कोरा का कोरा ही रहता है। इसी प्रकार जीवन भर धर्मोपदेश सुनने पर भी मानव की आत्मा पूर्ववत् मलिन बनी रहती है। तथा मानव की आकृति में पशु वै समान ही प्राणी अपना जीवन-यापन करता है। वह यह नहीं समझ पाता कि :—

धर्मार्थकाममोक्षाणाम्। मूलमुक्तं कलेवरं।"

— धर्मकल्पद्रुम

— धर्म का, धन का विविध इच्छाओं का और मोक्ष का साधन यह शरीर ही है।

शरीर से लाभ कैसे लिया जाय ?

वस्तुतः इस शरीर और इन्द्रियों का लाभ वही मनुष्य ले सकता है जो इनका सदुपयोग करे। एक श्लोक में कहा गया है :—

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुत्वाद प्रणमनम्।
मुखे सत्या वाणी श्रुतमधिगतं च श्रवणयोः॥
हृदि स्वच्छावृत्तिर्विजयि भुज्यां : पौरुषमहो।
विनाय्वैश्वर्येण प्रकृति महतां ण्डनमिदम्॥

कहा गया है — अगर हमें अपने शरीर के लिये हाथों की प्राप्ति हुई है तो इनसे दान करो। हाथों की शोभा दान करने से बढ़ती है, कंकण पहनने से नहीं। आमूषण तो ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हैं किन्तु दान सदगुणों का प्रतीक माना जाता है।

इसी प्रकार अगर हमें मस्तक नेमला है तो माता-पिता, गुरु तथा गुरुजनों के समक्ष झुकाकर उसकी भी शोभा बढ़ाओ! बड़ों के चरणों में नमन करने से ही मस्तक की सार्थकता है। आज के युग में माता-पिता, गुरु या किसी भी बड़े के चरणों में मस्तक झुकाने का तो जैसे रिवाज ही नहीं रहा है।

हमारे पास बच्चे आते हैं। हम कभी उनसे पूछ भी लेते हैं — “क्यों भाई, माता-पिता को प्रणाम करते हो?”

बच्चे उत्तर में गर्दन हिलाकर नम्रात्मक उत्तर दे देते हैं। अगर हम उनसे पुनः प्रश्न करते हैं — “क्यों नहीं कर्ते?” तो वे यही उत्तर देते हैं — “हमें शर्म आती है।”

कितने दुख की बात है? छोटे-छोटे बालक भी बड़ों को प्रणाम करने में शर्म का अनुभव करते हैं। पर आगे जाकर इसका परिणाम क्या होगा. आप जानते हैं? यही कि जो मस्तक बाल्यावस्था में माता-पिता के समक्ष नहीं झुका वह स्कूलों और कालेजों में अपने शिक्षकों के सामने कब झुकेगा। कभी नहीं झुकेगा, तथा अहंकार से तनी हुई गर्दन के साथ ही अपने गुरुओं से वाद-विवाद करेगा तथा उन्हें बुरी-मली कहेंगे।

किन्तु अगर निष्पक्षता से विचार किया जाय तो दोष आज के बालकों का नहीं है, वरन् स्वयं उनके माता-पिता का ही है। अगर वे चाहें तो अपने

भोले-भोले बच्चों में प्रारम्भ से ही बड़ों के सम्मुख मस्तक नवाने की आदत डाल सकते हैं। यह किस प्रकार? चलिये यह भी मैं ही बता दूँ। बात यह है कि बालक कहा हुआ कस्से की बजाय, देखा हुआ जल्दी करते हैं। अगर वे अपने माता-पिता को अर्थात् आप लोगोंको अपने से बड़ों के सम्मुख मस्तक झुकाते हुए देखें तो निश्चय ही आपको बिना कहे अपना मस्तक आपके चरणों में रखने लगेंगे। तथा बाल्यावस्था में पड़े हुए इस उत्तम संस्कार को अपने जीवन से नहीं निकालेंगे।

शास्त्रों में हम देखते हैं कि बड़े-बड़े राजा भी अपने माता-पिता के दर्शन नियमित रूप से किया करते थे। तथा प्रातःकाल दर्शन करने के उपरान्त ही अन्य कार्य प्रारम्भ करते थे। माता का महत्व बताते हुए कहा भी है :—

“शिशोः शुश्रूषाच्छक्तिनिर्माता स्यान् माननाच्च सा।”

—स्कन्दपुराण

शिशु की शुश्रूषा करने से माता को शक्ति, और सदा सम्मान देने के कारण उसे माता कहते हैं।

वास्तव में माता के बलिदानों का बच्चा कोई-भी पुत्र नहीं चुका सकता, चाहे वह भूमण्डल का स्वामी ही क्यों न हो। माँ के ममत्व की एक बूँद भी अमृत के सागर से अधिक मीठी होती है।

एक पाश्चात्य विद्वान 'कोलरिज' ने भी अपनी कविता में लिखा है :—

“A mother is a mother still, the holiest thing alive.”

— माता माता ही है, जो जीवित वस्तुओं में सबसे पवित्र है।

बन्धुओ, माता के समान पिता की सेवा का भी बड़ा भारी महत्व बताते हुए रामायण में कहा गया है :—

न सत्यं दानमानी वा न यज्ञाश्चामर्दक्षिणा :।

यथा बलकरा : सीते। तथा सेवा णितुर्हिता॥

— वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड

— हे सीता! पिता की सेवा करना जिस प्रकार कल्याणकारी माना गया है, वैसा प्रबल साधन न सत्य है, न दान-सन्मान है और न प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि माता-पिता की सेवा, भक्ति तथा सम्मान करने से बढ़कर अन्य कोई भी धर्म या शुभ-कृत्य नहीं है। इसीलिये वासुदेव के अवतार पुरुषोत्तम कृष्ण अपनी माता को नमस्कार करते थे ऐसा अन्तर्गडसूत्र में आता है। ज्ञातासूत्र तथा निरियावलिका में भी। मूल पाठ है कि मंत्री अभयकुमार

जैसे बुद्धि के धनी पुरुष भी अपने पिता महाराज श्रेणिक को वंदन करने जाया करते थे। तथा सघुकुल शिरोमणि राम की कथा तो आज जगत प्रसिद्ध ही है, जिन्होंने पिता के वचन की रक्षा के लिये चौदह वर्ष तक वन में घोर कष्ट सहन किये। उदाहरण कहाँ तक दिये जायें? बालक श्रवण को आज भी हम याद करते हैं और कल की दुनियाँ भी इसी प्रकार गदगद होकर स्मरण करेगी, जिसने अपने अंधे माता-पिता को कंधे पर रखी हुई डोली में बैठकर तीर्थयात्रा कराई थी।

बालक आज भी वैसे ही होते हैं और उन्हें जन्म देने वाले माता-पिता भी। पर कभी केवल संस्कारों की होती है। अतः मेरा आप लोगों से यही कहना है कि अपने माता-पिता गुरु व गुरुजनों की भक्ति तथा सेवा का आप स्वयं आदर्श उपस्थित करें। ताकि आपके बालक बिन आपके सिखाये ही नम्रता का पाठ पढ़ें तथा बड़ों के समक्ष नत होकर अपने उत्तमांग की शोभा बढ़ाएँ।

श्लोक में आगे जबान की शोभा के विषय में बताया गया है कि जबान की शोभा सत्य बोलने में है। हमारे आज के भाई पान के बीड़े खाकर मुँह लाल करने में, फिल्मी गीत गाने में या बेसिर पैर की हाँककर लोगों को प्रभावित करने में ही इनकी शोभा मानते हैं। तथा इससे आगे बढ़ते हैं तो असत्य-भाषण कर औरों को बेवकूफ बनाते हुए किसी न किसी प्रकार अपना उखू सीधा करने में ही अपनी जबान की चतुराई समझते हैं।

वे भूल जाते हैं कि असत्य वा वचनों का बल प्रदान करके जितना ऊँचा उठाया जाता है, उतनी ही ग्लानि, जाना ही पाप रूपी कीचड़ और उतना ही अनाचार उसके नीचे इकट्ठा हो जाता है।

सिक्खों के धर्मशास्त्र में कहा है :—

“कहे नानक जिन सच तजिया,
कूड़े लार्गि उनी जन्म जुए हारिया।”

— रामकली मोह ३ अनन्द

गुरु नानक कहते हैं कि जिन लोगों ने सत्य को त्याग कर असत्य को अपना लिया, उन्होंने मानों अपना जन्म ही छुएँ में हार दिया।

और सत्य कितना महान होता है यह शेखसादी ने बताया है :—

“रास्ती मूजिब रक्षाए खुदास्त,
कस न दीदम कि गुम शुद अजराहे रास्त।”

— अर्थात् सत्य ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है। मैंने सत्य के मार्ग पर चलने वाले को कभी पथभ्रष्ट होते नहीं देखा।

इसलिये प्रत्येक मानव को असत्य का त्याग करके सत्य भाषण से ही

अपनी जिह्वा को पवित्र बनाना चाहिए। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आत्म-कल्याण के जितने भी साधन हैं, वे सब सत्य में ही निहित हैं। हमारे जैन-शास्त्रों में स्पष्ट कहा है :—

“जे विय लोगंभि अपरिसेसा मन्तजोगा। जवा य विज्जा य जंभकाय अत्थाणिय सिक्खाओय आगमाय सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठिभाइं।”

— प्रश्नव्याकरण, २-२४

भावार्थ है — इस लोक में जितने भी मंत्र, योग, जप, विद्याएँ, जूम्भक, अर्थशास्त्र, शिक्षाएँ और आगम हैं, वे सभी ऋत्य पर आश्रित हैं। इन सबका मूल आधार सत्य है।

सत्य महान पराक्रमशाली और प्रचंडशक्तिमान होता है। जिस प्रकार भुवनभास्कर सूर्य के उदित होते ही तिमिर विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के प्रकाशित होते ही असत्य अस्तित्वहीन बन जाता है।

सत्य की शक्ति

एक महात्मा किसी भंगी से छू गए। इस पर अत्यन्त क्रोधित होकर चिल्लाए

“तू अन्धा है क्या? देखकर नहीं चलता? अब मुझे पुनः स्नान करने के लिए नदी पर जाना पड़ेगा।”

भंगी नम्रतापूर्वक बोला — “भगवन्! स्नान तो मुझे भी करना पड़ेगा।”

“तुझे क्यों स्नान करना पड़ेगा?” सन्त वकरीये।

“इसलिये कि क्रोध मुझ से भी अधिक अपवित्र और चांडाल के सदृश है। आपके अन्दर प्रवेश करके उसने मुझे स्पर्श किया है अतः मुझे भी नहाना होगा।”

सन्त यह सुनकर बड़े शर्मिन्दा हुए और उन्होंने भंगी से क्षमा मांगी।

यह सत्य की ही शक्ति थी, जिसने भंगी की जबान पर आकर भी एक सन्त को अपने समक्ष झुका लिया। सत्य की आराधना करने वाला व्यक्ति संसार की किसी भी शक्ति से भयभीत नहीं होता तथा अनादि काल से चल रही अपनी इस विराट यात्रा का चरम लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह अपनी जिह्वा के द्वारा सदा सत्य भाषण करे तथा सत्यालंकार से उसे अलंकृत करे।

श्लोक में अगली बात यह बताई गई है कि मानव को अगर कान मिले हैं तो उनसे वह शास्त्र-श्रवण करे। शास्त्र-श्रावण ही हमारा आज का मुख्य विषय है। शास्त्र-श्रवण करना ही कानों का सदुपयोग करना है और उन्हें शोभित करना

है।

हम अनेक पुरुषों को और प्रायः समस्त नास्थियों को कानों में कुछ न कुछ पहन कर उसकी शोभा बढ़ाते हुए देखते हैं। पर क्या कानों में हीरे के लॉग या कर्णपुञ्ज पहन लेने से ही उनके सौंदर्य में अभिवृद्धि हो जाती है? एक संस्कृत के विद्वान ने कहा है :-

“श्रोत्रं श्रुतेनैव न च कुण्डलेन”

श्रोत्र यानी कान। इन कानों का होना कैसे सार्थक होता है, तथा इनकी शोभा कब बढ़ती है? जबकि शास्त्र के वजन कानों में पहुँचे, तथा शास्त्रों की वाणी इन्हें अलंकृत करें। कानों में कुण्डल पहनने से, भुरकी और बालियाँ पहनने से इनकी शोभा नहीं बढ़ती। कान का सच्च। आमूषण शास्त्र-श्रवण करना है इसी से इनकी शोभा बढ़ती है।

लोग इधर-उधर की बातें खूब श्रुति से सुनते हैं। दूसरों की निन्दा कहीं हो रही हो, तो भी अपने कान उसी तरफ कर लेते हैं, किन्तु जहाँ शास्त्र का वाचन हो रहा हो तो आँखें बचाकर भागने की कोशिश करते हैं। उसमें उन्हें रस नहीं आता। पर ऐसा करना उनकी महान् भूल है। शास्त्र को माता के समान माना गया है। आपके सुनने में या पढ़ने में ‘प्रवचन-माता’ शब्द अवश्य ही आया होगा। प्रवचन का अर्थ शास्त्रों के वचन ही होता है। तो माता का दूध जिस प्रकार संसार के समस्त खाद्य पदार्थों की अपेक्षा शरीर की पुष्टि के लिए उत्तम माना गया है, उसी प्रकार शास्त्र-वचन आत्मिक गुणों के विकास और पुष्टि के लिए अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा उत्तम होते हैं। अतः शास्त्र-श्रवण करना प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक प्राणी के लिए आवश्यक है।

श्लोक में अगली बात बताई है कि अन्तःकरण की शोभा शुद्ध आचरण में है। अगर मनुष्य का आचरण सुन्दर नहीं है तो उसके शरीर की तथा वस्त्रों की जो ऊपरी सुन्दरता है वह निरर्थक है। ‘बाह्य सुन्दरता से आत्मा का तनिक भी लाभ होने वाला नहीं है। आत्मा का उत्थान केवल हृदय की पवित्रता-रूप सुन्दरता से ही हो सकता है। हृदय में अगर पापों का कचरा है, और कषायों की कालिमा है तो मनुष्य कितनी भी धर्मा-क्रिया करे, मंदिरों और मसजिदों में जाये अथवा तीर्थों में भटकता फिरे उसमें कोई लाभ नहीं होता।

मुस्लिम जाति में मक्के की हज्ज अर्थात् - यात्रा का बड़ा भारी महत्त्व माना जाता है। किन्तु शेखसादी कहते हैं :-

“दिलबदस्त आवरो के हज्जे अकवर अस्त।

अज हजारा कावा मरुत दिल बेहतर अस्त॥”

यानी - अपने हृदय को वश में कर। क्योंकि यही एक महान् हज्ज है।

अपने हृदय पर विजय प्राप्त करना हजार हज़ों से भी बेहतर है।

महर्षि वेदव्यास जी का भी यह कथन है :-

“तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः।”

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ हृदय है, पवित्र वस्तुओं से अति पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है।

कहने का सार यही है कि हृदय की शुद्धता ही समस्त धर्म-क्रियाओं तथा तीर्थयात्राओं से श्रेष्ठ है। अगर मनुष्य का हृदय सरलता, पवित्रता तथा पर-दुःखकातरता से परिपूर्ण है तो उसे अन्यत्र कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं है। पर अगर ऐसा नहीं है, अर्थात् उसके अन्तःकरण में रुचछता नहीं है तो लाख-धर्म-क्रियाएँ करने पर भी उसकी आत्मा का कल्याण होना सम्भव नहीं है। एक कवि के उद्गार मुझे याद आ रहे हैं :-

कैसे हो कल्याण करणी काली है।

नहीं होगा भुगतान हुण्डी जाली है॥

मनुष्य की इस आत्मा का उद्धार होना कैसे शक्य है, जबकि उसकी करनी कषायादि की कालिमा से काली हो चुकी है।

कवि ने बड़ा मनोरंजक दृष्टांत दिया है - जैसे किसी व्यक्ति ने एक जाली हुण्डी दूसरे को भेज दी। वह व्यक्ति अगर उस हुण्डी का भुगतान करने के लिए जाए तो क्या कोई व्यापारी उसे लेने को तैयार होगा? नहीं, पक्का व्यापारी उसमें भेजने वाले के हस्ताक्षरों की जाँच करेगा, तारीख देखेगा तथा उसमें जो कुछ लिखा हुआ है वह ठीक है या नहीं, इस बात पर भी गौर करेगा तथा सन्तोष न होने पर कोरी ही लौटा देगा। कपट-जाल में होशियार व्यापारी नहीं फँसेगा।

इसी प्रकार मनुष्य की धर्म-क्रियाएँ अगर बनावटी हैं तथा केवल दिखावे के लिये ही की गई हैं तो उनका फल जाली हुण्डी के समान शून्य ही होगा।

आगे कहा गया है :-

तू तन का काला धब्बा, धोता ले फौरन पानी।

तेरे मन पर कितने काले, धब्बों की पड़ी निशानी,

क्यों न निहारी हैं, नहीं होगा भुगतान हुण्डी जाली है।

‘तेरे शरीर के किसी हिस्से पर तो थोड़ा-सा भी धब्बा, दाग का कीचड़ लग जाता है तो तू फौरन उसे साबुन से मल-मलकर धोने लगता है। पर कभी यह भी देखता है कि काम, क्रोध, मद, मत्सर मोह तथा दंभ आदि के कितने धब्बे तेरे मन पर लगे हुए हैं? उन्हें कभी क्यों नहीं देखता?’

तेरा बिगड़ा पड़ा है इंजिन, गड़गड़ी किस तरह चलेगी?
दीपक में तेल खतम है, बाती किस तरह जलेगी,
बुझने वाली है, नहीं होगा भुगतान.....।

इस पद्य में भी कवि ने दो छद्मन्त देकर मानव को समझाया है इंजिन, बिगड़ जाने पर जिस प्रकार गाड़ी नहीं चलती और तेल समाप्त होने पर बत्ती नहीं जल सकती इसी प्रकार अगर तेरा विवर्तित हृदय शुद्ध नहीं होता तो इस मुक्ति-पथ पर तू आगे नहीं बढ़ सकता। यह भरो-भौंति समझले कि तेरी यह यात्रा अब रुकने ही वाली है।'

तेरे अन्दर ज्ञान नहीं है, कैसे फिर देह चलेगी?
तेरी नैया फूट रही है, कैसे फिर पार लगेगी,
डूबने वाली है, नहीं होगा भुगतान.....।

'अरे अज्ञानी जीव! तेरे अन्दर ज्ञान नहीं है। उसके अभाव में तेरी इन्द्रियाँ और शरीर किस प्रकार शुद्ध क्रियाएँ करेंगे?'

'इस कर्म रूपी सागर को एकमात्र धर्म की नाका से ही पार किया जा सकता है पर तेरी इस नाव में तो छूर्जुणों के अनेक छिद्र हो रहे हैं। फिर तू ही बता यह भव-सागर को कैसे पार कर सकेगी? देख! यह डूबने की तैयारी में ही है, अब भी तू चेत जा!'

नकली हुण्डी को जला दे, झूठे मन को शुद्ध बनाले।
पी 'धन' ज्ञानामृत प्याले, कर्मों भरता प्यास बुझाले,
सुगुरु गुण-शाली है, नहीं हाँगा भुगतान.....।

अन्त में कवि यही सीख देते हैं 'हे जीव! अपनी इस नकली हुण्डी को जलाकर भस्म कर दे। अर्थात् तेरे ज्ञान, तप तथा धर्म-ध्यान आदि में जो भी दिखावा और बनावटीपन है उसे नष्ट कर दे तथा मन को क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायों से रहित करके शुद्ध अवस्था में ले आ।'

'तेरा तो बड़ा सौभाग्य है कि तुझे अत्यन्त गुणवान गुरु का संयोग मिला है। अतः इस अवसर का लाभ उठा और जिनवचन रूपी ज्ञानामृत का पान कर! व्यर्थ ही अपनी आत्मा को ज्ञान-पिपासा से व्याकुल क्यों किये हुए है? इसकी अनन्त कल से चली आ रही प्यास को मिटा तथा सदा-सदा के लिए तृप्त कर। मत मूल कि यह मानव-पर्याय बार-बार नहीं मिलती और न ही ऐसे शुभ-संयोग पुनः-पुनः मिलते हैं।

बन्धुओं, आपको ध्यान होगा कि हम एक संस्कृत के श्लोक का विवेचन कर रहे हैं। श्लोक में अभी हृदय की स्वच्छता पर बताया जा रहा था और अब उसमें भुजाओं के पौरुष का महत्व बताया गया है। कहा है कि भुजाओं की सुन्दरता

उनके पौरुष तथा शौर्य पर निर्भर होता है।

जो व्यक्ति दुखी, असहाय, संकटग्रस्त प्राणियों की सहायता के लिए तत्पर रहते हैं, अनाथ तथा अबला नारियों के शील की रक्षा में कटिबद्ध हो जाते हैं प्राणपण से उसके निवारण में जुट जाते हैं वे सच्चे पुरुषार्थी कहलाते हैं। पुरुषार्थी और शूरवीर पुरुष अपने समाज और देश की रक्षा में कभी पीछे नहीं रहते।

अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही वे इच्छित वस्तु की प्राप्ति करते हैं, तथा विजय श्री का वरण करके ही छोड़ते हैं। कहा भी है :-

पुरुषार्थियों के लिए दूर क्या है? अर्थात् समस्त प्रकार की सिद्धियाँ उनके समीप ही होती हैं।

“किं दूरं स्ववसायिनाम्?”

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी को अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रखना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा करता है, अर्थात् अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण भरोसा रखता है उसके लिए सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति तो क्या स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति भी दुर्लभ नहीं होती।

निज पुरुषार्थ से मुक्ति

एक बार भगवान महावीर वन में ध्यानस्थ खड़े थे कि एक खाला आकर बोला - “मेरे बैल यहाँ चर रहे हैं। इनका ध्यान रखना।”

पर ध्यान कौन रखता? भगवान तो अपनी समाधि में लीन थे। उधर बैल भी चरते-चरते कहीं दूर निकल गए।

खाले ने आकर जब अपने बैलों को वहाँ नहीं पाया तो क्रोधित होकर भगवान को मारने के लिए उद्यत हुआ। पर उसी समय इन्द्र वहाँ आए और उन्होंने खाले को वहाँ से भगा दिया। और तत्पश्चात् भगवान महावीर से कहा - “भंते! आपकी साधना में कोई बाधा और संकट न आ पाए, इसलिये मैं आपकी रक्षार्थ आपके समीप ही रहना चाहता हूँ।”

किन्तु भगवान ने क्या उत्तर दिया? ई बोले -

“देवेन्द्र! किसी और की सहायता से मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है। वह तो स्वयं के पुरुषार्थ से ही मिल सकती है।”

भगवान के वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि मानव को अगर सिद्धि प्राप्त करनी है तो उसे अपने पुरुषार्थ को जाग्रत रखना चाहिए। सच्चा मानव वही है जो सांसारिक क्षेत्र में अपनी भुजाओं की शक्ति पर विश्वास करे तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी आत्माकी अनन्त शक्ति पर। तभी उसकी प्रत्येक मनोकामना पूर्ण हो सकती है।

आशा है आपने श्लोक का विवेचन भली-भाँति समझ लिया होगा। सारांश उसका यही है - जो महामानव अपने हथों से दान कर देता है, मस्तक को गुरुजनों के समक्ष झुकाता है, मुख से सत्य बोलता है, कानों से शास्त्र श्रवण करता है तथा हृदय को स्वच्छ रखते हुए अपने पुरुषार्थ के बल पर सफलता हासिल करता है। उस पुरुषोत्तम को प्रकृति बिना ऐश्वर्य के भी सुन्दरता प्रदान करती है। मनुष्य के सदगुण ही उसके सच्चे आभूषण होते हैं तथा उसका शुद्ध और निष्कपट हृदय आभूषणों का पिटारा। महाकवि शेक्सपियर ने कहा भी है :-

"A good heart is worth gold."

सुन्दर हृदय का मूल्य स्वर्ण के सदृश है।

इसलिए बन्धुओ, हमें प्रयत्न करना है कि हमारा शरीर सदगुण रूपी अलंकारों से सुशोभित हो। उन अलंकारों में से एक अलंकार शास्त्र-श्रवण है जो कि हमारा आज का मूल विषय है।

शास्त्रों का श्रवण करने से ही बुद्धि का विकास होता है, मानसिक बल बढ़ता है तथा आत्मिक गुण प्रकाशित होते हैं। जो व्यक्ति जिन-वचनों पर विश्वास नहीं करता, उन्हें सुनने और ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं करता, वह 'स्व' और 'पर' में भेद नहीं कर सकता। वह यह भी नहीं जान पाता कि आत्मा के संसार में भटकाने वाले कौन से कारण हैं तथा उसे मुक्त करने के साधन कौन-कौन से हैं। परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य जन्म पाकर भी उसका लाभ नहीं उठा पाता और इस देह को छोड़ने के बाद पुनः नाना प्रकार की योनियों में भटकने के लिए चल देता है।

किन्तु हमें ऐसी भूल नहीं करनी है। हमें तो मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के समस्त फलों को प्राप्त करते हुए अपनी आत्मा को निरन्तर ऊँचा उठाना है तथा ऐसा प्रयत्न करना है कि इसकी अनन्तकाल से चली आ रही यात्रा का अन्त हो। एवमस्तु....।

● ● ●

[२५]

जन्माष्टमी से शिक्षा लो!

धर्मप्रीमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

आज जन्माष्टमी है। यों तो प्रतिदिन संसार में अनेकानेक प्राणी जन्म लेते हैं और अनेकानेक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। किन्तु उनकी जन्मतिथि को, अथवा मृत्यु की तिथि को कोई स्मरण नहीं करता। तिथियाँ वे ही याद की जाती हैं, जिनमें कोई महापुरुष, महामानव अथवा अकारणी पुरुष जन्म लेते हैं या जन्म-मृत्यु होते हैं।

इसीलिये हम आज की अष्टमी को महत्त्व देते हैं कि आज के दिन अवतारी पुरुष अथवा पुरुषोत्तम कृष्ण का जन्म हुआ था। यद्यपि अष्टमी का दिवस एक वर्ष में चौबीस बार आता है, पर तेईस बार आई हुई अष्टमी का कोई महत्त्व नहीं माना जाता और आज की अष्टमी को प्रत्येक नर-नारी परम आद्वाद और श्रद्धापूर्वक मनाते हैं।

पुरुषोत्तम कौन कहलाता है ?

संसार में अनन्त पुरुष हुए हैं, हैं और होते रहेंगे। किन्तु सभी को लोग पुरुषोत्तम नहीं कहते। प्रश्न उठता है कि पुरुषोत्तम किसे कहा जाता है ? क्या कामदेव के समान शारीरिक सौन्दर्य प्राप्त करने वाले को अथवा कुबेर के समान अतुल ऐश्वर्यशाली बन जाने वाले को पुरुषोत्तम कहा जाएगा ?

नहीं, पुरुषोत्तम केवल वही पुरुष कहलाएगा जो इस पृथ्वी पर जन्म लेकर धर्म की रक्षा करेगा, अनीति का नाश करेगा तथा संसार के भूले-भटके प्राणियों को सत्यपथ बताएगा। ऐसे ही पुरुषोत्तम राम थे, कृष्ण थे और हमारे तीर्थंकर भी थे। जिनके लिए 'नमोऽस्तुते' में आता है :-

'पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं । पुरिसवरं पुंडरियाणं ।'

ऐसे उत्तम पुरुष चौपन हुए हैं। संक्षिप्त में - चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव एवं नौ वासुदेव। त्रेसठ श्लाघनीय पुरुषों में से नौ प्रति-वासुदेवों को अलग कर दिया गया है। इसका भी कारण है, और वह यह है कि प्रतिवासुदेव श्लाघनीय पुरुष होते हुए भी कुछ न कुछ भूलकर बैठते हैं, कुछ दोषपूर्ण कार्य कर जाते हैं। प्रतिवासुदेव की मृत्यु भी वासुदेव के द्वारा ही होती है।

रावण प्रतिवासुदेव था। वह अनेकानेक उत्तम गुणों से संयुक्त और शूरवीर होते हुए भी पर-स्त्री हरण की भूल कऽ बेटा तथा वासुदेव के हाथों से मारा गया। जरासंध भी प्रतिवासुदेव था किन्तु अनीति पर उतारु हो गया और वासुदेव कृष्ण के हाथों मारा गया। अभिप्राय कहने का यही है कि प्रतिवासुदेव यद्यपि श्लाघनीय पुरुष होते हैं तथा संसार में प्रतिष्ठित माने जाते हैं किन्तु कुछ गलतियाँ कर जाने के कारण अपयश का भी उपार्जन करते हुए वासुदेव के हाथों मारे जाते हैं।

कृष्ण वासुदेव और पुरुषोत्तम थे। क्षात्र के दिन अपने मामा कंस के बन्दीगृह में उन्होंने जन्म लिया था। जन्म लिया, वह शब्द मैंने गीता के आधार पर कहा है। गीता में उल्लिखित है कि कृष्ण ने अर्जुन से कहा -

यदा यदा हि धर्मस्य, म्लानिर्भवति भारत!

अधुत्थानमधर्मस्य, तप्तत्पानं सृजाम्यहम्।

अर्थात् जब-जब धर्म का नाश होता है, तब-तब मैं अवतार लेकर उसका रक्षण करता हूँ।

गीता का वचन है कि जब दुनियाँ में पृथ्वी का भार बढ़ जाता है, तब महापुरुष उसे हलका करने के लिए जन्म लेते हैं। पृथ्वी पर भार बढ़ जाने का अर्थ मनुष्यों की संख्या बढ़ जाने तथा उनके भार से पृथ्वी के बोझिल हो जाने से नहीं है। पृथ्वी पर भार बढ़ने का अर्थ है - संसार में अनीति का बढ़ जाना तथा कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, पाखंड तथा नास्तिकता का प्रसार हो जाना। यही सब मिलकर पृथ्वी को भारभूत बनाते हैं और उस भार को हलका करने के लिए कोई न कोई पुरुषोत्तम इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

जिस समय कृष्ण ने जन्म लिया था उस समय भी धर्म और नीति के कई शत्रु थे। यथा - कंस, जरासंध, दुर्योधन, नरकासुर, कालयवन तथा कालीनाग। ये सभी उस समय अधर्म और अनीति के मार्ग पर चलकर प्रजा को त्रस्त किये हुए थे। अतः कृष्ण ने पृथ्वी पर के भयातुर प्राणियों को इनके अत्याचारों से छुटकारा दिलाया तथा धर्म की रक्षा की। दूसरे शब्दों में अनीति के मार्ग पर चलने वालों को दंड दिया तथा नीति और धर्म के मार्ग पर चलने वाले सत्पुरुषों की रक्षा की। इन दुष्कर कार्यों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य रखने के कारण ही वे पुरुषोत्तम कहलाए।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात

कहावत का अर्थ है - होनहार बूझों के पत्ते प्रारम्भ से ही चिकने होते हैं। यही बात आप और हम, मनुष्यों के लिए भी कहते हैं कि होनहार व्यक्ति बाल्यावस्था से ही दयालु, चतुर, कुशाग्रबुद्धि, चपल और साहसी होता है। यानी बचपन में ही उसमें अनेक सुन्दर गुण पाये जाते हैं। प्रसिद्ध भक्त नामदेव के बचपन

का भी एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी उदाहरण है, जो इस कहावत को शब्दशः चरितार्थ करता है।

तू एक दिन महान साधू बनेगा!

बालक नामदेव जब एक दिन कहीं बाहर से घर पर आया तो उसकी धोती खून से लतपथ देखकर माँ बड़ी चकित हुई और जल्दी से बोली -

“बेटा! तेरी धोती में यह खून कैसे लगा रहा है?”

“माँ, मैंने कुल्हाड़ी से पैर छीलकर देखा था।”

घबराहट और परेशानी के साथ माँ बोली - “अरे नामू! तू क्या ऐसा मूर्ख है जो कुल्हाड़ी से अपना ही पैर छील बैठा? घाव पक जाय और कहीं सड़ जाय तो पैर कटवाने की ही नौबत आ जाये। तूने ऐसा क्यों किया? क्यों अपने पैर चोट लगाई?”

“माँ, उस दिन तूने मुझसे पलाश के पेड़ की छाल उतरवाकर मँगवाई थी न? आज मैंने सोचा कि अपने पैर की भी छाल उतार कर देखूँ। पलाश के पेड़ की छाल उतारने से उसे कैसा जगंगा होगा, यह जानने के लिए ही मैंने अपने पैर की चमड़ी छीली थी।”

नन्हें बालक नामदेव की माता फुफ़ की बात सुनकर रो पड़ी और बोली - “बेटा नामू! मालूम होता है कि तू एक दिन महान साधू बनेगा। वास्तव में ही अन्य जीवों के समान वृक्षों में भी ज्ञान है तथा चोट लगने पर जैसे हमें दुख होता है वैसे ही उन्हें भी होता है।”

यही बालक नामदेव बड़े होने पर संत नामदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

सभी महापुरुषों का बचपन इसी प्रकार सुलक्षणों से युक्त होता है।

अनेक बार तो गर्भावस्था में ही सन्तान के सुलक्षण या कुलक्षण दिखाई दे जाते हैं। आगे जाकर माता-पिता की घात चाहने वाला कोणिक जब महारानी चेलणा के गर्भ में आया तो उन्हें अपने गति महाराजा श्रेणिक के कलेजे का माँस खाने की इच्छा हुई थी।

कहने का अभिप्राय यही है कि सन्तान के गुण उसकी प्रारम्भिक अवस्था में ही दिखाई दे जाते हैं।

श्रीकृष्ण वासुदेव भी बाल्यावस्था में कितने नटखट और प्रसन्नता की जीवित मूर्ति थे यह आज प्रत्येक मानव जानता है। महाकवि सूरदास ने उनकी बाल्यावस्था का नाना प्रकार से चित्रण किया है। एक पद्य, जो कि आप सभी की जबान पर होगा, उसमें अपनी चोटी न बढ़ने की शिकायत माता यशोदा से करते हुए वे किस चतुराई से उससे अधिक मक्खन लेने का प्रयत्न करते हैं -

मैया, कबहिं बढ़ेगी छोटी ?
 कितनी बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
 तू जो कहति बन की बेली ज्यों हूँ लांबी मोटी।
 काढ़त गुहत न्हायत जैहँ नागिनि सीं भुईं लोटी॥
 काचौ दूध पियावत पचि-पचि, देति न मखन रोटी।
 सुदाम चिरजीवो दोउ भैया, हरि हलधर की जोटी।

कहते हैं - "माँ, मेरी यह छोटी कब बढ़ेगी? कितने दिन हो गए मुझे दूध पीते हुए, पर अभी भी यह छोटी सी ही है। तू तो कहती थी न, कि यह नागिन के जैसी बड़ी हो जाएगी और मुझे नहलाते तथा इसे रूँथते समय जमीन पर लोटेगी। पर यह तो अभी तक बड़ी नहीं। लगता है कि तू मुझे कच्चा दूध ही पिलाकर टरका देती है, मखन-रोटी नहीं खिलाती इसलिए इसका यह हाल है।"

कितनी चतुराई से अपनी बात कही है उन्होंने? पर यह सब वे अपने लिए ही नहीं करते थे। अपने घर में और गोकुल के अन्य घरों में जितना भी मखन और दही उन्हें मिल जाता, लेजाकर अत्यन्त उदारतापूर्वक गायेँ चराने वाले खाले-बालों को बाँट देते थे।

वीरता भी उनमें कम नहीं थी। कहते हैं कि बचपन में ही उन्होंने कई राक्षसों का संहार किया था और यमुना वेत समस्त जल को दूषित करने वाले कालिय नाग को नाथा भी।

बड़े होने पर तो संसार के सामने उन्होंने ऐसे आदर्श उपस्थित किये, जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। गीता के रूप में उन्होंने मानव को कर्म करने की जो प्रेरणा दी वह आज भी जगत के अमूल्य ग्रंथ के रूप में सुरक्षित है और भविष्य में भी रहेगी। अगर व्यक्ति उसे पढ़े और पढ़कर अपनाए तो निश्चय ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है।

मित्रता का अद्वितीय आदर्श

मित्र के रूप में भी कृष्ण एक आदर्श पुरुष साबित हुए। उनके जैसे मैत्री भावकी मिसाल संसार में मुश्किल से ही मिलती है। उनके मित्र सुदामा और वे स्वयं बचपन में संदीपनि ऋषि के आश्रम में साथ ही पढ़ते थे। बड़े होने पर सुदामा तो अपने कुलोचित कार्य अध्यापन में जुग गए और कृष्ण द्वारिकाधीश होकर राज्यकार्य करने लगे।

पर आप जानते ही हैं कि विद्या और लक्ष्मी एक ही स्थान पर निवास नहीं करती। इस नियम के अनुसार सुदामा सदा फटे-हाल ही बने रहे और जब उनकी पत्नी ऐसी अवस्था से परेशान हो गई तो उसने सुदामा को जबर्दस्ती कृष्ण

के पास भेजा। बेचारे सुदामा ने पत्नी को समझाने की बहुत कोशिश की। कहा :-

“सुख-दुख करि दिन काटे ही बनें भूलि;
विपत्ति परे पै द्वार मिल के न जाइये।

आजकल हम देखते ही हैं कि मित्रता कैसी होती है। वह समान श्रेणी वालों में तो कदाचित् मित्र भी जाए, पर असमान स्थिति वालों में कभी नहीं टिकती। दो मित्रों में से अगर एक विद्वान है और दूसरा मूर्ख, तो विद्वान मित्र उससे मित्रता बनाए रखने में अपनी हेटी समझता है। इसी प्रकार दो मित्रों में से अगर एक पर लक्ष्मी की कृपा हो जाती है तो वह अपने गरीब मित्र से सम्बन्ध रखने में शर्म का अनुभव करता है तथा उससे आँखें फेर लेता है।

इसीलिये सुदामा ने पत्नी को बार-बार समझाया था कि कृष्ण अब महाराज बन गए हैं और मैं एक दरिद्र ब्राह्मण हूँ। मेरे जैसे निर्धन व्यक्ति को विपत्ति पड़ने पर भी अपने अमीर मित्र के यहाँ नहीं जाना चाहिये। सुख और दुख के दिन तो काटने से ही कटेंगे। हमें किसी से याचना करना उचित नहीं है। तू मुझे बार-बार द्वारिका जाने का आग्रह मतकर। यह मत भूल कि :-

सिच्छक हों सगरे जग को तिथ! ताको कहा अब देति है सिच्छा?
जो तप के परलोक सुधारत, संपत्ति की तिन के नहि इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पद पंकज, बार हजार लै देखु परीच्छा।
औरनि को धन चाहिये बावरी, ब्राह्मण को धन केवल भिच्छा॥

कितने सुन्दर विचार थे सुदामा के? क्या आज के ब्राह्मण इतने संतोषी, इतने निस्वार्थी और आध्यात्मिक भावनाओं से ऐसे धनी होते हैं? नहीं, किन्तु सुदामा ऐसे ही थे। तभी उन्होंने परेशान होकर पत्नी से कहा - “ मैं तो स्वयं ही सारे जगत का शिक्षक हूँ तू मुझे अब क्या उलटी पट्टी पढ़ा रही है? मेरे जैसा ब्राह्मण व्यक्ति, जो कि जप, तप और ज्ञान-दान के द्वारा अपने परलोक को सुधारना चाहता है उसमें संपत्ति की लालसा कहाँ से अर्द्ध? ”

“मेरे हृदय में तो धन की चाह! के स्थान पर हरि के चरण-कमल ही चित्रित हैं। भले ही तू हजार बार परीक्षा लेकर देख ले। अरी बावली! धन तो और लोगों को चाहिये। ब्राह्मण को धन में क्या करना है? उसे तो भिक्षा मिल जाय बस यही काफी है।

पर होता वही है जो होना होता है। ब्राह्मणी जिव पर तुली हुई थी अतः सुदामा को द्वारिका जाना पड़ा। अत्यन्त संकुचित होते हुए तथा शर्मिन्दगी महसूस करते हुए वे स्वर्गपुरी के समान द्वारिका नगरी में पहुँचे तथा द्वारपाल से अपने आने का समाचार महाराजा कृष्ण के पास भिजवाया। पर उसके बाद क्या हुआ?

बोल्थो द्वारपालक 'सुदामा नाम पँडे सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जीविकी गति जाने को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेटे लपटाव हिय ऐसे हूख मानै को ?

द्वारपाल के मुख से 'सुदामा पँडे' वत नाम सुनते ही कृष्ण अपना राज्य-कार्य छोड़कर भागे हुए आए और हाथ जोड़कर ब्राह्मण होने के नाते मित्र के चरण स्पर्श किये तथा उसके बाद उन्हें हृदय से लगाकर भेंट की।

तत्पश्चात् अत्यन्त प्रेम से उनका हाथ पकड़कर अन्तःपुर में ले गए। जिस अन्तःपुर में चिड़िया भी पर नहीं मार सकती थी वहाँ एक दीन-दर्दि ब्राह्मण को स्वयं कृष्ण के द्वारा लाते हुए देखकर उनकी रानियाँ अत्यन्त चकित हुईं। पर उनका आश्चर्य उस वक्त सीमा पार कर गया जबकि द्वारिकाधीश ने मित्र को रत्न जटित चौकी पर बिठा कर यात्रा से थके हुए उर्ध्व पार धोने की तैयारी की। वे सोचने लगीं - 'जिनका चरणामृत सारे जगत का स्नापन नष्ट करता है हरि स्वयं ही सुदामा ब्राह्मण के चरण धो रहे हैं, कैसी अनोखी बात है !'

पर कृष्ण का ध्यान और किसी तरफ नहीं था वे तो सुदामा के पैरों को अपने हाथों में लिये हुए कह रहे थे :-

ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाथ महादुख पायो सखा तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दसा करुणा करिई करुणानिधि रोये,
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये।

कृष्ण ने स्वयं ही मित्र के पैरों में लगे हुए काँटे निकाले और फटी हुई बिंबाड़ियों को देखकर व्याकुल होते हुए बोले -- 'हाय मित्र! तुमने कितना दुख उठाया है ? पर इससे पहले ही यहाँ क्यों न आ गए ! इतने दिन कहाँ बिता दिये ?'

कवि का कथन है कि मित्र की दीन-दशा देखकर करुणा के सागर कृष्ण इतना रोए कि उनके नेत्र जल से ही सुजमा के पैर धुल गये। पानी से भरी हुई परात को तो हाथ लगाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी।

मित्रता का कैसा ज्वलन्त उदाहरण है ? जहाँ संकेत मात्र से ही सारे काम बात की बात में हो सकते थे, वहाँ कृष्ण ने स्वयं ही अपने अभिन्न मित्र की सेवा शुश्रूषा की। इसके अलावा भी कोरी आवभगत या दिखावटी प्रेम ही नहीं दर्शाया वरन् उनके सारे संकट भी दूर कर दिये। विश्वकर्मा के द्वारा द्वारिका के समान ही उन्होंने सुदामापुरी का निर्माण करा दिया और सुदामा को इसका पता ही नहीं लगने दिया।

परिणाम यह हुआ कि सुदामा जब अपने गाँव वापिस लौटे तो उन्हें न

गाँव का ही पता चला और न ही अपनी झोंपड़ी मिली। बेचारे सारे गाँव में ढूँढ़ते फिरे और तब परेशान होकर नगर के व्यक्तियों से बोले -

देवनगर के यच्छपुर, हों भट को निकत आय ?
नाम कहा यहि नगर को सो न कह्यो समुझाय ॥
सो न कहौ समुघाय नगर वासी तूम कैसे ?
पथिक जहाँ सँभ्रमहिं, तहाँ के लगे अनैसे ॥

सुदामा नगर निवासियों से पूछते हैं - 'अरे मुझे कोई बताओ तो सही कि मैं देव-नगर या राक्षस पुरी में कहाँ भटक गया हूँ। इस नगर का नाम क्या है? तुम कैसे नगरवासी हो जो भूले हुए पथिक के भ्रम का निवारण भी नहीं करते।'।

आखिर जब लोगों ने उन्हें अपने महल के द्वार पर पहुँचाया और उनके आने का समाचार पाते ही राजरानियों के समान सुशोभित ब्राह्मणी अपने पति को प्रिय सम्बोधन सहित अन्दर लिवा जाने को उद्यत हुई तो फिर सुदामा आग-बबूला होकर बोल पड़े :-

हमैं कंत तुम जानि कहौ, बोलो बचन सँभारि।
इन्हें कुटी मेरी हती, होन बापुटी नार ॥

सदाचारी ब्राह्मण रानी बनी हुई पत्नी को पहचान नहीं सके और उसे फटकारते हुए बोले - 'ऐ! तुम मुझे अपना कंत मत कहो, जबान सम्भालकर बात करो। यहाँ पर मेरी कुटिया थी और बिचारी दीन-हीन मेरी पत्नी! वह कहाँ है ?

प्रसंग अत्यन्त मनोरंजक है और मनोरंजन के उद्देश्य से ही कृष्ण ने सुदामा को कानों कान खबर दिये बिना यह सब किया था। बाल्यावस्था में रही उनकी परिहास-वृत्ति द्वारिकानाथ बन जाने पर भी गई वहीं थी।

शान्तिदूत श्रीकृष्ण

कृष्ण की प्रतिभा बहुमुखी थी। कभी अगर वे सुदामा जैसे अपने मित्र के साथ परिहास पर उतर आते थे, तो कभी शान्ति के दूत भी बनते थे।

महाभारत के युद्ध से पहले मयानवत संग्राम न छिड़ जाय और घोर नर-संहार न हो, इसलिये वे पौंडवों की ओर से पाण्डवों को, अर्थात् दुर्योधन को समझाने के लिये गए थे। द्वारिका के राजा होने गर भी वे एक दूत का कार्य करने के लिये तैयार हो गये। यह उनकी शान्ति-प्रियता का कितना उत्तम उदाहरण है।

दुर्योधन के पास जाकर उन्होंने शान्ति पूर्ण और मर्यादित शब्दों में केवल यही कहा - 'दुर्योधन! भले ही तुम साक राज्य अपने पास रखो किन्तु पाण्डवों को पाँच गाँव मात्र दे दो। वे लोग उसमें ही अपना निर्वाह कर लेंगे। आखिर

वे भी राजपुत्र और क्षत्रिय हैं औरों के यहाँ जाकर भिक्षा मांगने से तो रहे। इसलिये मेरी बात मानकर यह आपसी कलह आपस में ही शांतिपूर्वक निपटा लो।”

परन्तु जिसके मस्तक पर काल मंडरा रहा हो उसे सुबुद्धि कैसे आ सकती है? भाई विभीषण और पति-परायणा मंदोदरी आदि अनेक हित जनों के समझाने पर भी जिस प्रकार रावण नहीं माना था। उसी प्रकार शांति-दूत श्रीकृष्ण, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा आचार्य द्रोण आदि सभी गुरुजनों के समझाने पर भी दुर्योधन टस से मस नहीं हुआ। उलटे अहंकार पूर्वक श्री कृष्ण का तिरस्कार करते हुए बोला -

सुई अग्र पै ऐति, नहिं देऊ भूमि कहो केति।

पाण्डव यह कौन विचारे, मत कठिन वचन उच्चारै।

नहीं राजनीति पहचानो, दही दूध भुराना जानो,

हो बोर चराने वाले, मत कठिन वचन उच्चारै।

दुर्योधन का उत्तर था - मैं तो सुई की नोक के बराबर जमीन भी किसी को नहीं दे सकता। पौंड्रों की तो बिसात। ही क्या है? इसके अलावा तुम तो दूध-दही चुराते और पशुओं को चराते रहे हो, राजनीति की बातें भला तुम कैसे जान सकते हो? अतः व्यर्थ मैं ऐसी बात कहने से क्या लाभ? आईदा इस प्रकार के वचन मत कहना।

दुर्योधन से कोरा उत्तर पाकर कृष्ण लौटे पर फिर सारी जिम्मेदारी एक तरह से उन्होंने ही ली। कृष्ण की सहायता से ही पौंड्रों ने महाभारत के युद्ध में विजय प्राप्त की। आप जानते ही होंगे कि समय-समय पर उन्होंने कितने प्रयत्न और चतुराई से परिस्थितियों को अनुकूल बनाया था।

गीता का जन्म

जब युद्ध का प्रारम्भ होने को था, अर्जुन ने विपक्षियों में सब अपने ही सम्बन्धियों और गुरुजनों को देखकर अत्यन्त कातरता पूर्वक हथियार डाल दिये और युद्ध न करने का इरादा कर लिया। किन्तु श्रीकृष्ण ने यह देखकर कि इससे सदा के लिए अनीति की विजय हो जाएगी, अर्जुन को नाना प्रकार से समझाया। उनका यह प्रयत्न भी आज हमारे समक्ष गीता के रूप में संकलित है।

गीता को धर्म का महान ग्रन्थ माना जाता है, क्योंकि उसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति, इन तीनों योगों का न्याययुक्त त्रैवेचन है। महर्षि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने उसकी प्रशस्ति में कहा है :-

“गीता वह तैलजन्य दीपक है जो अनन्तकाल तक हमारे ज्ञान-मन्दिर में प्रकाश करता रहेगा।”

वास्तव में ही गीता जबानी जमाखाने की पुस्तक नहीं, वरन् आचरण-ग्रन्थ

है। अर्जुन को उसमें अपना कर्तव्य करते जाने का उपदेश दिया गया है तथा कहा गया है कि उसके फल की परवाह मत करो। मनुष्य को अपना कर्तव्य कर्म करते जाना चाहिए उसके फल से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। उदाहरणस्वरूप एक श्लोक है :-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति फलैः॥

— श्रीकृष्ण (गीता)

फल की इच्छा छोड़कर निरन्तर कर्तव्य-कर्म करो। जो फल की अभिलाषा छोड़कर कर्म करते हैं उन्हें मोक्ष-पद अवश्य प्राप्त होता है।

तो मेरे कहने का आशय यही है कि महाभारत का युद्ध सम्पूर्ण रूप से कृष्ण की सहायता के बल पर ही जीता गया था। युद्ध के दौरान उन्होंने अनेक प्रसंगों पर पाण्डवों का अभूतपूर्व मार्गदर्शन किया। तथा उसके परिणामस्वरूप उन्हें विजय प्राप्त हुई। वैसे भी कृष्ण वायुदेव थे और शास्त्रों में बताया गया है कि वायुदेव अगर अपने जीवन में तीन सौ साठ संग्राम करे तो भी कभी उसकी हार नहीं होती।

गुण-ग्राहिता

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में बाल्यवत्तल से ही उत्तम कार्य किये थे। अनीति का नाश, अन्याय का प्रतिकार, अबलाओं को रक्षा और दीन-दरिद्रों का भरण-पोषण यही सब उनके कार्य थे। अपने भक्तों के लिए तो वे अपने समस्त कार्यों को त्याग कर अविलम्ब दौड़ पड़ते थे। भक्तों की भक्ति और गुणों का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींच ही लेता था। महाकवि सूरदास के शब्दों में उनका अर्जुन से कहना था :-

हम भक्तन के, भक्त हमारे।

मुनु अर्जुन परितग्या मेरी, यह व्रत दगत न टारे॥

भक्त काज लाज हिय धारिकै, पोंई पिछादे धाऊँ।

जहँ जहँ भीर परे भक्तन पै, तहँ तहँ जइ छुड़ाऊँ॥

जो मम भक्त सों बैर करत है, सो निज बैरी मेरे।

देखि बिचारि भक्त हित कारण, हौकत हों रथ तेरो॥

कहते हैं - 'अर्जुन! भक्त मेरे हैं और मैं भक्तों का हूँ। यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है कि मैं अपने भक्तों के संकट का निवारण करूँगा। इसीलिये जहाँ-जहाँ भी उन पर मुसीबत आती है मैं नंगे पैर दौड़ा जाता हूँ, और उन्हें दुख से मुक्ति दिलाता हूँ। मेरे भक्त का जो दुश्मन होता है वह मेरा भी दुश्मन बन जाता है। देख! इसीलिये मैं आज इस युद्ध में सारथी बनाकर तेरा रथ हौक रहा हूँ।'

श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता तथा पर-दुःखनिवारण की भावना बड़ी जबर्दस्त थी। इसका कारण यही था कि वे प्रत्येक प्राणी के गुणों पर ही दृष्टिपात करते थे। अवगुणों की ओर देखना उनके स्वभाव में ही नहीं था।

एक बार वे दल-बल सहित राजमार्ग से गुजर रहे थे। हजारों व्यक्ति उनके साथ थे। लोगों ने देखा कि उस सड़क के एक किनारे, मरी हुई कुतिया पड़ी थी। उसके शरीर से भयानक दुर्गन्ध आ रही थी।

लोगों ने उसे देखकर नाक-भों सिवाँड़े और असह्य दुर्गन्ध के कारण दूर भागने लगे। किन्तु श्रीकृष्ण की दृष्टि जब उस पर पड़ी तो वे बड़ी शान्ति से बोले -

“अहो, इसके दाँत कितने सुन्दर हैं?”

कहने का अभिप्राय यही है कि श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष ने एक मरी हुई दुर्गन्ध-युक्त कुतिया को देखकर भी उसकी निन्दा नहीं की तथा सड़क की सफाई करने वालों पर क्रुद्ध नहीं हुए। अन्यथा किसी और राजा की सवारी निकलते वक्त अगर ऐसा कुसंयोग बन जाता तो बेचारे हस्तिानों की तो शायद प्राणों पर ही बन जाती। किन्तु कृष्ण सच्चे महापुरुष थे तथा अपने मन और वाणी पर पूर्णतया काबू रखते थे। इसलिये ही उन्हें गोपाल भी कहा जाता था। आपसे मेरी यह बात सुनकर अटपटी लगी होगी कि गोपाल शब्द का वाणी से क्या सम्बन्ध है? अतः मैं आपकी उलझन मिटाने का प्रयत्न करता हूँ।

गोपाल का अर्थ

गोपाल का साधारण तथा व्यावहारिक अर्थ माना जाता है गायों को पालने वाला और उन्हें चराने वाला। पर गोपाल का वास्तविक अर्थ है :-

“गां पालयति इति गोपालः।”

‘गो’ शब्द के दो अर्थ हैं। इसका पहला अर्थ है प्राणी और दूसरा अर्थ वाणी होता है। तो जो वाणी को अपने काबू में रखे वह गोपाल कहलाता है।

श्रीकृष्ण ने सदा वाणी पर संयम रखा था जैसे कि एक-दो उदाहरण मैंने आपको अभी बताए हैं - वे जब दूत बनकर दुर्योधन के पास गए तब उसकी कटुक्तियों सुनकर उत्तेजित नहीं हुए तथा सड़क पर तेज दुर्गन्ध फैलाने वाली कुतिया को देखकर भी क्रुद्ध नहीं हुए। न उन्होंने क्रोध ही किया और न ही दुर्योधन जैसे अहंकारी की निन्दा ही की। अपनी वाणी को इस प्रकार काबू में रखने वाले उत्तम पुरुष को गोपाल क्यों नहीं कहा जाएगा?

आध्यात्मिक दृष्टि से गोपाल का और भी अर्थ बताया गया है :-

“परापवादशस्येभ्यो, गां ज्ञांती निवारय।”

अर्थात् दूसरों के अपवाद रूपी धान्य को चरने वाली वाणी रूपी गाय को हटा दो।

दूसरों को अपशब्द कहना, अपवाद में निन्दा करना एक प्रकार का धान्य कहा गया है। शस्य का अर्थ धान्य ही होता है। तो निन्दा तथा अपवाद रूपी धान्य को वाणी रूपी गाय न चरे मनुष्य को। यही प्रयत्न करना चाहिए ऐसी शिक्षा आचार्य ने दी है। यानी, औरों को कटु और अपशब्द मत कहो तथा किसी की निन्दा मत करो। बन सके तो गुण ग्रहण करो अन्यथा मौन रहो। पराई निन्दा और विकथा में वाणी का दुरुपयोग करना मनुष्य की बड़ी भारी भूल है।

उसे सदा ध्यान रखना चाहिए कि जब वह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका अथवा अन्य किसी भी प्राणी की निन्दा करने के लिए या उसके दोष-दर्शन के लिए अपनी तर्जनी अंगुलि बताता है तो बाकी तीन अंगुलियाँ स्वयं उसकी अपनी ही तरफ संकेत करती हैं। वे कहती हैं - कृपों की अपेक्षा स्वयं तुम्हारे में अधिक अवगुण हैं, अधिक दोष हैं।

इसलिए बन्धुओ, हमें कभी भी औरों की ओर अंगुलि नहीं उठानी चाहिए तथा अपनी वाणी-रूपी गाय को पूर्ण रूप से अपने काबू में रखना चाहिए। अन्यथा वह एक गलियार गाय के समान इधर-उधर मारती हुई फिरेगी और तुम्हें नित्य-प्रति उलाहने सुनने पड़ेंगे। सन्त तुकाराम जी ने भी कहा है :-

“ओढालाच्या संगे सोत्वेक नाडले।”

अर्थात् ओढाल यानी हराम का खाने वाले जानवर के मालिक को उपात्मन्य सुनने पड़ते हैं। भले ही मालिक निर्दोष है, उसके हृदय में औरों का नुकसान कराने की भावना नहीं है पर उसका जानवर अगर ओढाल हो जाता है, गले में लकड़ी और पैरों में रस्सी बाँध देने पर भी उसे तोड़-तोड़कर दूसरे के खेतों में घुसकर धान्य खाता है तो उसे लोगों के उलाहने सुनने पड़ते हैं।

इसीलिये सन्त ने कहा है कि अपनी वाणी रूपी गाय को अपने वश में रखो, उसे इधर-उधर औरों की निन्दा और अपवाद रूप धान्य को मत चरने दो। अन्यथा लोग तुम्हें बुरा-भला कहेंगे। सिक्खों के धर्म-ग्रन्थ में कहा भी है :-

जित बोलिये पति पाईए, सो बोल्या परवाण।

किक्का बोला बिगुञ्चणा, सुन मूर्खमन अजान॥

अर्थात् ऐसी वाणी ही बोलने योग्य है, जिससे मनुष्य सम्मान पाये। हे मूर्ख और अज्ञानी मन! कटोर भाषण करके अपमानित मत हो।

बुद्धिमान पुरुष इसीलिये सदा बहुत सोच-विचार कर बोलता है ताकि प्रथम उसके शब्दों से किसी को खेद न पहुँचे, दूसरे वह स्वयं अपमानित न हो। एक

उर्दू भाषा के कवि ने भी बड़ी सुन्दर बात कही है। उसने कहा है :-

फितरत को ना पसन्द है सख्खी जवान में।

पैदा हुई न इसलिए हड्डी जवान में॥

प्रकृति को स्वयं ही किसी की रुबान से कठोर शब्द निकलें यह पसन्द नहीं है, इसलिये ही उसके द्वारा जवान में हड्डी नहीं रखी गई। अर्थात् बिना हड्डी के वह जैसी कोमल है, वैसे ही शब्दों का उच्चारण करे।

हमारे धर्मशास्त्र और 'संत-मुनि' भी इसीलिये बार-बार कहते हैं कि 'सदा सोच-विचार कर बोलो! किसी का दिल टूखे ऐसी भाषा मत बोलो! तभी मनुष्य के लिए गोपाल शब्द का प्रयोग करना सार्थक होगा। जैसा कि कृष्ण को गोपाल कहना पूर्णतया सार्थक साबित हुआ था।

तो बन्धुओ, आज जन्माष्टमी है और हमने एक महापुरुष श्रीकृष्ण वासुदेव के कुछ गुणों का स्मरण किया है। किसी भी महापुरुष की जयन्ती या जन्म दिवस मनाना तभी सार्थक होता है जब कि मनुष्य उसके गुणों को स्मरण करने के साथ ही साथ उन्हें जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करे। तभी वह प्रतिवर्ष मानव के हृदय में नई चेतना तथा नवीन शक्ति का स्रोत बसा सकेगा।

● ● ●

[२६]

धर्म का ग्रहस्य

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो!

एक दिन मैंने एक संस्कृत के श्लोक का विवेचन करते हुए बताया था कि मनुष्य के पास मले ही ऐश्वर्य न हो, शारीरिक सौंदर्य न हो तथा शक्तिसम्पन्नता भी न हो, किन्तु अगर उसका हृदय सद्गुणों से भर हो और उसकी भावनाएँ धर्ममय हों तो उसे संसार का अधिक वैभवशाली गुरुष मानना चाहिये।

ऐसा क्यों? इसलिये कि धर्म के अन्दर ही समस्त कलाएँ सम्पूर्ण बल और असीम सुख निहित हैं। गौतमकुलक ग्रन्थ में एक गाथा है -

“सत्त्वा कला धम्मकला जिणाई।”

समस्त कलाओं को धर्म कला जीत लेती है।

शास्त्रों में पुरुषों की बहतर कलाओं का तथा स्त्री की चौसठ कलाओं का वर्णन मिलता है। किन्तु अगर पुरुष ने बहतर कलाएँ सीख लीं पर एक धर्म कला नहीं सीख पाई तो वे सभी कलाएँ निरर्थक मानी जाती हैं। धर्म कला के अभाव में उसकी अन्य सभी कलाएँ शून्यवत हो जाती हैं। धर्म कला अन्य समस्त कलाओं की शोभा है।

अनेक कलाओं के सीख लेने पर भी अगर एक मुख्य कला न सीखी जाये तो सब अन्य कलाएँ किस प्रकार नेरर्थक साबित हो जाती हैं, यह एक उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाती है।

तेरने की कला नहीं सीखी

एक प्रोफसर किसी विशाल पाट झाली नदी को पार करने के लिए एक नाव में बैठे और मल्लाह ने नाव को खेना प्रारंभ किया।

नाव थोड़ी दूर चल पाई थी कि प्रोफेसर साहब ने आसमान की ओर देखते हुए मल्लाह से प्रश्न किया -

“क्या तुम नक्षत्र विद्या जानते हो?”

“बाबूजी! मैं तो नक्षत्रों के नाम भी नहीं जानता।” मल्लाह ने नाव चलाते

हुए उत्तर दिया।

“प्रोफेसर साहब हैंस पड़े और बोले - ‘तब तो समझलो कि तुम्हारा चौथाई जीवन पानी में गया।’ मल्लाह चुप रहा।

थोड़ी देर बाद प्रोफेसर ने नाविक से दूसरा प्रश्न ठेकेया-।

“क्या तुम कुछ भी नहीं पढ़े हो?”।

“मैंने कुछ भी नहीं पढ़ा बाबू जी!”।

“तब तो तुम्हारा आधा जीवन पानी में गया झमझों!” प्रोफेसर ने तनिक तिरस्कारपूर्वक कहा। नाविक तब भी मौन ही रहा।

नाव चल रही थी पर प्रोफेसर सँ चुप नहीं रहा गया तो तीसरा प्रश्न फिर कर बैठे। नदी के किनारों पर खड़े हुए सुन्दर वृक्षों की ओर देखते हुए बोले।

क्या तुम वनस्पति विज्ञान के विषय में जानते हो?

नहीं बाबूजी! मैं तो केवल यह जानता हूँ कि नाव कैसे चलाई जाती है। मल्लाह बेचारा सब कलाओं के जानकार प्रोफेसर से और क्या कहता। सीधा-सा उत्तर दे दिया।

पर उसका उत्तर सुनकर प्रोफेसर ठहाका मारकर हैंस पड़े और बोले - भाई! तब तो तुम्हारे जीवन का तीन चौथाई भाग पानी में चल गया। मल्लाह ने अपने जीवन के इतने बड़े भाग के पानी में चले जाने की बात सुनकर भी कोई चिन्ता नहीं की, चुपचाप पतवार चलाता रहा।

संयोगवश अकस्मात् भयानक आँधी चल पड़ी और नदी में बड़ी बड़ी लहरें उठने लगीं। नाव बुरी तरह डगमगाने लगी और उसमें पानी भर गया। मल्लाह ने अपने दोनों हाथोंसे पानी उलीचने का प्रयत्न किया पर असफल रहा। क्योंकि ज्योंही तेज हिलोरे आती, पानी पुनः भर जाता। आखिर जब उसे नाव डूब जाने का खतरा दिखाई दिया तो वह नाव से कूद पड़ा और तैरने लगा। प्रोफेसर के होश फाख्ता हो गए, पर करते क्या? शोरगुल मचाते रहे।

नाविक ने तैरते-तैरते उनसे पूछा - “बाबूजी! आपने मुझसे कई प्रश्न पूछ लिए अब मैं भी आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। बताईये - आप तैरना जानते हैं या नहीं?”।

भयाकुल प्रोफेसर ने उत्तर दिया - “अरे भाई! अगर मैं तैरना जानता तो तुम्हारे साथ ही कूदकर तैरने नहीं लगता क्या!”।

“तो समझिये कि आपकी सारी उम्र पानी में गई”। नाविक ने उत्तर दिया और इसके साथ ही प्रोफेसर साहब जल मग्न हो गए।

धर्म कला की महत्ता।

उदाहरण का आशय यही है कि अनेक कलाएँ सीखकर और अनेकानेक पुस्तकें पढ़कर भी अगर मानव भव-सागर से तैरने की आध्यात्मिक विद्या या धर्मकला न सीखे तो उसकी सीखी हुई अन्य समस्त कलाएँ व्यर्थ हैं।

जिस प्रकार एक बहन अनेक प्रकार के व्यंजन बनाए पर उनमें नमक न डाले तो समस्त खाद्य पदार्थ फीके और नीरस लगते हैं, उसी प्रकार मनुष्य काव्यकला, नृत्यकला, संगीतकला, शिल्पकला, चित्रकला तथा शास्त्र-कला आदि अनेकानेक विभिन्न कलाएँ सीखे तो उसकी समस्त सीखी हुई कलाएँ फीकी और निरससार साबित होती हैं।

गाथा का दुसरा चरण है:-

“सखा कहा धम्मकहा जिणाइ।”।

- सभी कथाओं को एक धर्मकथा जीत लेती है।

हमारे ठाणंग सूत्र में कथाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं - स्त्री कथा, भक्त कथा, देशकथा और राजकथा। प्रत्येक कथा के विभाग हैं, जिनका शास्त्र में विस्तृत विवेचन है। पर हमें यहाँ अधिक विस्तार नहीं करना है। यही कहना है कि आजकल जहाँ व्यक्ति एक से अधिक इकट्ठे होते हैं वहाँ जमीन और आसमान के कुलाबे मिला देते हैं।

विकथाओं की व्यर्थता

लोग स्त्रियों के बारे में, पुरुषों के बारे में, देश और सरकार के बारे में, राजनीति और युद्धों के बारे में तथा चन्द्रलोक और मंगललोक के बारे में, न जाने कितनी बातें और कितने वाद-विवाद करते हैं। कभी-कभी तो हाथापाई की नौबत भी आ जाती है। पर मैं पूछता हूँ कि आखिर उससे क्या लाभ होता है? क्या उनके हृदय में सद्गुणों की संख्या बढ़ती है? क्या दुनियाँ भर की गप्पें हँकने से उनके कर्मों की निर्जरा होती है? क्या उनकी आत्मा पर-पदार्थों से विरक्त होकर अपने अन्दर झाँकती है? क्या उनके हृदयों में त्याग और तपस्या की भावना जागती है?

नहीं, यह सब कुछ भी नहीं होता। जीवन भर विकथाएँ करने पर भी उनकी आत्माएँ शुद्धता की ओर एक कदम भी नहीं बढ़तीं तथा उनका परिश्रम केवल पानी को मथने के समान व्यर्थ हो जाता है, जिसे अनन्त काल तक मथा जाय तो भी मक्खन की प्राप्ति नहीं होती।

धर्मकथा की सार्थकता

मानव को विचार करना चाहिए कि उस किस प्रकार जीवन का लाभ मिल

सकता है? अभी मैंने बताया ही है कि संसार के विभिन्न विषयों पर व्यर्थ वादविवाद करने से मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता। न ही कोई लाभ उपन्यास, कथाकहानी, नाटक या आजकल का घटिया जासूसी साहित्य पढ़ने से होता है। उल्टे लोगों का समय बरबाद होता है तथा उनके हृदयों में विकृत भावनाएँ जन्म लेती हैं।

इसकी अपेक्षा अगर महापुरुषों का जीवन-चरित्र पढ़े जायें, महान् संत मुनिवर और तीर्थकरों के गुणों का स्मरण किया जाय, तथा सद्गुरु के उपदेशों को कम मात्रा में भी श्रवण किया जाय तो आत्मा को अधिक लाभ होता है। सद्गुरु प्रदत्त धर्मोपदेश की महत्ता के विषय में क्या कहूँ? एक दिन मैंने बताया भी था -

एक वचन जो सद्गुरु केरो, जो राखे दिल मांय रे प्राणी।

नीच गति में ते नहीं जावे, इह भाखे जिनराय रे प्राणी।

अर्थात् - सद्गुरु के कहे हुए वचनों में से एक भी वचन हृदय में धारण कर लिया जाय तो आत्मा उसके सहारे से इतनी शुद्ध और निर्मल बन सकती है कि उसको नीच गति में कभी नहीं जाना पड़ता।

केवल तीन वाक्यों से मुक्ति

शास्त्रों में रोहिण्य चोर का वर्णन आता है कि उसने भगवान के केवल तीन वाक्य सुने और उनके परिणामस्वरूप उसकी जीवन-दशा बदल गई। जहाँ उसका जीवन अनन्त जन्मों की वृद्धि की ओर जा रहा था, वहाँ वह अनन्त जन्मों के नाश की घोर घूम गया।

रोहिण्य का चौर्य-व्यवसाय कुल-परम्परागत था। अतः स्पष्ट है कि उसका पिता भी चोर था। जब वह मरने लगा तो उसने रोहिण्य को अपने पास बुलाकर दो बातें सदा स्मरण रखने का आदेश दिया। उसकी पहली बात थी, चोरी घन्धे को कभी मत छोड़ना और दूसरी थी - संतों के पास नहीं जाना और न ही कभी उनका उपदेश सुनना।

नसीहतें दोनों ही उलटी थीं, पर पुत्र ने उन्हें गाँठ बाँध लिया कि मेरे पिता की दी हुई हैं अतः इनका पूर्ण रूप से पालन करूँगा। अनेक पुत्र ऐसे ही होते हैं। वे कहते हैं :

“ततस्य कूपोऽयमितिब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरूषाः पिबन्ति।”

अर्थात् - मेरे पिता ने कूआँ खुदवाया है अतः इसीका पानी पीऊँगा। लोग समझाते हैं - “अरे भाई! तेरे पिता ने इसे खुदवाया है तो क्या हुआ? पानी तो इसका खारा है। अतः अपनी जिद छोड़कर दूसरे कूएँ का मीठा जल क्यों नहीं पीता?”

पर पुत्र है कि यही उत्तर देता है - “पानी तो मैं इसी कूएँ का पीऊँगा।”

इसी तरह रोहिण्य चोर ने भी अपने पिता की कुशिक्षाओं को दृढ़ता से पकड़ लिया। चोरी करना भी तो खारा पानी पीने के समान ही था पर पिता की आज्ञा होने के कारण उसने चोरी करना नहीं छोड़ा और पक्का चोर बन गया।

एक बार भगवान महावीर प्रभु उस नगर में पधारे तथा नगर के बाहर बगीचे में ठहरे। प्रतिदिन प्रातःकाल उनका धर्मोपदेश होता था। हजारों व्यक्ति उसे सुनने के लिये आते थे।

संयोगवश रोहिण्य चोर एक दिन उधर से गुजरा। उसे मालूम था कि यहाँ भगवान महावीर का उपदेश हो रहा है। अतः उसने अपने कानों में अंगुलियाँ डाल लीं कि कहीं उपदेश के शब्द कानों में पड़ गए तो पिता की आज्ञा का उल्लंघन हो जाएगा।

पर होनहार बलवान होती है, जल्दी-जल्दी चलने के कारण रोहिण्य के पैर में कौंटा लग गया। अब क्या करे? कौंटा नहीं निकाले तो आगे बढ़ा नहीं जाता और कौंटा निकालने के लिये कानों में से अंगुलियाँ निकालनी पड़ती हैं। बेचारा बड़े धर्म संकट में पड़ गया। पर पिता की आज्ञा से भी शरीर का सुख तो मूल्यवान होता ही है, उसने कानों में से अंगुलियाँ निकाली और कौंटा निकालने का प्रयत्न किया।

इसी बीच भगवान के उपदेश की तीन बातें उसके कानों में पड़ती गई कि - 'देवता के चरण जमीन पर नहीं लगते, उनकी आँखें नहीं टिमटिमाती और उनकी छाया जमीन पर नहीं पड़ती।'

रोहिण्य ने सोचा - मैंने जानबूझ कर तो पिता की आज्ञा का लोप किया नहीं है। मजबूरी से तीन बातें सुनी पड़ गईं तो उन्हें याद ही करूँ। क्या हर्ज है?' ऐसा विचार कर उसने देवता के तीनों लक्षण अच्छी तरह याद कर लिए।

इधर राजा श्रेणिक ने नगर में चोरियाँ बहुत होती देखकर अपने बुद्धिमान मन्त्री अभयकुमार को चोरों को पकड़ने का आदेश दिया। अभयकुमार ने अपने गुप्तचरों से यह जाना कि चोर चोरी करके नगर से बाहर अमुक देवी के मन्दिर में इकट्ठे होते हैं और चोरी का माल बाँटते हैं।

इस जानकारी के प्राप्त होने पर उन्होंने स्वयं ही स्त्री का वेश बनाया और देवी के मन्दिर में छिपकर बैठ गए। अर्धरात्रि व्यतीत होने पर प्रतिदिन की तरह चोर आए और बोले - 'देवी माता, आज आपकी कृपा से खूब माल मिला है।'

चोरों की बात सुनकर देवी वेश-धारी अभयकुमार बोले -

“आज मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ।”

चोर यह समझकर कि आज तो देवी साक्षात् दर्शन दे रही हैं, बोल रही

हैं, खूब प्रसन्न हुए तथा मारे खुशी के असावधान हो गये।

मौका पाकर स्त्री वेश-धारी अभ्याकुमार बाहर जाने को हुए कि बाहर घेरा डाले हुए सिपाहियों से चोरों को पकड़ना लूँ। इसी बीच रोहिण्य की दृष्टि देवी पर पड़ी। और उसे भगवान के बताए ऋषि देवताओं के तीनों लक्षण याद आ गए। उसने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि देवी जमीन पर चल रही हैं तथा उसकी छाया भी पड़ रही है।

यह देखते ही उसे सन्देह हो गया की देवी सच्ची नहीं है और चोरों को पकड़ने के लिए जाल बिछाया गया है। यह फौरन अपने स्थान से उठा और किसी तरह से बाहर निकल कर भाग गया। इधर बाकी के सारे चोर जो कि देवी के साक्षात् दर्शन से और भी बेफिक्र हो गए थे, प्रकड़ लिए गए।

इस घटना का रोहिण्य पर बड़ी भारी प्रभाव पड़ा। उसने सोचा - "मजबूरी से सुने गए भगवान के तीन वाक्यों ने आज मुझे मृत्यु के मुँह से बचा लिया। तो अगर मैं स्वेच्छा और श्रद्धापूर्वक भगवान का उपदेश सुनूँ तो न जाने कितना लाभ होगा।"

इस विचार ने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी और भगवान की शरण लेकर उसने अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक किया।

यह उदाहरण हमें बताता है कि बिना श्रद्धा से सुने हुए सद्गुरु के वन्द वचनों से भी जब मनुष्य महा संकट से बच सकता है तो फिर श्रद्धापूर्वक सुने गए धर्मोपदेश से अनन्त जन्म-मरण से क्यों नहीं बचेगा ?

शेखसादी ने भी कहा है :-

मर्द बामद कि गोरद अन्दर गोड़ा, पर नाविश्वात पन्द बर दीवार।

— मनुष्य को चाहिए कि धर्मोपदेश अगर दीवार पर लिखा हुआ मिल जाय, तो भी उसे ग्रहण करे।

तो बन्धुओं, मैं आपको यह बता रहा था कि एक धर्म कथा समस्त विकथाओं को जीत लेती है। अर्थात्-मनुष्य कितने भी विकथाएँ करे, बे-सीर पैर की हँकें, उससे उसे कोई भी लाभ नहीं होता किन्तु धर्म कथा, शास्त्र श्रवण और धर्मसम्बन्धी चर्चा अगर अत्यन्त थोड़ी मात्रा में भी करे तो उसका जीवन उन्नत हो सकता है।

इसलिये हमें सदा इनमें रुचि रखनी चाहिए। यही भव्य जीवोंका प्रथम लक्षण होता है। अन्यथा तो कहा जाता है :-

नहिं जानत जेह निजनाम रूप रता पर द्रव्य चले विरुधा।

घट जोर मिथ्या ज्वर को तिह से सब दूर भई निज धर्म दुधा।।

मन लीन परिग्रह आरम्भ में प्रभुः प्रीति न धारत भेद दुधा।
जु अमीरिख जीव अभव्य हुवे किनको न रुचे जिनवेन सुधा॥

देखिये क्या कह गया है? कहा है — जो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप को नहीं पहचानते तथा पर-पदार्थों में आसक्त बने रहकर आत्मा के विरुद्ध जाते हैं। जिनको मिथ्यात्व का ज्वर बना रहता है। तथा धर्मरूपी भूख नहीं होती। और जिनका मन आरम्भ परिग्रह का लोलुपी होने के कारण प्रभु के वचनों को ग्रहण नहीं करता ऐसे अभव्य प्राणियों को जिनवाणी रूपी अमृत नहीं रुचता।

इसलिये हमें अभव्य साबित नहीं होना है, तथा व्यर्थ की विकथाओं का त्याग करके धर्म-कथा में रुचि बढ़ाना है।

गौतम कुलक ग्रन्थ की जिस गाथा का हम विवेचन कर रहे हैं, उसका तीसरा चरण है —

“सत्त्वं बलं धम्मबलं किंणई।”

— धर्मबल समस्त बलों को जीत लेता है।

अर्थात् — किसी व्यक्ति के पास भले ही धन का बल हो, विद्या का बल हो, सौन्दर्य का बल और शारीरिक बल भी हो, किन्तु धर्म का बल न हो तो ये सभी बल अपना कोई महत्त्व नहीं रखते तथा इसके विपरीत किसी मनुष्य में इन सब बलों का आभाव हो पर एक धर्म का बल हो तो वह सारे संसार को अपने वश में कर सकता है।

धर्म का बल आत्मा के अन्दर से निरूपित होता है अतः वह समस्त बाह्य बलों की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक शक्तिशाली साबित होता है। उसका मुकाबला संसार की अन्य कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। श्री शुभचन्द्राचार्य ने भी धर्म की अनन्त शक्ति का समर्थन करते हुए कहा है :-

निःशेषं धर्म-सामर्थ्यं न सम्यग् वक्तुमीश्वरः।”

धर्म की सम्पूर्ण शक्ति का सम्यक् प्रकार से वर्णन करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है।

वस्तुतः धर्म ही वह प्रबलतम और अर्घ्य शक्ति है, जिसके बल से जन्म, जरा और मृत्यु के दुखों का नाश किया जा सकता है। व्यक्ति में अगर धर्म का बल हो तो कोई भी अन्य सत्ताधारी उसे झुका नहीं सकता।

कौशलराज का धर्म

कहा जाता है कि कौशल देश के प्रजा बड़े ही धर्मात्मा और दानवीर थे। उनकी दान-शीलता की प्रसिद्धि चारों तरफ फैल गई थी। दूर-दूर से अभावग्रस्त व्यक्ति आते और सन्तुष्ट होकर लौटते थे।

कौशल राज की यह बढ़ती हुई कीर्ति काशी के महाराज से सहन नहीं हुई और उन्होंने कौशल पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में कौशलराज हार गए और वे जंगल की ओर भाग गए।

कौशलराज की हार से लोगों में हाहाकार मच गया। और सब काशीराज को कोसने लगे। काशीराज को यह सुन-सुनकर और भी क्रोध आया, तथा उन्होंने दिंदोरा पिटवा दिया कि जो व्यक्ति कौशलराज को जीवित अथवा मृत पकड़कर लाएगा उसे एक हजार अश्विनी इनाम दी जाएंगी।

उधर कौशलराज जंगल-जंगल में फटेहाल फिर रहे थे। एक दिन एक दरिद्र वणिक ने उनसे कौशल का सस्ता पूछा।

राजा ने कहा — “उस अभाग्य देश में क्यों जा रहे हो भाई? वणिक ने राजा को बिना पहचाने अपनी धन-हानि और दुर्दशा की कहानी सुना दी।

सुनकर राजा के नेत्र सजल हो गए। कुछ क्षणों तक तो वे चुपचाप सोचते रहे। उसके पश्चात् वणिक से बोले — “चलो, तुम्हारी मनोकामनापूर्ति का मार्ग बताऊँ।”

जटाजूट बढ़ाए और फटे कपड़े पहने हुए कौशलराज उस वणिक को लेकर काशीराज के दरबार में पहुँचे। और बोले — “काशीराज! मैं ही कौशल का भूतपूर्व राजा हूँ। मुझे पकड़कर लाने वाले के लिए आपने जो इनाम घोषित किया है वह मेरे इस साथी को प्रदान करें तथा मुझे पकड़ने की आज्ञा अपने सिपाहियों को दें।”

सारी सभा में सन्नटा छा गया और काशी के महाराजा कौशलराज की ऐसी उदारता देख कर दंग रह गए। कुछ क्षण स्तब्ध रहने के बाद वे शान्तिपूर्वक बोले - “कौशलराज! लोग तुम्हें जितना उदार और धर्मात्मा मानते हैं, तुम उससे भी अनेक गुना अधिक हो। धन्य है तुम्हें। मैं तुम्हें तुम्हारा सम्पूर्ण राज्य आदरपूर्वक लौटाता हूँ, साथ ही अपना हृदय भी देता हूँ। अब इसी सिंहासन पर बैठकर इस वणिक को जितना चाहें धन प्रदान करें।

बन्धुओ, यह शक्ति किसकी थी? धर्म की ही न? अन्यथा कौशलराज के पास क्या था? न राज्य, न सत्ता, न धन और न सैन्यबल ही था। केवल आत्मबल और दूसरे शब्दों में जिसे धर्मबल कहा जाता है वही बचा था। काशीराज चाहता तो निहत्थे और निर्बल कौशलराज को उसी क्षण मृत्यु के घाट उतरवा सकता था। किन्तु कौशलराज के धर्मबल के समक्ष उस समस्त बाह्य सत्ताधारी शासक को झुकना पड़ा।

हमारे शास्त्रों में भी ऐसे अनेक उदाहरण आते हैं, जिनमें धर्म पर दृढ़ रहने वाले सुदर्शन सेठ, अरण्यक श्रावक तथा कामदेव आदि श्रावकों के धर्मबल ने

देवताओं को भी परास्त किया। इसलिये हमें अपने धर्मबल को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

क्योंकि पूर्व-कृत पुण्यों के बल पर तो हमें मानव-पर्याय, उच्चकुल, आर्यक्षेत्र, परिपूर्ण इन्द्रियाँ तथा सन्त-समागम आदि समस्त उत्तम संयोग मिले हैं। पर अगर इस जीवन में धर्म नहीं कमाया तो डिब्बा गुरु ही रह जायगा तथा हम खाली रहकर यहां से प्रयाण कर जायेंगे। जो भव्य प्राणी इस बात को समझते हैं, वे चाहे सन्त हों या साध्वी, श्रावक हों या श्राविका पूर्णतया सावधान रहकर परलोक के लिये धर्म की पूँजी इकट्ठी करते हैं।

गाथा का अन्तिम चरण है :—

“सत्त्वं सुहं धम्मसुहं जिग्गाई।”

संसार के समस्त सुखों को धर्म-सुख जीत लेता है।

इसका भावार्थ यही है कि संसार के जितने भी सुख हैं उनसे बढ़कर धर्मसुख है। हम देखते हैं कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख-प्राप्ति की अभिलाषा रखता है तथा उसके लिए रात-दिन दौड़-धूप करता है। दुख सभी को अनिष्ट है, कोई भी उसे पसंद नहीं करता। पर फिर भी सुख की प्राप्ति नहीं है।

सुख मिलता क्यों नहीं है ?

अभी-अभी मैंने बताया है कि संसार का प्रत्येक प्राणी सुख-प्राप्ति की अभिलाषा से अहर्निश दौड़-भाग करता है, तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति इसी प्रयत्न में व्यय कर देता है।

फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि ज़ोरे भी अपने आपको सुखी अनुभव नहीं करता। किसी को धन का अभाव खटक रहा है। किसी को रोग सता रहा है। कोई पुत्र के अभाव में रो रहा है तो कोई व्यापार में घाटा लग जाने से बेचैन है। संक्षेप में चारों ओर दुख, शोक, जिन्ता, व्याधि तथा अशान्ति का ही वातावरण बना हुआ है।

यह सब देखकर मन में प्रश्न उठता है कि जब प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है और उसके लिए ही प्रयत्नशील रहता है तो फिर सुख मिलता क्यों नहीं ?

बात यह है कि मानव जिन पदार्थों और जिन संयोगों में सुख मानता है वह सुख नहीं, केवल सुखामास होता है। क्योंकि पर-पदार्थों का संयोग कुछ ही समय तक रह सकता है, उसके पश्चात् उसका क्रियोग अवश्यम्भावी है।

जो जीव परिवार में सुख की कामना करता है। पुत्र न होने पर विभिन्न देवी-देवताओं को भेंट चढ़ाता है, उसका पुत्र उत्पन्न होने पर अल्पायु में ही उसके देखते-देखते इस लोक से प्रयाण कर जाता है, अन्य सृजनों के संयोगों का भी यही हाल

है। इसके अलावा जिनका परिवार बृहत् होता है वहां भाई-भाई में, पिता-पुत्र में या देवरानी-जेठानी में कलह का सूतपात्र हो जाने से पारिवारिक सुख नष्ट हो जाता है।

कुछ लोग अतुल धन पा लेने को सुख पाना मानते हैं। पर वे भी भ्रम में रहते हैं। प्रथम तो धन का उपार्जन करने में ही नाना प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। दूसरे कदाचित् उपार्जन कर भी लिया तो उसकी रक्षा में खाना, पीना और सोना हराम हो जाता है। तीसरे धन का घर में अंबार लगा हो, तो भी मनुष्य रोग और मृत्यु से नहीं बच पाता। वह अपना समस्त धन देकर भी अपनी बीमारी किसी और से नहीं बदल सकता। फिर धन से कौनसा सुख हासिल हुआ?

सुन्दर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्य को देखकर भी फूले नहीं समाते किन्तु कहीं चेचक निकल आई तो? या फिर उनका सौन्दर्य कौन सा सुख प्रदान करता है?

अधिक कहीं तक कहा जाय? सांसारिक सुख के अन्य समस्त साधनों का यही हाल है। उनके संयोग से मानव जितना भी सुख हासिल करने का प्रयत्न करता है, उतना ही दुःखों का संचय होता जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है:-

भोगे रोगभयं कुले ज्युषेभयं विन्ते नृपालाद् भयम्।
माने दैन्यभयं बले त्रिभयं रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे उक्तभयं काये कृतान्ताद् भयम्।
सर्वं वस्तु भयान्वितं श्रुत्वा नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

अर्थात् — भोगों में रोग का भय होता है, कुल में अपमान का, धन में राजा का, अहंकार में दीनता का, बन्धु में दुश्मन का, रूप में वृद्धत्व का, शास्त्र में वादविवाद का, गुणों में दुर्जनों का तथा शरीर में सदा मृत्यु का भय होता है। इस प्रकार संसार में सभी वस्तुओं के साथ कोई न कोई भय लगा रहता है। केवल वैराग्य ही निर्भयता प्रदान करने वाला है।

बंधुओं, आप इस श्लोक से स्पष्ट समझ गए होंगे कि संसार के किसी पदार्थ या किसी सम्बन्ध में सुख नहीं है, केवल सुखाभास है, यानी झूठा और भ्रमपूर्ण सुख है। सच्चा सुख तो केवल इनसे विरक्त होकर धर्माचरण करने में ही है। भगवान के वचन भी हैं :-

— “कामे कमाहि! कमियं खु दुक्खं।”

हे जीव! कामनाओं को जीत ले, कुछ दूर हो जाएगा।

जब तक मनुष्य राग-द्वेष तथा कामनाओं का दास बना रहता है, वह नहीं

समझ पाता कि संसार के जितने भी पदार्थ हैं उनमें से एक या वे समस्त इकट्ठे होकर भी उसे दुखों से नहीं बचा सकते तथा सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं करा सकते।

सुख आत्मा का गुण है और आत्मा में ही रहा हुआ है। बाह्य पदार्थों में खोजने से वह नहीं मिल सकता। अगर हमें उसे प्राप्त करना है तो समस्त पर-पदार्थों पर से अपनी ममता हटानी होगी। जैसे-जैसे हमारी आत्मा पर-पदार्थों से विमुख होकर अपने स्वरूप में निष्ठ होती जाएगी, वैसे ही वैसे वह सच्चे सुख को प्राप्त करती जाएगी। भगवान् ने सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य और तप रूपी धर्म को मुक्ति का, अर्थात् शाश्वत सुख की प्राप्ति का मार्ग बताया है। जो व्यक्ति इस मार्ग की आराधना करेगा अर्थात् वीतराग-प्ररूपित धर्म का आचरण करेगा वही अनन्त सुख का अधिकारी बनेगा तथा सन्निवृत्त कर सकेगा कि —

“सर्वं सुहं धम्मसुहं लिणाई।”

धर्म-सुख सब सुखों में श्रेष्ठ है।

• • •

[२७]

सुनहरा शैशव

धर्मप्रेमी बन्धुओं, माताओं एवं बहनों!

शैशवकाल जीवन का सबसे मृदुलतम समय माना जाता है। शैशवावस्था में शिशु का हृदय पूर्णतया सरल, विशुद्ध, निष्कपट और निर्दोष होता है। शिशुओं का संसार अलौकिक, अद्भुत और अद्वितीय होता है इसीलिए बालक प्रकृति की अनमोल देन और सुन्दरतम कृति कही जाती है। कहा भी है —

“छोटे बच्चे तो भगवान की, परब्रह्मा की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं।

— साने गुरुजी

चतुर माली का कार्य

जिस प्रकार चतुर माली अपने बगीचे में लगाए पौधों की अत्यन्त सावधानी से काट-छोट तथा सफाई करते हुए उन्हें समय पर पानी पिलाता है तथा पशु पक्षियों के द्वारा नष्ट किये जाने से बचाता है। उसी प्रकार माता-पिता को अपने शिशु की देख-रेख करनी चाहिए। क्योंकि बालक के शैशवकाल में समस्त मानवीय सद्गुणों के अंकुर विद्यमान रहते हैं। अगर उनकी सावधानी से देख-रेख की जाय, दुर्गुणरूप कवरे को उसी समय साफ कर दिया जाय तथा नियमित रूप से उत्तम संस्कारों के जल से सिंचा जाय तो वे अंकुर अपने सुन्दर रूप में विकसित होते हैं।

पर इसके लिए आवश्यक है कि जिस प्रकार माली अपने उपवन की सार-संभाल के लिए स्वयं कड़ा परिश्रम करता है उसकी रक्षा में अपनी भूख प्यास और नींद को भी त्याग देता है, उसी प्रकार माता-पिता को भी अपने बालक को उत्तम गुणों से विभूषित करने के लिए मौज-शौक और अपने सुख-आराम की परवाह न करते हुए पूर्ण लगन के साथ उसके भविष्य निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए। और यह तभी हो सकता है, जबकि माता-पिता स्वयं गुणवान हों, सुसंस्कारी हों तथा दानआदि का आदर्श उपस्थित करें। बालक अपने माता-पिता को जैसा करते देखता है, स्वयं भी वैसा ही करने का प्रयत्न करता है। एक विद्वान का कथन भी है

“Children have more need of models than of critics.”

—जेबेरी

बच्चों को आलोचकों की अपेक्षा नमूनों की अधिक आवश्यकता है।]

आशय इसका यही है कि अगर हमें अपने बच्चों को सद्गुण सम्पन्न बनाना है तो उनके अज्ञानवश किये हुए गलत कार्य को निन्दा तथा आलोचना न करके तथा उन्हें कटु-वचनों के द्वारा तिरस्कृत न करके हुए स्वयं सही कार्य को करना है बालक अगर आपको सदा सत्य बोलते हुए देखेगा तो वह सच बोलेगा, हिंसा करते हुए नहीं देखेगा तो वह हिंसा की भावना भी मन में नहीं लाएगा। उसे यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि तुम प्रत्यक्ष बोलो और अहिंसा का पालन करो। बालक अपने माता-पिता अथवा अन्य बड़ों की नकल करते हुए ही शिक्षा ग्रहण करता है। वह पिता को पान खाते देखकर पान खाता है, ताश खेलते देखकर ताश खेलता है और सिगरेट पीते देखकर धीरे-धीरे सिगरेट पीना सीख जाता है।

पर इसके विपरीत अगर वह अपने घर में अतिथि-सत्कार होते हुए देखता है, माता-पिता को संत मुनिराजों के दर्शन करते और उपदेश श्रवण करते हुए पाता है तथा उनके द्वारा दान दिया जाता है इस बात का अनुभव करता है तो वह स्वयं भी निश्चय ही इन उत्तम गुणों और शुभ कार्यों में रुचि लेने लगता है।

मेरे घर चलो !

ऐवन्ताकुमार राजपुत्र थे। अपनी आठ वर्ष की बाल्यावस्था में एक दिन जब वे खेल-कूद में निमग्न थे, उन्होंने गौतम स्वामी को मार्ग पर से गुजरते देखा। उन्हें देखते ही वे अपना खेल छोड़कर भाग आए और गौतम स्वामी की अंगुलि पकड़ कर प्रश्नों की झड़ी लगा दी। पूछने लगे — “आप कौन हैं? कहाँ से आए हैं? क्यों इस प्रकार घूम रहे हैं, तथा एक घर से निकल कर दूसरे घर में किस लिए जाते हैं?”

सन्तों के लिए बच्चों को तिरस्कृत करने का तो सवाल ही नहीं है अतः गौतमस्वामी ने मंद-मंद मुस्कराते हुए ऐवन्ताकुमार के प्रश्नों का उत्तर दिया और बताया “हम साधु हैं, भिक्षा के लिए घूमते हैं। एक घर से आहार लेना हमारे लिए मना है अतः हम अनेक घरों में जाकर अपनी मर्यादा के अनुसार आहार व पानी लेते हैं।”

ऐवन्ताकुमार ने यह सब सुनकर परम प्रसन्नतापूर्वक अपनी स्वाभाविक सरलता के साथ कहा — “ओहो, कितने अच्छे हो आप? पर आहार-पानी के लिए इतना क्यों घूम रहे हो? मेरे घर चलो न! मेरी माँ बहुत अच्छी हैं। रोज बहुत से लोगों को भोजन कराती हैं, आपको भी खूब सारा दे देंगी और फिर आपको इतना घूमना नहीं पड़ेगा। चलो जल्दी! देर मत काँट, आपको भी भूख लग रही होगी न!”

गौतमस्वामी को आहार लेना ही था और फिर बच्चे का आग्रह कैसे टालते

वे राजमहल की तरफ चल दिये। पर आहार लेकर जब वे लौटे तो ऐवन्ताकुमार ने उनकी अंगुलि फिर पकड़ ली और साथ झलते हुए बोले —

“मैं भी भगवान के दर्शन करने चूँगा।”

“प्रसन्नतापूर्वक चलो वत्स!” कहते हुए गौतमस्वामी धीरे कदमों से अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़े। साधु का न जल्दी और न बहुत धीरे, मध्यम गति से ही चलना होता है।

पर बाल-सुलभ चपलता कैसी होती है? कुमार को नपे-तुले कदमों से धीरे धीरे चलना नहीं भाया और वे बग-बार गौतमस्वामी का हाथ खींचते हुए कहने लगे —

“जरा जल्दी-जल्दी चलो न! भगवान के दर्शन में देरी हो जाएगी।”

बाल्यावस्था वैसे ही सुन्दर होती है पर अगर वह उत्तम संस्कारों से युक्त हो तो और भी मनोमुग्धकारी बन जाती है। ऐवन्ताकुमार की अतिथि-सत्कार की भावना मुनिदर्शन की उत्सुकता और धर्मीय सरलता ने गौतमस्वामी के हृदय को गद्-गद् कर दिया। पर उनकी चाल जो आखिर वही थी। अतः ऐवन्ताकुमार यह कहते हुए — “तुम तो बहुत धीरे-धीरे चलोगे मैं तो भगवान के पास जल्दी चला जाता हूँ।” अंगुलि छोड़-छाड़कर सरपट दौड़े और चन्द्र मिनटों में ही भगवान महावीर के समक्ष जा खड़े हुए।

संत-दर्शन कभी निष्फल नहीं जाता। अपनी कुछ न कुछ छाप छोड़ता ही है। कबीर के शब्दों में —

कबिरा संगत साधुः ही, ज्यों गाँधी का बास।

जो कुछ गाँधी दे नहीं, तो भी बास सुवास।

अर्थात् साधु की संगति इत्र खँवने वाले गांधी की संगति के समान साबित होती है। जैसे गांधी से कोई कुछ न खरीदे और वह बिना कुछ दिये ही उठकर चला जाय, तो भी उसके पास रहे हुए इत्र की सुगन्ध वहाँ पर कुछ काल के लिए रह ही जाती है। इसी प्रकार व्यक्ति भले ही साधु के पास जाकर उनसे त्याग, नियमादि कुछ भी ग्रहण न करे फिर भी संत-दर्शन के कारण उसके मन में एक प्रकार का संतोष और प्रसन्नता की अनुभूति कुछ समय तक बनी रहती है।

तो मैं कह रहा था कि ऐवन्ताकुमार का भगवान महावीर स्वामी के दर्शन करने जाना निष्फल नहीं गया तथा उन्होंने उस लघुवय में ही दीक्षा लेकर दर्शन का पूरा लाभ उठा लिया।

ऐवन्ताकुमार, ऐवन्त मुनि बन गये। किन्तु बालक ही तो थे अतः चातुर्मास

काल में एक दिन जंगल की ओर से लौटते समय उन्होंने सड़क पर भरे हुए पानी के आस-पास हाथों से मिट्टी की पाल बनाई और उस पानी में अपने छोटे से काष्ठ के पात्र को नाव मानकर छोड़ दिया। और पात्र तैरने लगा।

कुछ समय पश्चात् ही जब ऐवन्ता मुनि के साथ जो अन्य सन्त थे वे उस स्थान पर आ पहुँचे और देखते क्या है कि काष्ठ का पात्र रोके हुए पानी में आराम से तैर रहा है और बाल-मुनि ऐवन्ता 'नाव तिरिरे मेरी नाव तिरिरे! गाते हुए हर्ष से तालियाँ बजा रहे हैं।

यह दृश्य देखते ही मुनि-कृन्द उलटे पैरों चले और भगवान से इसकी शिकायत की। कहा — “आपने ऐवन्तामुनि को सिर पर चढ़ा रखा है। क्या ऐसा कार्य एक साधु के लिए उचित है?”

बन्धुओ! आप सोचते होंगे कि संभ्रातः भगवान महावीर ने ऐवन्ता मुनि को सचित पानी का स्पर्श और उसमें पात्र को तैराने के अपराध के लिए ताड़ना दी होगी। नहीं, भगवान ने ऐसा नहीं किया। क्योंकि वे जानते थे कि ऐवन्ताकुमार मुनि होने के बावजूद भी बालक थे और बालक से अज्ञानवश जो गलती होती है, उसके पीछे गलती की भावना नहीं होती।

वास्तव में तो पापों का मूल भावना है। अगर व्यक्ति के मन की भावनाएँ पापमय हैं तो वह बिना पाप किये भी पापी है, और भावना में पाप नहीं हैं तो वह निष्पाप है। कहा भी है :—

‘मनसैव कृतं पापं, न शरीरकृतं कृतम्।’

— पाप शरीरकृत नहीं, मनस्कृत ही होता है।

स्पष्ट है कि बालक को उसके अपराध के लिये डाँटना-फटकारना या प्रताड़ित करना ही उलटा मनुष्य के लिये पाप का कारण बनता है। क्योंकि ताड़ना के कारण बालक का आत्म-विश्वास नष्ट होता है तथा उसके मन पर निराशा की गहरी चोट लगती है। उनकी भूल को तो सही कार्य करने की प्रेरणा देकर ही सुधारा जा सकता है। तथा उत्साह दिलाकर! उनकी आत्मशक्तियों का विकास किया जा सकता है।

भगवान महावीर ने ऐवन्तामुनि की भूल को भी इसी प्रकार सुधारा। साधु ही अन्य मुनियों को चेतावनी दी — “बाल-मुनि होने के कारण भले ही यह भूल करता है, किन्तु इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा। अगर तुम लोगों को भी आत्म कल्याण करना है तो ईर्ष्या, द्वेष त्यागकर अपने मार्ग पर बढ़ो!”

ऐवन्ताकुमार के इस शास्त्रोक्त उदाहरण से जाहिर हो जाता है कि बालकों का हृदय कितना सरल, निष्कपट और दर्पणात् स्वच्छ तथा गुणग्राही होता है। जिस प्रकार साफ दर्पण पर प्रत्येक प्रतिबिम्ब स्पष्ट उद्दिगोक्त होता है या दर्पण उस प्रतिबिम्ब

को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार बालक का हृदय भी प्रत्येक गुणावगुण को ग्रहण करता है। ऐवन्ताकुमार में माता-पिता के डाले हुए उत्तम संस्कार ही थे, जिनके कारण उसमें अतिथि को अपने घर लाने की भावना हुई तथा भगवान महावीर के दर्शन करते ही साधु बनने की इच्छा जागी।

आठ वर्ष की कच्ची उम्र में स्रग्गो प्राप्त करते ही उसका पूर्णतया लाभ उठाया। एक कहावत है :—

‘बूढ़े तोते राम-राम नहीं पढ़ते।’ अर्थात् अगर उन्हें राम-राम बोलना सिखाना है तो उनकी लघु वय में ही सिखाना पड़ेगा।

इसी प्रकार अगर बालक का भाविष्य उसके माता-पिता को उज्ज्वल बनाना है तो उसके लिए उसकी बाल्यावस्था में ही प्रयत्न करना पड़ेगा। बड़ा हो जाने के बाद वह माता-पिता की शिक्षाओं और संस्कारों को ग्रहण नहीं कर सकेगा। इसके अलावा अगर बाल्यावस्था में ही उत्तम संस्कार बालक के हृदय में घर कर गए तो कभी गलत मार्ग ग्रहण कर लेने पर भी तनिक सा संयोग पाते ही वह फौरेन चेत जाएगा।

कैसे लोग हैं वे ?

शेखसादी जब छोटे थे, अपने पिता के साथ एक बार मक्का हज करने के लिये जा रहे थे। पिता के साथ पूरा काफिला था। काफिले का नियम था — आधी रात को उठकर प्रार्थना अवश्य करना।

शेखसादी भी इस नियम का बराबर पालन करते थे। पर वे प्रायः देखते थे कि कुछ व्यक्ति समय पर उठकर प्रार्थना नहीं करते।

इसलिए एक दिन आधी रात को सादी ने अपनी प्रार्थना के बाद भी लोगों को सोते हुए देखकर पिता से कहा —

“पिताजी! ये लोग कितने आतस्वी हैं? देखिये, न समय पर उठते हैं और न प्रार्थना ही करते हैं।”

पुत्र की बात सुनकर पिता ने झोड़ा फटकारते हुए कहा — “अरे बेटा! सादी! तू भी न उठता तो अच्छा होता। जल्दी उठकर दूसरों की निन्दा करने से तो न उठना ही बेहतर था।”

पिता की बात सुनते ही शेखसादी चेत गए और उसी क्षण उन्होंने जीवन भर के लिये किसी की भी निन्दा न करने का व्रत ले लिया।

समय का मोल

संस्कारशीलता का प्रभाव ऐसा उगे होता है। एक ही चेतावनी सुसंस्कारी को सही मार्ग पर ले आती है। इसलिये बालक को समय पर संस्कार युक्त बनाना

माता-पिता का प्रथम कर्तव्य है। मुझे एक औरर कहावत याद आ गई। जिसमें कहा गया है — “लोहा गरम है, तब तक उसे पीटो।”

शब्दार्थ तो इसका यही है कि लोहा गरम होने के समय ही पीटकर इच्छानुसार आवृत्तियों में ढाला जा सकता है। अतः उसे गरम रहने तक ही पीट-पाट कर उसकी जो वस्तुएँ बनाना हो, बनालो। ठंडा होने पर फिर वह किसी भी रूप में ढल नहीं सकेगा।

पर भावार्थ है — समय रहते ही काम करलो अन्यथा फिर वह कार्य नहीं हो सकेगा। बालकों के लिये भी यही बात लागू होती है। उन्हें बनाने का समय उनकी बाल्यावस्था है। उस समय इच्छानुसार उनके चरित्र को ढाला जा सकता है। अगर वह समय बीत चुका तो फिर उनको बनाने की आशा नहीं है।

भविष्य की झांकी

बालकों के संस्कार कैसे हैं, यह उनके बातचीत और खेल-कूद से सहज ही जाना जा सकता है। संत कहते हैं :—

“छापाखाचे होन खेलती लेकुरे, कामः या व्यापारे लाभ हानि?”

बच्चों का जीवन भविष्य में कैसा बन्ने वाला है यह उनके बचपन में ही जान लिया जा सकता है। किसी बच्चे में शासन करने की योग्यता और आत्म-विश्वास होता है, तो वह अपने हमजोरियों का राजा बन जाता है। और कहता है — “अपराध करोगे तो तुम्हें अपने सिपाहियों से पकड़वा मैंगाऊँगा और कड़ी सजा दूँगा।

अरे भाई! वह कब राजा बना? और कहां है उसकी सेना? कैसे वह मुजरिम को पकड़वा कर मैंगाएगा और क्या सजा देगा! पर वह उसके भविष्य की सूचना है कि वह सत्ताधिकारी बनेगा। अभी तो केवल उसका आत्म-विश्वास बोलता है।

दूसरे, खेलने वाला अगर किसी व्यापारी का लड़का है तो वह मिट्टी का ढेर लगाकर कहेगा — “मैंने दुकान खोली है किसी को कुछ लेना हो तो आ जाओ!”

अब माल उसकी दुकान पर क्या है? केवल मिट्टी, पर बालक अपनी कल्पनानुसार उसे चावल, दाल और काजू क्रिसमिस मान लेता है। तथा फूटे घड़े की गोल-गोल ठीकियों को पैसा समझकर दूकान चालू कर देता है। साथी ग्राहकों को वह मिट्टी का माल देता है और स्वयं ठीकियों के पैसे लेता है। तो बताओ, अब उन देने और लेने वालों को क्या नफा या नुकसान हुआ? कुछ भी नहीं उनका तो एक खेल है, और खेल ही खेल में उन्होंने अपनी प्रवृत्ति का परिचय मात्र दिया है।

अब उस परिचय को सही मार्ग देना अथवा उनकी प्रवृत्तियों को सही सांघे

में ढालना माता-पिता का कार्य है। बालक की प्रथम पाठशाला मां की गोद होती है। अतः मां का महत्व बालक के निर्माण में अधिक महत्वपूर्ण साबित होता है। महाराज मनु ने कहा भी है :—

उपाध्यायन्द्वाचार्या आचार्योणां शतं पिता ।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

अर्थात् — दस उपाध्यायों रं एक आचार्य श्रेष्ठ है। सौ आचार्यों से एक पिता अधिक उत्तम शिक्षक है तथा हजार पिताओं से भी एक माता की शिक्षा अधिक गौरवशाली है।

एवंताकुमार ने भी गौतमस्वामी के निकट अपनी माता की ही प्रशंसा तथा सराहना की थी। स्पष्ट है कि संस्काराती माता का पुत्र ही सुसंस्कारी बन सकता है। अगर वह चाहे तो अपने शिशु को क्रीड़ा कराते हुए भी धर्म, नीति और सदाचार का पाठ पढ़ा सकती है, उसे सत्यवादी, सद्बिचारशील और अहिंसा का पुजारी बना सकती है तथा भविष्य में देश के महान और आदर्श नागरिक बनने के लक्षण उसमें पैदा कर सकती है।

खेद की बात है कि अनेक अशिक्षित नारियाँ बालकों के मानस की परख न कर पाने के कारण स्वयं भी पश्चान होती हैं तथा बालकों को भी परेशान करती हैं। हाऊ, बाबा या सिपाही ला उर दिखाकर उन्हें कमजोर, डरपोक और आत्म-विश्वास रहित बना देती हैं।

यह उनकी महान् भूल है। बालकों की शरारतों को सुधारने का भी कोई सुन्दर तरीका अपनाना चाहिए। मैंने देखा है — पाथर्डी स्कूल में जो बालक पढ़ते थे उनमें से अगर कोई विद्यार्थी अधिक शैतानी करता तो उसे क्लास का मॉनीटर बना दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि शरारती छात्र जब दूसरे शरारतियों को उनकी शैतानियों के लिए दंड देता तो फिर वही शरारतें स्वयं कैसे करता? अर्थात् उसकी शरारतें करना बन्द हो जाता था।

कितना सुन्दर तरीका था छात्रों के दोषों को हटाने का? इसी प्रकार प्रत्येक शिशु की भूलों को सुधारने का कोई सुन्दर तरीका माता-पिता को अपनाना चाहिये।

तो बन्धुओ, आप समझ गये होंगे कि शैशवकाल जीवन का कितना सुनहरा और महत्वपूर्ण समय होता है। अगर विचारशील माता-पिता शैशवावस्था में ही शिशु को संस्कार युक्त बनाएँ तो वही बालक बड़ा होकर अपने कुल समाज और देश के गौरव को ऊँचा उठा सकता है तथा उद्यकोटि का जीवन व्यतीत कर अपने दोनों लोकों को सुधार सकता है।

[३८]

नेकी कर कूँ में डाल !

धर्म प्रेमी बन्धुओ माताओ एवं बहनो !

प्रत्येक मानव की आकांक्षा यही होती है कि संसार के सब व्यक्ति उसकी प्रशंसा करें, सराहना करें और मरने के बाद भी उसे स्मरण करें, अर्थात् वह अमर हो जाय।

पर यह क्या सरल बात है? क्या उनके चाहने से ही ऐसा हो जायेगा? नहीं, अमर होने के लिए सर्वप्रथम उर्ध्व अपनी इस चाह का अन्त करना होगा और उसके पश्चात् 'नेकी कर कूँ में डाल' कहावत को चरितार्थ करना पड़ेगा।

इसका आशय आप समझ ही गए होंगे कि जो व्यक्ति नेकी के कार्य करता है उन्हें औरों के ऊपर किया गया एहम्रान न मान कर अपना कर्तव्य मानता है, वही संसार में प्रशंसा प्राप्त करता है तथा अपना नाम अमर कर जाता है।

नेक भावनाओं का जन्म कब होता है?

मैं देखता हूँ कि आप प्रतिदिन एक बड़ी संख्या में यहां इकट्ठे होकर शास्त्र श्रवण करते हैं, धर्मोपदेश सुनते हैं। पर, भावनाएँ सबकी भिन्न भिन्न प्रकार की होती होंगी। कुछ व्यक्ति इसलिये यहाँ आते होंगे कि गाँव में महाराज विराजमान हैं, अगर व्याख्यान सुनने नहीं गए तो लोग क्या कहेंगे? कुछ व्यक्ति यह सोचकर आते होंगे कि व्याख्यान सुनना अच्छी बात है। और थोड़ी देर अच्छे कार्य में समय बिता कर वे आत्म-संतुष्टि का अनुभव करते हैं। कुछ व्यक्तियों का स्वभाव होता है कि वे अपने व्यक्तित्व की छाप औरों पर डालना चाहते हैं, और इसीलिए यहां आते हैं कि लोग उन्हें धर्मात्मा समझें। कुछ व्यक्ति महाराज के प्रिय-पात्र बनने के लोभ से भी आते हैं।

इस प्रकार मैं सोचता हूँ कि यहाँ आने वाले व्यक्ति अपनी भिन्न-भिन्न भावनाओं को लेकर यहाँ उपस्थित होते हैं। ऐसे व्यक्ति तो इन-गिने ही होंगे जो यहाँ बताई गई बातों को अर्थात् जिन-वचनों को आत्म-कल्याण के लिये अनिवार्य मानते होंगे तथा उन्हें ग्रहण करके ही लौटते होंगे।

किन्तु जो वास्तव में ऐसा करते होंगे, मैं समझता हूँ कि उन्हीं का धर्म-श्रवण करना सार्थक हो सकेगा। धर्मशास्त्र के श्रवण का सच्चा लाभ तभी हासिल होता

है, जबकि श्रद्धा-पूर्वक श्रवण किए को जीवन में भी उतार जाय और जिस दिन ऐसा करने की प्रवृत्ति हृदय में जागती है, उसमें नेक भावनाओं का जन्म होने लगता है।

धर्म क्या कहता है?

धर्म-शास्त्रों, पुराणों और धर्म ग्रन्थों में मुख्य रूप से दो ही बातें आपके समक्ष आती हैं। एक धर्म और दूसरी अधर्म। धर्म करने से आत्मा को सुख प्राप्त होता है तथा अधर्म करने से उसे दुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार धर्म और अधर्म पर ही धर्म-शास्त्रों की रचना हुई है। दूसरे शब्दों में नेकी और बदी, भलाई और बुराई, उपकार और अपकार इन्हीं दो बातों की मुख्यता धर्म-ग्रन्थों में आपको मिलेगी और वही यहाँ सुनाया जाता है। एक ही बार नहीं, आपको बार-बार नेकी से होने वाले लाभ और बदी से होने वाली हानि के विषय में समझाया जाता है।

हम सोचते हैं कि जिस प्रकार —

कत करत अभ्यास के, जइसति होत सुजान।

रसरी आवत-जात ते सिल पर परत निसान॥

इस प्रकार सुनते-सुनते अगर आपके दिल पर असर हो गया तो आपका जीवन सार्थक हो जायगा। और किसी दिन बात लग गई तो हमारा रोज-रोज कहना भी फल-प्रद बन जाएगा।

पर यह कब होगा? यह हम नहीं कह सकते। किस क्षण, किस दिन, किस वर्ष और किस भव में किस प्राणी की भवस्थिति पकेगी यह अंदाज नहीं लगाया जा सकता।

जब तक पुण्योदय नहीं होता तब तक तो धर्म की बातें भी मन को नहीं रुचतीं। दिखावा और बात है उससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता, मले ही पाखंडी पुरुष दूसरों की निगाहों में अपने आपको कितना भी श्रेष्ठ साबित क्यों न कर ले। वाल्मीकि रामायण में कहा भी है :—

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः।

लक्षणवदलक्षण्यो दुःशील :- शीलवानिव॥

पाखण्डी मनुष्य अनार्य होकर भी आर्य के समान मालूम हो सकता है। शौचाचार से हीन होकर भी अपने को परम शुद्ध रूप में प्रकट कर सकता है, उत्तम लक्षणों से शून्य होकर भी सुलक्षण-सा दिखाई दे सकता है और बुरे स्वभाव का होकर भी दिखाने के लिए सुशील के समान आचरण कर सकता है।

तो मैं यही कह रहा था कि दिखावटी रूप में मनुष्य चाहे जैसा अपने

आपको प्रदर्शित करे, पर वास्तविक रूपों में तो बिना पुण्योदय के उसे जिन-वचन नहीं रुचते, वे सोचते हैं — 'सन्त तो व्याख्यान देते ही रहते हैं। उनका काम ही यह है।'

अरे भाई! सन्त क्या यों ही आप्नी शक्ति का अपव्यय करते हैं? उनके पास क्या कोई दूसरा काम नहीं है? सचाई से देखा जाय तो आपका जो सांसारिक कार्य है, वह तो इस जन्म के लिए ही आपको फल देगा। और सम्भव है न भी दे सके क्योंकि आपके व्यापार में आपको घाटा-नफा होता ही रहता है।

किन्तु सन्तों का कार्य तो उन्हें अनेक जन्मों तक भी फल प्रदान करता है तथा उसमें घाटे का भी काम नहीं है। फिर आप सन्तों के उपदेश को मात्र समय का उपयोग करना कैसे मानते हैं? उन्हें स्वयं इससे क्या लाभ है? क्या वे उस समय को उपदेश देने की अपेक्षा आत्म साधना में नहीं लगा सकते? जिससे कि उनको अनेक गुना अधिक लाभ हो सकता है।

सन्त तो आपकी भलाई के लिए ही कहते हैं। संसार के समस्त प्राणियों पर उनकी अनुकम्पा होती है इसलिए, कि व्यवहार में भी आपका और हमारा पारम्परिक सम्बन्ध है। आप भी हमारे साथी और सहायक हैं। ऐसी स्थिति में अगर आप मोह-निद्रा या प्रमाद की तन्त्रा में पड़े रहें और जैसा कि मैंने पहले आपको बताया था धर्म रूपी अमूल्य रत्न को इन्द्रिय विषय रूपी चोर चुराते रहें तो क्या हमारा फर्ज आपको जगाने का नहीं है? क्या भ्रष्टाचार की ओर जाते हुए आपके मन को नेकी के रास्ते पर नहीं लाना चाहिए? नेकी के रास्ते पर न चलने वालों को जीवन के अन्त में क्या हाथ लगता है, यह शायद आप नहीं जानते। एक उदाहरण से इसे आपको समझाता हूँ। फ़रसी के शायर ने कहा है :—

“कारूँ हिलाक शुद के ज़हल खाना गंज दोरेत।”

कवि ने इसमें बताया है — मिश्र देश का राजा था। जिसका नाम कारूँ था। कारूँ बादशाह के पास अपार वैभव था। तारों और उसके खजाने की शोहरत फैली हुई थी।

आज भी अगर किसी को अचानक और कोई अत्यधिक लाभ हो जाता तो लोग कहते हैं — “कारूँ का खजाना प्राप्त हो गया।” यह एक कहावत ही उसके नाम से चल पड़ी है।

कहा जाता है कि उसके पास चालीस खजाने थे, और एक-एक खजाने में चालीस-चालीस कोठरियाँ थीं। उन सम्स्त कोठरियों के तालों की चाबियाँ इतनी वजनदार थीं कि उन सबका बोझ एक ऊँट ही उठा सकता था।

आज भी हम पुराने तालों की लम्बी-लम्बी चाबियाँ देखते हैं तो लगता है कि वर्तमान में बनने वाले तालों की चाबियाँ उनके मुकाबले में कुछ भी नहीं

हैं। यही हाल आज के मकानों और दीवानों का भी है। अर्थात् पुराने समय में मकान सुरक्षा की दृष्टि से मजबूत बनाये जाते थे आज के समान दिखावे की दृष्टि से नहीं।

तो मिश्र का बादशाह कारूँ जब अपनी गद्दी पर था, उस समय देश में भयंकर अकाल पड़ा। लोग भूखों मरने लगे। अनेक व्यक्ति अपने बादशाह के पास दौड़े गये और उनसे प्रार्थना की — “हुजूर! हम लोग भूखों मर रहे हैं। आप सम्राट् हैं! अपनी प्रजा की रक्षा कीजिये तथा अनाज के कोठों में से थोड़ा-थोड़ा हमें दिलवाइये ताकि हम जिन्दा रह सकें।”

किन्तु बादशाह ने क्या उत्तर दिया? नकारात्मक रूप में गर्दन हिलादी और कहा — ‘खजाने भरे पड़े हैं तो क्या वे तुम्हारे लिए हैं? उनमें से एक दाना भी तुम्हें नहीं मिलेगा। “तुम जियो तो मेरी बला से और मरो तो मेरी बला से। यहाँ से निकल जाओ!”

धन के लालच में अंधा बना हुआ कारूँ यह भूल गया कि राजा प्रजा के पिता के समान होता है। उसका सर्वप्रथम कर्तव्य प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करना ही है। प्रजा के बहते हुए आँसू भी उसके हृदय को पिघला नहीं सके, और उसने एक पाई भी प्रजा-हित के लिए नहीं निकाली और एक दाना भी किसी मरते हुए प्राणी को नहीं दिया।

किन्तु उसके अपार धन से आखिर क्या लाभ हुआ? एक बार उसी मिश्र की मूषा नामक नदी में भयंकर बाढ़ आ गई और अपार धन का स्वामी कारूँ अपने खजाने समेत बह गया। न धन उसको मरने से बचा सका और न ही वह अपने धन की रक्षा कर सका। केवल हाय-हाय करते हुए मरना ही उसके हाथ आया और अनन्त कर्मों का बंध करके दुर्गति में जाना पड़ा।

समचरित मानस में कहा भी है :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

जो राजा अपनी प्रजा को दुखी रखता है, वह अवश्य ही नरक का अधिकारी बनता है।

बादशाह कारूँ धन समेत बाढ़ में बह गया पर अपने हाथोंसे धन के द्वारा नेकी का कोई कार्य नहीं कर सका। धन की गतियाँ तीन होती हैं — दान, भोग, और नाश।

धन का सर्वोत्तम उपयोग उसका दान करना है। दीन-दुखियों की सेवा में लगाना और अमावशस्त प्राणियों के अभाव को दूर करना ही धन का सच्चा सदुपयोग करना है। दूसरा उपयोग उसका भोग करना है। जो कि प्रायः व्यक्ति करते ही हैं। पर जो सूम व्यक्ति यह भी नहीं कहते, अर्थात् न दान देते हैं और न धन

का स्वयं ही उपयोग करते हैं, उसका फिर किसी न किसी प्रकार से नाश ही होता है। एक गुजराती कवि ने मधुमक्खी का उदाहरण देते हुए यही बात सरल ढंग से समझाई है। कहा है :—

माखी थई मधु कीधु, नथी खाधुं नथी दीधु,
लुटनहारे लूटी लीधुं रे पामर प्राणी।
चेते तो चेतावुं तोने रे! गमर प्राणी॥

कवि ने कहा है — “मधुमक्खी अनेक फलों का रस इकट्ठा करके उसे शहद के रूप में परिणत करती है। पर न उसे स्वयं खाती है और न दूसरों को ही खिलाती है। परिणाम यह होता है कि जब छत्ता विशाल हो जाता है और उसमें बहुत सा मधु इकट्ठा हो जाता है तो हिसक मनुष्य आकर उसके नीचे अग्नि जला देते हैं और उसके धूँ से सारी मक्खियों को उड़ाकर सास शहद लूट ले जाते हैं।”

“मूर्ख प्राणी! अगर तू अपना भला चाहता है तो मधुमक्खी के समान केवल धन इकट्ठा करने में ही मत रह! उसको नेक कामों में लगा कर पुण्य संचय कर! मेरी तुझे यही चेतावनी है। चेत नके तो चेत जा!”

बन्धुओ, आप समझ गए होंगे कि बादशाह कारुण ने अपने जीवन में कितनी भयंकर भूल की। अगर वह चाहता तो अपने विशाल खजाने को नेक कार्यों में लगाकर पुण्य-कर्मों का संचय करने के साथ ही अपने नाम को सुनाम कर जाता। और लोग आज भी उसे दानी कर्ण, होशचन्द्र, भामाशाह और जगद्गुहा के समान आदर और प्रशंसा के साथ स्मरण करते।

आप कहेंगे कि उसे स्मरण तो अभी भी सब करते हैं। पर नहीं, स्मरण करना उसी के लिए सार्थक है जिसे लोग नेक व्यक्ति के रूप में स्मरण करें, और श्रद्धा से उसके समक्ष नत-मस्तक हों। अन्यथा स्मरण तो रावण को भी किया जाता है। पर कैसे? अन्याय और अत्याचार के प्रतीक के रूप में उसका पुतला जलाकर उसके नाम पर धू-धू करके। इस प्रकार का स्मरण करना किस काम का? स्मरण करना कहलाता है, महार्यार, बुद्ध, कृष्ण, राम और ईसामसीह जैसे महापुरुषों का।

नेकनामी का परिणाम

फारसी कवि ने कुख्यात बादशाह कारुण का जिक्र करने के बाद आगे कहा है :—

“नौशेरवां न मुर्द के नामे ने को गुजाश्त।”

नौशेरवां ईरान का अन्तिम अहिंसापूजक फारसी बादशाह था। वह भी अब इस दुनियाँ में नहीं है किन्तु उसकी नेकनामी और सुकीर्ति आज भी विद्यमान है। उस नेक बादशाह ने अपनी प्रजा का पालन संतानवत् किया। गरीबों की पुकार

को कभी अनसुना नहीं किया तथा दुखी व्यक्तियों की भलाई में ही अपना जीवन गुजारा। नौशेरवाँ के जीवन की नेकनामियाँ ही आज उसके नाम को चार-चौद लगा रही हैं। उसके नाम की खुशबू आज भी ज़रों की त्यों बनी हुई है, और वह कैसी है इसके लिए शायर ने कहा है :—

बस ! नाम वर बजरे जमींदार कर दाँ अंद।

कज हस्तिमश वरु जमी बः नशां न मौद॥

कहते हैं — नौशेरवाँ बादशाह को भी जमीन में दफनाया गया और एक बुढ़िया जो थी, उसे भी मरने पर जमीन में दफनाया।

दफनाये दोनों ही उसी जमीन में गए तथा इस नश्वर देह का अंजाम दोनों का एक सा हुआ। क्योंकि यह मिट्टी वहाँ पिट तो चाहे राजा का हो या रंक का, एक ही गति को प्राप्त होता है। जैसा कि किसी ने कहा है —

कितने मुफलिश हो गए, कितने तबंगर हो गए।

खाक में जब मिल गए, दोनों बराबर हो गए॥

अर्थात् — मर जाने के पश्चात् अमीर की और गरीब की, भले आदमी की और बुरे आदमी की देह में कोई अन्तर नहीं रहता। खाक में मिल जाने पर दोनों के शरीर की कोई भी निशानी वहाँ मौजूद नहीं होती। रहता है केवल नाम। अगर व्यक्ति भले काम कर जाता है तो उसे सभी स्मरण करते हैं। नौशेरवाँ का नाम भी आज इसीलिये अमर है।

जिंदास्त नामे फरख नौशेरवाँ बअदल,

गरचे बसे बबुजिस्त के नौशेरवाँ न मौद।

नौशेरवाँ बादशाह के दिल में एक बार आया कि मेरा वर्तमान राजमहल छोटा है, अतः एक विशाल राजमहल का निर्माण कराऊँ।

स्वामाविक ही है जिसके पास चार ईसे होते हैं उसके मन में उसे खर्च करने की तथा अपना नाम मशहूर करने की भावना होती है और उसका अंजाम होता है — मकान बनवाना, बाग-बगीचे लगवाना या सैर-सपाटे करना।

तो बादशाह के मन में जैसे ही यह भावना आई, एक लम्बा-चौड़ा स्थान राजमहल बनवाने के लिये चुन लिया गया। पर उस स्थान में अनेक व्यक्तियों के मकान थे। अतः वे कैसे हटाये जाते ?

बादशाह ने उसके लिये भी अत्यन्त उदारभाव से घोषणा करवादी कि प्रत्येक मकान की एवज में उसका स्वामी जितना चाहे मूल्य ले ले और मूल्य न चाहे तो उससे कई गुनी अधिक जमीन ले ले। बादशाह ने अपने कर्मचारियों को कड़ी हिदायत करदी कि किसी से भी जबर्दस्ती न की जाय और अनीति भी न बरती

जाय। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णतया सन्तुष्ट करके ही उनके मकानों को राजमहल बनवाने के लिये तुड़वाया जाय।”

बादशाह की अत्यधिक उदारता के कारण, मकान मालिकों ने प्रसन्नता पूर्वक अपने-अपने मकान राजमहल बनाने के कारण खाली कर दिये। किन्तु एक बुद्धिया अपनी झोंपड़ी देने के लिये तैयार नहीं हुई। कर्मचारियों ने उसे लाख समझाया पर वह न मानी।

बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उन्होंने भी बुद्धिया से प्रेमपूर्वक कहा — “अम्मा! तुम्हारी झोंपड़ी राजमहल के बीच में आती है अतः इसे हटा लो। तुम्हें मुँहमांगी कीमत दूँगा। और कीमत नहीं चाहिये तो जितनी कहोगी जमीन दे दूँगा।”

पर बुद्धिया ने तो वही टका-सा उत्तर दे दिया — मैं न इस झोंपड़ी को बेचना चाहती हूँ, और न छोड़ना चाहती हूँ। तुम्हें जैसा अपना राजमहल प्यारा है, वैसी ही मुझे अपनी झोंपड़ी प्यारी है।”

आज के युग में अगर कोई ऐसा उत्तर दे देता तो क्या होता? जब हम निजाम स्टेट में विचरण करते थे, तब सुना था कि वहाँ पर अनाज रखने के लिये भी लोगों से मकान जबर्दस्ती खाली करवा लिये गये थे।

पर नौशेरवाँ बादशाह सही मायने में बादशाह था, उसने बुद्धिया के इन्कार कर देने पर जोर जबर्दस्ती नहीं की और कहा — “ठीक है, अगर तुम्हारी इच्छा नहीं है तो झोंपड़ी राजमहल के बीच में ही रहते दो!”

कुछ समय पश्चात् राजमहल बनकर तैयार हो गया। और बुद्धिया की झोंपड़ी भी वहीं बरकरार रही। एक दिन बादशाह ने उससे पूछा — “क्यों बूढ़ी माँ! तुम्हें कोई तकलीफ तो यहाँ नहीं है?”

बुद्धिया ने उत्तर दिया — ‘मुझे तो कोई तकलीफ नहीं है। पर मेरी गाय इधर-उधर कहीं गोबर या मूत्र कर देती है तो सिपाही मुझे परेशान करते हैं।’

बादशाह ने जब यह सुना तो फौज सिपाहियों को बुलाया और उन्हें फटकारा — “तुम इस बूढ़ी माँ को क्यों परेशान करते हो? गाय जानवर है। इधर उधर घूमते हुए अगर वह कोई स्थान गंदा कर दे तो तुम साफ कर लिया करो। आखिर तुम लोग हो किसलिये?”

कितनी महानता थी नौशेरवाँ में! कितनी करुणा, कितनी दया तथा कितनी न्यायप्रियता थी उसमें? जिसकी झोंपड़ी ने राजमहल का नक्शा ही बिगाड़ दिया था उस बुद्धिया के साथ भी उन्होंने धनीति और अन्याय नहीं किया। इसलिये कवि ने कहा है — “इन्साफ - नीति के साथ रहने के कारण नौशेरवाँ बादशाह का नाम आज तक जिन्दा है। मर जाना के बाद बादशाह भी दफनाया गया और

बुढ़िया भी दफनाई गई पर दोनों के नाम के साथ अच्छाई और बुराई अलग-अलग जुड़ी रही।

बंधुओं, इसीलिये हमारा कहना है कि सदा नेक कार्य करो और वह भी निस्वार्थ भाव से करो। यह जीवन तो क्षण-भंगुर है। किसी भी दिन नष्ट हो जाएगा। इसके लिये किसी प्रकार का गर्व करना या अपने धन का अहंकार रखना, दोनों ही कृथा हैं।

अनर्थकारी अहंकार

एक बार निजाम स्टेट में हमारा जातुर्मास हुआ। वहाँ एक सत्य घटना सुनने में आई थी। निजाम स्टेट के कलम नामक गाँव में एक अत्यन्त धनी गृहस्थ रहता था। उसके एक ही लड़की थी। इकलौती पुत्री होने के कारण पिता ने उसका सम्बन्ध करने के लिए बड़ी खोजबीन की, और तब उसका रिश्ता पक्का किया।

लड़के वाले भी अत्यन्त सम्पन्न थे और संयोग से उनका भी लड़का एक ही था। रिश्ता कर लेने के बाद लड़के वालों के दिल में विचार आया — 'कौन जाने लड़की वाले हमारी इतनी बड़ी बारात की व्यवस्था कर सकेगा या नहीं?'

यह विचार आने पर लड़के के पिता ने पाव भर राई लड़की के पिता को भेजी। उसका अर्थ था - राई में जितने दाने हैं, उतने ही बराती आएँ।

समझी के यहाँ से आई हुई राई का अर्थ कन्या का पिता समझ गया और सोचने लगा — "वे लोग मुझे समझते क्या हैं? क्या मैं कोई ऐसा-मैसा हूँ जो उनकी बारात की व्यवस्था नहीं कर सकता।" आखिर उसने उत्तर देने के लिये पाव भर खस-खस भेज दी। जिसका मतलब था कि पाव भर राई जितने तो क्या, पावभर खस-खस जितने भी आ जाओ तो मैं सबको सम्हालने का दम रखता हूँ। उत्तर पाकर लड़के वाले प्रसन्न हो गए।

उधर के लोग कहते थे कि विवाह के समय कन्या के पिता ने जैसी धूम-धाम से शादी की, हमने पहले कभी वैसी होते नहीं देखी। दो माइल तक तो उसने रेशमी की ही व्यवस्था की थी।

लड़की की माता ने अत्यधिक खर्च का बड़ा विरोध भी किया। कहा — "अपने यहाँ धन है तो क्या इस तरह आग लगाने के लिए है?"

पर घर मालिक तो ताव में आए हुए थे। घमंड में आकर सब धन फूँक दिया। हजारों व्यक्ति उस विवाह को देखने के लिये गए थे।

जातुर्मास काल में लोगों ने हमें भी वह मकान बताया। और कहा — "महाराज! यह मकान है खसखस भेजने वाले का। अब तो केवल एक वृद्ध इसमें रहती है और इस विशाल मकान के पत्थर बेच-बेचकर अपना गुजारा कर रही

है।”

अहंकार और दिखावे के वश मैं होकर लोग किस प्रकार अपनी बर्बादी कर लेते हैं यह इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को चेतावनी देने के लिए कहा जाता है :—

सुनरे सयाने तू गरूर क्यों करत एतौ,
हैं के अभिमानी हित। वेण नहि धारे हैं।
नीकापन यह तेरो द्वेष में बिनाशो जाय,
थिर ना रहेगा साज बाज ये तिहारे हैं।
देखत ही तेरे केलें धूर में मिले। जन,
अजहूँ ना नेक अभिमान को उतारे हैं।
कहे अमीरिख धारि के विनय गूल होहु
छोड़ी दे गरूर गुरुदेव। यों उचारे हैं।

पूज्यपाद श्री अमीरुषि जी महाराज कहते हैं — अरे अभिमानी! तू इतना घमंड क्यों करता है? मान के नशे में चूर होने के कारण तुझे दूसरों के द्वारा कही हुई हितकारी बात भी नहीं रुचती।

तेरे पास सम्पत्ति है तो उसका उपयोग तू होड़ा-होड़ में क्यों कर रहा है? इससे तुझे लाभ न होकर केवल शिनी ही तो होगी! प्रथम तो यह व्यर्थ नष्ट हो जायगी, दूसरे अहंकार के कारण तेरा जो नीकापन है, अर्थात् तुझ में जो अच्छाइयों और नेक काम करने की भावनाएँ हैं वे भी समाप्त हो जाएँगी।

‘इसलिए अब भी चेत जा, और अभिमान का सर्वथा त्याग करके अपने धन को नेक कार्यों में लगाकर पुण्य का अधिकारी बन! अगर तुझे होड़ ही करनी है तो अहंकार का पोषण करने में मत कर, पुण्य संचय में कर! संत तुझे यही शिक्षा देते हैं कि अहंकार का त्याग करूँ नम्रता धारण कर और एक नेक पुरुष बन!’

कहने का आशय यही है कि पाव सेर साईं भेजने वाले भी गये और खसखस भेजने वाले भी गये। रहा केवल वही, जो उन्होंने इस संसार में आकर किया प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार चला रहता है और अपने पीछे अपनी नेकनामी या बदनामी, छोड़ जाता है। नेकनामी और बदनामी क्या है यह आप जानते ही हैं।

जय किसकी?

राम और रावण एक ही समय में तथा कृष्ण और कंस भी एक ही काल में हुए। पर राम और कृष्ण का नाम कितने आदर और श्रद्धा से लिया जाता है? क्या कंस और रावण को भी लोग इसी प्रकार स्मरण करते हैं? नहीं, उलटे

प्रातःकाल में अगर कोई इनका नाम लेले तो भी बुरा माना जाता है।

प्रभात में उठते ही व्यक्ति 'जय राम जी की' किसी दूसरे के सामने बोलते हैं पर क्या कभी जय रावण की भी, कहते हुए सुना है? इसी प्रकार सुबह-शाम 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण!!' की रट तो सभी जगाते हैं, पर कभी कोई हरे कंस! एक बार भी कहता है? नहीं, क्यों नहीं कहता? इसलिये कि उन्होंने अपने जीवन में नेक कार्य नहीं किया। नीति और धर्म के अनुसार नहीं चले। जयकार केवल उसी का किया जाता है जिन्होंने अपने जीवन को धर्म-परायण बनाया, अहिंसा और सत्य के मार्ग पर चले, अनीति और अत्याचार का नाश करते हुए नीति और न्याय का प्रसार किया। तथा अपना समग्र जीवन अन्य प्राणियों की भलाई करते हुए व्यतीत किया।

संसार उन्हीं को स्मरण करता है, जिन्होंने बुराइयों में से भी अच्छाइयों खोजीं और दुर्जनों के साथ भी सुजनता का व्यवहार किया।

मैं सब को भला समझूँगा!

महात्मा बुद्ध के पूरण नामक एक शिष्य ने सुना पर प्रांत में जाकर धर्म प्रचार करने की आज्ञा बुद्ध से माँगी।

महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्य की श्रृज्जता की परख करने के लिये पूछा — 'वत्स! उस प्रान्त में बड़े क्रूर व्यक्ति रहते हैं! अगर वे तुम्हारी निन्दा करेंगे और तुम्हें दुर्वचन कहेंगे तो?'

"भन्ते! मैं यही सोचूँगा कि वे भले हैं जो मुझे पीट नहीं रहे हैं।"

"और अगर उन्होंने तुम्हें पीट दिया तो फिर तुम्हें कैसा लगेगा?" बुद्ध ने पुनः पूछा।

तब भी मैं उन्हें दयालु व्यक्ति मानूँगा। कि उन्होंने मुझे किसी शस्त्र से घायल नहीं किया अथवा जान से नहीं मारा।" पूरण ने नम्रतापूर्वक अपने गुरुदेव को उत्तर दिया।

"पूरण! अगर वे सचमुच ही तुम्हें जान लेने पर उत्तारु हो गए तो? बुद्ध का प्रश्न था।

"तब तो भगवन्! और भी अच्छा होगा। मैं समझूँगा कि यह रोगों का घर और नश्वर शरीर जल्दी ही धर्म प्रचार के काम में आ गया। मुझे संसार के दुखों को भी सहन करना नहीं पड़ेगा।"

शिष्य का उत्तर सुनते ही बुद्ध सन्तुष्ट होकर बोले —

"शाबास वत्स! मुझे तुमसे ऐसे ही श्रुतियों की आशा थी। अब तुम निःसंकोच होकर कहीं भी जा सकते हो। जो व्यक्ति किसी भी स्थिति में दूसरों को दोषी

नहीं मानता, वही सचा महापुरुष कहलाता है।

वास्तव में, नेक पुरुष का यही लक्षण है कि वह दूसरों के द्वारा प्रशंसा और सराहना किये जाने की कामना से रहित होकर संसार के प्राणियों की भलाई में जुटा रहे। इतना ही नहीं, अपने सञ्चार्यों के बदले में उसे लोगों से उपहास, गालियाँ, निंदा और शारीरिक यातनाएँ प्राप्त हों, तो भी वह अपने नेक कार्यों से मुँह न मोड़े तथा उन्हें अज्ञानी समझकर क्षमा करता जाय, तभी वह अपने नाम को और अपनी नेकनामी को सदा के लिये अमर और स्मरण करने योग्य बना सकता है।

बन्धुओ, आशा है कि आप भी नेकी के मार्ग पर चल कर नेकनामी हासिल करेंगे तथा अपने जीवन को सार्थक बनाएँगे।

● ● ●

● श्री रत्न जैन पुस्तकालय ●
अहमदनगर द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

१)	आनन्द प्रवचन भाग १ (हिन्दी)	३०-००
२)	आनन्द प्रवचन भाग २ (हिन्दी)	३०-००
३)	आनन्द प्रवचन भाग ३ (हिन्दी)	३०-००
४)	आनन्द प्रवचन भाग ४ (हिन्दी)	३०-००
५)	आनन्द प्रवचन भाग ५ (हिन्दी)	३०-००
६)	आनन्द प्रवचन भाग ६ (हिन्दी)	३०-००
७)	आनन्द प्रवचन भाग ७ (हिन्दी)	३०-००
८)	आनन्द प्रवचन भाग ८ (हिन्दी)	३०-००
९)	आनन्द प्रवचन भाग ९ (हिन्दी)	३०-००
१०)	आनन्द प्रवचन भाग १० (हिन्दी)	३०-००
११)	आनन्द प्रवचन भाग ११ (हिन्दी)	३०-००
१२)	आनन्द प्रवचन भाग १२ (हिन्दी)	३०-००
१३)	आनन्द प्रवचन भाग १ (मराठी)	२५-००
१४)	आनन्द प्रवचन भाग २ (मराठी)	२५-००
१५)	आनन्द प्रवचन भाग ३ (मराठी)	२५-००
१६)	आनन्द प्रवचन भाग ४ (मराठी)	२५-००
१७)	आनन्द प्रवचन भाग ५ (मराठी)	२५-००
१८)	आनन्द प्रवचन भाग ६ (मराठी)	२५-००
१९)	आनन्द प्रवचन भाग ७ (मराठी)	२५-००
२०)	आनन्द प्रवचन भाग ८ (मराठी)	२५-००
२१)	आनन्द प्रवचन भाग ९ (मराठी)	२५-००
२२)	भावनायोग (हिन्दी)	२०-००
२३)	तिलोक काव्य कल्पतरु भाग १	३०-००
२४)	तिलोक काव्य कल्पतरु भाग २	४०-००
२५)	तिलोक काव्य कल्पतरु भाग ३	३५-००
२६)	तिलोक काव्य कल्पतरु भाग ४	४०-००
२७)	आचार्य श्री आनन्दऋषिजी अ. ग्रंथ	१००-००
२८)	भावनायोग (मराठी)	१८-००
२९)	आनन्द सुक्ति सुधा भाग १	८-००

३०)	आनन्द सुक्ति सुधा भाग २।	१२-००
३१)	आनन्द सुक्ति सुधा भाग ३	१२-००
३२)	आनन्द सुक्ति सुधा भाग ४	१७-००
३३)	आगम स्वाध्याय माला	१५-००
३४)	स्याद्वाद सिद्धान्त एक अन्वेषीलन	१२-००
३५)	जैन पाठावली भाग १	३-००
३६)	जैन पाठावली भाग २	३-००
३७)	जैन पाठावली भाग ३	३-००
३८)	जैन पाठावली भाग ४	३-७५
३९)	जैन पाठावली भाग ५	३-७५
४०)	जैन पाठावली भाग ६	६-००
४१)	जैन पाठावली भाग ७	४-००
४२)	कन्या सुबोधिनी भाग १	२-५०
४३)	कन्या सुबोधिनी भाग २	३-००
४४)	कन्या सुबोधिनी भाग ३	३-००

● पुस्तकप्राप्ति स्थल ●

व्यवस्थापक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पुस्तक प्रकाशन विभाग

श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड

“आचार्य श्री आनन्दब्रह्मिजी महाराज मार्ग

अहमदनगर - ४१४००१

ज्ञातव्य :- १) पुस्तकों का ऑर्डर देते समय अपना पूरा पता तथा रेल्वे स्टेशन का नाम लिखना न भूलें। कृपया पिनकोड तथा रेल्वे का नाम जरूर लिखें।

४) आचार्यश्रीजी का साहित्य धानन्द प्रवचन भाग १ से १२ तक (हिन्दीमें) या भाग १ से ९ तक (मराठी में) या श्री तिलोकब्रह्मिजी के साहित्य (श्री तिलोक काव्य कल्पाक्षर भाग १ से ४ तक का) पर हरेक सेट लेनेपर २५% कमीशन दिया जाएगा।

3

4

54

86

57

...

...

87